डॉ. आद्याप्रसाद मिश्र

सुबोधिनी संस्कृतटीका सहितः

सदानन्दप्रणीतः

वेदान्तसारः

(संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहितः)

व्याख्याकार

डॉ० आद्याप्रसाद मिश्र

भूतपूर्व कुलपति

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद

अक्षयवट प्रकाशन

इलाहाबाद

वेदान्तसारः

व्याख्याकार :

डॉ० आंद्याप्रसाद मिश्र

प्रथम संस्करण : १९९९

मूल्य : विद्यार्थी संस्करण—चालीस रुपये
पुस्तकालय संस्करण—सौ रुपये

प्रकाशक :

अक्षयवट प्रकाशन

२६, बलरामपुर हाउस

इलाहाबाद—२११ ००२

मुद्रक :

शाकुन्तल मुद्रणालय

३८, बलरामपुर हाउस

इलाहाबाद—२११ ००२

आमुख

[illegible]मासो वुद्धिलक्षणम्' अर्थात् अपनी बात को संक्षेप में कह देना या रख देना बुद्धिमत्ता क[illegible] है। जहाँ अल्पबुद्धि पुरुष अपनी सामान्य-सी भी बात को ढेर-कुछ कहकर स्पष्ट क[illegible]हैं, वहाँ प्रज्ञावान् पुरुष अपनी बड़ी बात को भी थोड़े ही शब्दों में स्पष्ट कर देते [illegible]ंस्कृतभाषा-भाषियों में संक्षिप्त कथन की यह प्रवृत्ति विशेष रूप से देखने को मिलत[illegible]। शास्त्रग्रन्थों के लेखकों में तो यह प्रवृत्ति पराकाष्ठा पर पहुँची हुई देखी जाती है। न्य[illegible], वेदान्त आदि दर्शन-शास्त्रों में प्रतिपाद्य विषय की सूक्ष्मता एवं गहनता ग्रन्थकारों की इस प्रवृत्ति के कारण उन्हें बहुत अधिक दुर्बोध—गहनतर—बना देती है। इसी से इन शास्त्रों के ग्रन्थ हिन्दी या अँग्रेजी में किये गये शाब्दिक अनुवाद-मात्र से सुबोध एवं ग्राह्य नहीं हो पाते। एतदर्थ तत्प्रतिपादित विषयों या सिद्धान्तों की व्याख्या भी अपेक्षित होती है। किन्तु संस्कृत-काव्यों के सुप्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ की 'नामूलं लिख्यते किञ्चित्' प्रतिज्ञा को आदर्श मानकर किये गये अनुवाद से मूल-ग्रन्थकार के मन्तव्य या प्रतिपाद्य का जितना सही आकलन हो जाता है, उतना अन्यथा नहीं हो पाता। इसीलिये दर्शनशास्त्रों के ग्रन्थों को सुवोध बनाने के लिये अनुवाद एवं व्याख्या—दोनों ही समान रूप से अपेक्षित होते हैं।

परिव्राजक सदानन्द का वेदान्तसार अद्वैत वेदान्त के प्रमुख सिद्धान्तों को संक्षेप में जानने-समझने के लिए महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। शायद ही किसी अन्य ग्रन्थकार की कोई कृति इस विषय में इसकी बराबरी कर सके। इसी कारण से यह अद्वैत वेदान्त के जिज्ञासुओं के बीच सर्वाधिक प्रिय एवं प्रचलित पुस्तक है और इसी कारण से इसके अनेक संस्करण अँग्रेजी और हिन्दी अनुवाद एवं टिप्पणी इत्यादि के साथ हो चुके हैं। इनका विवरण आगे दिया गया है।

वेदान्तसार का, नृसिंहसरस्वती-कृत 'यथा नाम तथा गुणः' को चरितार्थ करने वाली संस्कृत टीका सुबोधिनी, प्रशस्त भूमिका, सटीक हिन्दी अनुवाद एवं विशद टिप्पणी के साथ प्रकाशित, प्रस्तुत संस्करण अपनी कई विशेषताओं के कारण इसके अध्येताओं में विशेष प्रिय होगा, ऐसा दृढ़ विश्वास है। सटीक अनुवाद से ही मूल का अर्थ पर्याप्त रूप से सुबोध बन गया है। तथापि 'वेदान्तो नाम उपनिषत्प्रमाणम्', 'ब्रह्मवित्त्वं तथा मुक्त्वा स आत्मज्ञो न चेतरः', 'एतेषां नित्यादीनां बुद्धिशुद्धिः परं प्रयोजनमुपासनानां तु चित्तैकाग्र्यम्... नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तयोपासनानां त्ववान्तरफलं पितृलोकसत्यलोकप्राप्तिः' जैसे सूक्ष्म विषयों को सुस्पष्ट करने वाले विशेषों के द्वारा खोलने का पूर्ण प्रयास किया गया है। इसकी भूमिका भी अद्वैत वेदान्त से सम्बद्ध अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों का उद्घाटन करने वाली है।

आशा है, वेदान्तसार का प्रस्तुत संस्करण अध्येताओं में विशेष लोकप्रिय होगा।

विजया दशमी, १९९९ | आद्याप्रसाद मिश्र

विषयावतरणिका

दर्शनशास्त्र

भारतीय मनीषियों के लिए मानव-जीवन सदा से ही एक बड़ी महत्त्वपूर्ण [illegible] हा है। वे इसे यों ही गवाँ देने की वस्तु नहीं समझते रहे हैं। इसकी उपयोगिता एवं प्रय[illegible]त्ता के सम्बन्ध में हमारे विचारशील पूर्वज सदा से ही जागरूक रहे हैं। हम कौन हैं, कहाँ से आये हैं, क्यों और किस लिए आए हैं, हमें क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए—इत्यादि प्रश्नों के सम्बन्ध में वे सदा से विचारते रहे हैं। प्रथम प्रश्न मानव के वास्तविक स्वरूप से सम्बद्ध है, द्वितीय उस स्वरूप के मूल स्रोत या उद्गम से, तृतीय जीवन के महनीय उद्देश्य से तथा चतुर्थ उस उद्देश्य की संसिद्धि के लिए अपेक्षित साधनों से। इस प्रकार भारतीय विचारकों का जीवन इन प्रश्नों के विविध विचारों एवं उनसे सतत प्राप्त होते रहने वाले नए-नए प्रकाश से नये मोड़ पाकर नए-नए ढंग से गतिमान् होता रहता था। जीवन की नई गति-विधि से, उसके नये आचार से जो नये अनुभव होते थे, उससे वे अपने विचारों में भी तोड़-मरोड़, परिवर्तन करते रहते थे। इस प्रकार उनके विचारों से उनके आचार तथा उनके आचार से उनके विचार सतत प्रेरणा पाते थे, प्रभावित होते थे; तथा विचार और आचार दोनों उनके जीवन को नई प्रेरणा और नया अर्थ दिया करते थे। यही दिव्य प्राचीन भारतीय जीवन था। प्राचीन काल के इस दिव्य भारतीय जीवन में विचारों की दृढ़ता तथा आचार की स्थिरता अवश्य थी, किन्तु साथ ही उसमें थी उसका सुदृढ़ परिचय देने वाली गतिमत्ता, जङ्गमशीलता तथा परिवर्तनशीलता। जीवन के विरोधी तथा मृत्यु के परिचायक भावों—बद्धता तथा अपरिवर्तनशीलता—का उसमें अभाव था। तभी वह इतना समृद्ध, इतना सुसंस्कृत, इतना उन्नत था।

विचार एवं आचार की एकरूपता के लिए होने वाला यह सतत प्रयास जीवन के प्रति भारतीय मनीषियों की तात्त्विक दृष्टि की ओर संकेत करता है। यह दृष्टि सत्य के अनुसन्धान की थी। सत्य क्या है?—इसे जानने के लिए प्राचीन मनीषी सदा ही उद्योगशील रहते थे। सतत चिन्तन से जो धारणायें बनतीं, जो विचार निश्चित होते, उनकी सत्यता का अनुभव या साक्षात्कार करने के लिए ही वे उसे आचार में उतारते थे, आचार के साथ उनका समन्वय करते थे। उनका यह ध्रुव विश्वास था और वह ठीक ही था कि मनुष्य जो कुछ आँखों से देखे, उसी को सत्य माने—"चक्षुर्वै सत्यम्"। चक्षुरिन्द्रिय तथा इससे होने वाला दर्शन यद्यपि मुख्यतः बाह्य वस्तुओं से ही सम्बद्ध है, तथापि लक्षणा से उद्धृत श्रुति में वह अनुभव-मात्र के लिए प्रयुक्त हुआ है। तात्पर्य यह है कि भारतीय सांस्कृतिक परम्परा

में जि[illegible] "दर्शन" कहते हैं, वह जीवन की प्रयोगशाला में अनुभव किया गया सत्य है, चाहे [illegible]-विषयक हो और चाहे साधन-विषयक। विभिन्न समयो में विभिन्न परिस्थितियों [illegible] विभिन्न मनीषियों द्वारा किए गए सत्य के अनुसन्धान एवं अनुभव यद्यपि सर्वथा [illegible]ा एक-से नहीं हैं, और वैयक्तिक एवं अन्य प्रकार की विषमताओं के कारण एक-से [illegible]रीश नहीं सकते थे, तथापि हैं वे सब सत्य की ही खोज के विभिन्न प्रयोग एवं अनुभव। इसी[illegible] उनकी 'दर्शन' संज्ञा तथा उनके द्रष्टाओं की 'ऋषि' संज्ञा सर्वथा सार्थक है।

'दर्शन' को इस व्यापक दृष्टि से देखने पर हमारा सारा का सारा आर्षसाहित्य—वैदिक संहिताएं, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद्—ही 'दर्शन' हो जाता है और यह ठीक ही होता है, क्योंकि जब वह 'दर्शन' है, तभी तो उसके द्रष्टा 'ऋषि'—'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः'—हैं, अन्यथा उनका आर्षत्व कथमपि सिद्ध नहीं होता। इस कथन का यह तात्पर्य नहीं है कि समस्त वैदिक वाङ्मय का आर्षत्व सिद्ध करने के लिए उसे 'दर्शन' मानना है। इसके विपरीत इसका तात्पर्य यह है कि चूँकि सारा वैदिक वाङ्मय प्राचीन तपस्वी मनीषियों एवं चिन्तकों के द्वारा दृष्ट अर्थात् साक्षात्कृत तत्त्वों या धर्मों की अभिव्यक्ति-मात्र है, उनका दर्शन है, इसलिए वे दर्शक—साक्षात्कृतधर्मा मनीषी—'ऋषि'[1] हैं जिसके कारण समस्त वैदिक वाङ्मय आर्ष-साहित्य कहा जाता है। यह अन्य बात है कि वेदों का संहिता-साहित्य विभिन्न देवता-तत्त्वों का दर्शन है, उनकी अभिव्यक्ति और स्तुति-रूप आराधना है; उसका ब्राह्मण-साहित्य उन्हीं देवता-तत्त्वों की आराधना के एक विशिष्ट प्रकार अर्थात् यज्ञ-तत्त्व—वैदिक कर्म—का दर्शन है, आरण्यक-साहित्य उसके दूसरे विशिष्ट प्रकार अर्थात् उपासना-तत्त्व—वैदिक भक्ति—का दर्शन है तथा उपनिषत्-साहित्य मुख्यतः विभिन्न देवता-तत्त्वों में अनुस्यूत एक ही मूल तत्त्व—परमाधिदेवता, परम पुरुष या ब्रह्म—तथा उसकी आराधना के तीसरे विशिष्ट प्रकार अर्थात् ज्ञान-तत्त्व का दर्शन है। परवर्ती काल में जब 'दर्शन' शब्द से सर्व-प्रमुख आत्म-दर्शन ही ग्रहण किया जाने लगा होगा, तब धीरे-धीरे अध्यात्म-ज्ञान-प्रधान उपनिषदों तथा उनके आधार पर रचित न्याय, सांख्य, योग, मीमांसा इत्यादि के सूत्रों के लिए ही विशेष रूप से उसका प्रयोग होने लगा होगा, ऐसा प्रतीत होता है।

बृहदारण्यकोपनिषद् के मैत्रेयी ब्राह्मण (बृहदा० ४।५) से भी इसी बात की पुष्टि होती है। इस ब्राह्मण में महामुनि याज्ञवल्क्य तथा उनकी ब्रह्मवादिनी पत्नी मैत्रेयी के बीच अमृतत्व-प्राप्ति के विषय में संवाद हुआ है। मैत्रेयी के अतिरिक्त याज्ञवल्क्य की एक और पत्नी कात्यायनी थी जो 'स्त्री प्रज्ञा'— सामान्य स्त्रियों की-सी बुद्धि वाली थी। गृहस्थाश्रम को छोड़कर संन्यास ग्रहण करने की इच्छा प्रकट करते हुए याज्ञवल्क्य ने एक समय में अपनी ब्रह्मवादिनी प्रिय पत्नी मैत्रेयी से कहा कि 'हे मैत्रेयि! मैं कात्यायनी के साथ तुम्हारा निपटारा कर देना चाहता हूँ ताकि मेरे न रहने पर तुम दोनों में कलह न हो।' मैत्रेयी

---

१. साक्षात्कृतधर्माणः ऋषयो बभूवुः।—यास्काचार्य कृत निरुक्त

ने उत्तर मे कहा कि "हे भगवन्! यदि यह सारी पृथ्वी वित्त से परिपूर्ण होकर ... प्राप्त हो जाए तो मैं अमर हो सकूँगी या नहीं?" याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—"नहीं ... उपकरणों से युक्त जनों का जैसा जीवन होता है, वैसा ही तुम्हारा भी होगा। ... अमृतत्व की आशा करना व्यर्थ ही है।" तब मैत्रेयी ने कहा कि "हे भगवन्! ... से मैं अमर न हो सकूँगी, उसे लेकर मैं क्या करूँगी? जिसे अमृतत्व की प्राप्ति ... जानते या समझते हों, उसी का उपदेश कृपया मुझे दें।" याज्ञवल्क्य ने कहा—"हे ...यि! ध्यान दो, मैं उपदेश दे रहा हूँ। पति, पत्नी, पुत्र, वित्त, पशु, लोक, देव, वेद, प्राण —सभी कुछ आत्मा के ही लिए, अपने ही लिए प्रिय होता है, पति-पुत्रादि के लिए नहीं। अतः ...र्वप्रिय आत्मा का ही 'दर्शन'—अनुभव या साक्षात्कार—करना चाहिए; उसी का श्रुति-वाक्यों से 'श्रवण' तथा श्रुत्यनुकूल तर्कों या युक्तियों से 'मनन' करके अहर्निश 'निदिध्यासन' करना चाहिए। श्रवण, मनन तथा सतत निदिध्यासन से उसका दर्शन हो जाने पर, उसका विज्ञान हो जाने पर अन्य सभी कुछ दृष्ट या विज्ञात हो जाता है, सारे रहस्य का उद्घाटन हो जाता है।"

इस संवाद से स्पष्ट हो जाता है कि उपनिषदों के आविर्भाव-काल तक आते-आते आत्म-दर्शन ही मुख्यतम दर्शन हो गया था, सर्व-प्रमुख पुरुषार्थ 'अमृतत्व-प्राप्ति' का एकमात्र साधन ज्ञात होने से यह आत्म-दर्शन मानव-जीवन का एकमात्र वास्तविक लक्ष्य बन गया था। परम लक्ष्य-भूत इस आत्म-दर्शन के मुख्य साधन श्रवण तथा मनन एवं तदनन्तर आत्मनिदिध्यासन के साधन उपनिषद् एवं तन्मूलक शास्त्र 'दर्शन' कहे जाते हैं। दूसरे शब्दों में इस बात को इस प्रकार कहा जा सकता है कि आत्म-दर्शन के स्वरूप, साधन इत्यादि के निरूपण द्वारा उसकी प्राप्ति में मुख्य साधन होने से उपनिषदों तथा उन पर आधृत अन्य अध्यात्म-विद्या-ग्रन्थों को 'दर्शन' संज्ञा प्राप्त हुई। 'दृश्यतेऽनेनेति दर्शनम्' (दृश धातु + ल्युट् प्रत्यय करणे) अर्थात् जिनके स्वाध्याय (श्रवण) से उत्पन्न शब्दज्ञान के मनन एवं निदिध्यासन से तत्त्व का दर्शन हो, वे ही 'दर्शन' हैं। अवान्तर काल में रुचि, शक्ति, अभ्यास आदि के भेद से तत्त्व के विषय में ज्यों-ज्यों विचार-भेद होते गये, त्यों-त्यों दर्शन के भी भेद होते गए और एक समय वह आ गया जब भेद के अन्तर्गत अवान्तर भेद होने से ढेर के ढेर दर्शन-सम्प्रदाय देश में उत्पन्न हो गए। ये ही चार्वाक-लोकायत, न्याय, सांख्य, योग, मीमांसा (पूर्वमीमांसा और उत्तर मीमांसा अर्थात् वेदान्त) शैव (काश्मीरक तथा वीर) जैन, बौद्ध इत्यादि नाम से अभिहित हुए। ये सभी दर्शन ही कहे जाते हैं।

विभिन्न दर्शनों के बीच तत्त्व-विषयक भेद की जो बात अभी-अभी कही गई, वह प्रस्तुत ग्रन्थ वेदान्तसार के अनुसार इस प्रकार है—नैयायिक और प्रभाकर मीमांसक आत्मा को जड़ (द्रव्य) बताते हैं, भाट्ट मीमांसक उसे ज्ञानाज्ञानात्मक कहते हैं, तथा सांख्य,

यो[illegible]र वेदान्त आदि उसे शुद्ध चिन्मात्र मानते हैं, विज्ञानवादी बौद्ध आत्मा को क्षणिक [illegible] और शून्यवादी बौद्ध उसे शून्य अर्थात् असद्रूप बताते हैं। अद्वैत वेदान्त के अनुसार [illegible]दि समस्त ज्ञेय (विषय) एवं उनके ज्ञाता का अधिष्ठान-भूत शुद्ध चैतन्य या [illegible] ही एक-मात्र परमार्थ या सत्यवस्तु है जो कि ज्ञाता आत्मा का अपना शुद्धरूप है। [illegible] आत्मा का ज्ञातृत्व ज्ञेय (विषय) और उसके ज्ञान की अपेक्षा से है, अतः वह [illegible]क है, मिथ्या है। इसका त्याग करके सर्वाधिष्ठान-भूत निरुपाधिक शुद्ध चिन्मात्र का [illegible]क्षात्कार और उसके द्वारा अमृतत्व (मुक्ति) की प्राप्ति अद्वैत वेदान्त का परम लक्ष्य औ[illegible] मानव-जीवन का परम पुरुषार्थ, परम प्रयोजन है। इसी आत्म-स्वरूप के ज्ञान के अभाव से दुःखी देवर्षि नारद ने भगवान् सनत्कुमार से अपना दुखड़ा रोते हुए इस प्रकार कहा था—"ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि, यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं, वेदानां वेदं, पित्र्यं, राशिं, दैवं, निधिं, वाकोवाक्यमेकायनं, देवविद्यां, ब्रह्मविद्यां, सर्पविद्यां, भूतविद्यां, क्षत्रविद्यां, नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्याम्—एतद् भगवोऽध्येमि। सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि, नात्मवित्। श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति। सोऽहं भगवः शोचामि। तं मां भगवाञ्छोकस्य पारं तारयत्विति। तं होवाच—यद्वै किञ्चैतदध्यगीष्ठा नामैवैतत्।" (छा० ७।१।२,३)।

इस संवाद से स्पष्ट है कि सारे वेदवेदाङ्ग, इतिहास, व्याकरण, गणित, निरुक्त, तर्क, ब्रह्म (वेद) विद्या, सर्पविद्या इत्यादि शास्त्र और विज्ञान—'दर्शन शास्त्र' से भिन्न हैं। इनके प्रतिपाद्य विषय असंख्य जागतिक पदार्थ हैं, जब कि दर्शन-शास्त्र का प्रतिपाद्य वे नहीं प्रत्युत उन्हें विषय रूप से जानने वाला उसका ज्ञाता आत्मा है। यह ज्ञातृत्व उसका औपाधिक (अवास्तविक) धर्म है, वस्तुतः तो वह शुद्ध चिन्मात्र अर्थात् नित्यज्ञान स्वरूप है। इसी स्वरूप का साक्षात्कार दर्शन-शास्त्र का लक्ष्य है।

ब्रह्मसूत्र-चर्चित आचार्य एवं उनके सिद्धान्त

सदानन्द योगीन्द्र का वेदान्तसार अद्वैत वेदान्त का ग्रन्थ है। अद्वैत वेदान्त का मूलाधार मुख्यतः उपनिषच्छ्रुतियाँ हैं जिन पर महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यास द्वारा रचित ब्रह्मसूत्र आधृत है। उपनिषदों का अपर नाम वेदान्त होने से, इन्हें वेदान्तसूत्र भी कहा जाता है। परम्परानुसार ये महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यास महर्षि पराशर और सत्यवती के पुत्र थे एवं महाभारत-कालिक थे। सत्यवती के कुमारी रहते उनसे कृष्ण द्वैपायन की उत्पत्ति होने से ही वे कानीन (कन्यापुत्र) कहे जाते हैं। अपने ब्रह्मसूत्र में उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों में से प्रत्येक के एक-दो सिद्धान्तों का नामोल्लेखपूर्वक उल्लेख किया है। इनमें काशकृत्स्न कार्ष्णाजिनि, वादरि; जैमिनि, आश्मरथ्य, औडलोमि, आत्रेय आदि प्रमुख हैं। मैत्रेयी ब्राह्मण में जीवात्मा और परमात्मा के अभेद का सिद्धान्त प्रतिपादित है। इसके समर्थन में सूत्रकार

ने काशकृत्स्न के मत को उद्धृत किया है। आचार्य शंकर ने काशकृत्स्न के मत का [illegible]रण देते हुए, यह सिद्ध किया है कि परमात्मा ही जीव-भाव में अवस्थित होता है। यह का[illegible] का मत है। अतः मैत्रेयी ब्राह्मण का, आत्मा और परमात्मा के अभेद का, सिद्धान्त समीचीन है। इसी प्रकार, ब्रह्मज्ञानी पुरुष के भोगसाधन के रूप में मन, शरीर और [illegible] के रहने के, जैमिनि-मत का खण्डन करते हुए आचार्य बादरि के मत की चर्चा [illegible] ने की है। आचार्य बादरि के मत से केवल मन रहता है, इन्द्रियाँ नहीं रहतीं। इसके वि[illegible]त जैमिनि का कथन है कि मुक्त के मन के समान ही शरीर और इन्द्रियों की भी विद्य[illegible]नता स्वीकार होगी, क्योंकि एक ही पुरुष के अनेक शरीर ग्रहण करने की चर्चा श्रुतियों [illegible] की गई है। लेकिन आचार्य बादरि उनका अभाव मानते हैं जैसा कि 'अभावं बादरिराह [illegible]वम्,' (ब्रह्मसूत्र ४।४।१०) सूत्र में सूत्रकार ने कहा है। 'भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्' (ब्र० सू० ४।४।११) सूत्र में जैमिनिके मत का उल्लेख सूत्रकार ने किया है। इन विरुद्ध मतों का सामञ्जस्य करते हुए बादरायण के मत का उल्लेख सूत्रकार ने सूत्र 'द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः' (४।४।१२) में किया है। इसके अतिरिक्त अनन्त भूमा के परिमाण की व्याख्या में भी सूत्रकार ने अपने अनुकूल बादरि केमत को उद्धृत किया है। आचार्य जैमिनि ने बादरि के मत का अपने पूर्व मीमांसासूत्र में खण्डन किया है। सूत्रकार ने इस बात का भी उल्लेख किया है कि आचार्य बादरि के मत में वैदिक कर्मों में भी सभी का अधिकार स्वीकार किया गया है, इसके विपरीत जैमिनि के मीमांसा-मत में शूद्रादि का वैदिक यज्ञादि कर्मों में अधिकार नहीं है।

आश्मरथ्य वेदान्त-मत के समर्थक आचार्यों में हैं। "प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः" (ब्र०सू० १।४।२०)—आश्मरथ्य के मत से एक को जानने से सभी को जान लेने की जो बात वेदान्त में कही गई है, उसे सार्थक करने के लिए जीवात्मा और परमात्मा का अभेद स्वीकार करना होगा। याज्ञवल्क्य ने जीवात्मा और परमात्मा के अभेद या ऐक्य का कथन किया है। यह ऐक्य जीवात्मा को परमात्मा का अंश मान कर कहा गया है। जैसे बह्नि की ज्वाला अथवा चिनगारी उससे न अत्यन्त भिन्न है और न ही अत्यन्त अभिन्न, उसी प्रकार ब्रह्म के विकार-भूत जीव भी न तो ब्रह्म से अत्यन्त भिन्न हैं और न ही अत्यन्त अभिन्न। अत्यन्त भिन्न होने पर चिद्रूप नहीं होंगे। अतः अभेद होने पर भी कथञ्चित्—अंशी के अंशरूप से—कुछ भेद तो रहता ही है। आश्मरथ्य की इसी मान्यता के कारण आचार्य वाचस्पति मिश्र उन्हें विशिष्टाद्वैतवादी आचार्य मानते हैं। इस मत को शा०भा० में संक्षेप में इस प्रकार कहा गया है—तस्मात् प्रतिज्ञासिद्ध्यर्थं विज्ञानात्मपरमात्मनोरभेदांशेनोपक्रमणमित्याश्मरथ्य आचार्यो मन्यते (शा० भा० १।४।२०)।

इसी प्रसंग में औडलोमि के मत का उल्लेख अनन्तरस्थ सूत्र—"उत्क्रमिष्यत एवं-

भाव... डुलोमिः" (१।४।२१) में किया गया है। उनके अनुसार जीवात्मा जब तक ... दि के बन्धन में रहता है, तब तक परमात्मा से उसका भेद अवश्यमेव रहता है। ... से अज्ञानान्धकार के नष्ट होते ही देहेन्द्रियादि बन्धन से विमुक्त हो जाने पर ... विज्ञानात्मा या जीवात्मा) का परमात्मा से किसी प्रकार का भेद नहीं रह जाता। अत ... सिद्ध होता है कि आचार्य औडुलोमि भेदाभेदवादी आचार्य थे। शंकर-भाष्य में उनके ... का निष्कर्ष इस प्रकार है—"विज्ञानात्मन एवं देहेन्द्रियमनोबुद्धिसङ्घातोपाधिसम्पर्कात् कलुषी ... तस्य ज्ञानध्यानादिसाधनानुष्ठानात् सम्प्रसन्नस्य देहादिसङ्घातादुत्क्रमिष्यतः परमा ... क्योपपत्तेरिदमभेदेनोपक्रमणमित्यौडलोमिराचार्यो मन्यते" (ब्र०सू०शा०भा० १।४।२१)।

आचार्य काष्र्णाजिनि का नाम और मत दोनों मीमांसा-सूत्र में उल्लिखित हैं। पूर्व-मीमांसा में इनका मत पूर्वपक्ष के रूप में गृहीत होकर खण्डित हुआ है, जबकि उत्तर-मीमांसा में ब्रह्मसूत्रकार ने अपने अद्वैत-सिद्धान्त के समर्थन में इनके मत को प्रमाण रूप में उद्धृत किया है। छान्दोग्य ५।२०।७[1] में कहा गया है कि 'रमणीयचरण' ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यादि शुभ मानव-कुलों में जन्म ग्रहण करते हैं। इसके विपरीत 'कपूयचरण' खर-शूकर-कुक्कुर आदि अशुभ योनियों में जन्म ग्रहण करते हैं। श्रुति में प्रयुक्त 'चरण' शब्द से आचरण, शील, चरित्र इत्यादि का ग्रहण होता है, जबकि काष्र्णाजिनि इसका अर्थ 'शुभाशुभ अदृष्ट' लेते हैं, एवं प्रकृत श्रुति का यह तात्पर्य लेते हैं कि शुभाशुभ-कर्मों के अनुष्ठान से उत्पन्न शुभाशुभ अदृष्ट (अनुशय, संस्कार) शुभाशुभ जन्मों की प्राप्ति के कारण होते हैं। यही ब्रह्मसूत्रकार का अपना मत भी है। किन्तु इसके विपरीत यह आशङ्का उठाई जाती है कि 'चरण' का मुख्यार्थ तो चरित्र, आचार या शील है। इस मुख्यार्थ को छोड़कर शुभाशुभ 'अदृष्ट' या 'अनुशय' अर्थ क्यों ग्रहण किया जाय? क्या आचार या शील व्यर्थ है, निष्फल है? इसके उत्तर में काष्र्णाजिनि का कहना है कि आचार या चरित्र निष्फल नहीं है। आचारहीन व्यक्ति का वैदिक यज्ञयागादि कर्म आडम्बर-मात्र है, आचारपूर्वक अनुष्ठित सत् कर्म ही शुभ अदृष्ट उत्पन्न कर शुभयोनियों में उत्तम जन्म के कारण होते हैं। इसके विपरीत आचारहीन के द्वारा अनुष्ठित कर्म अशुभ अदृष्ट उत्पन्न कर उसके फलस्वरूप अशुभ जन्मान्तर का कारण होता है। भाष्यकार शंकराचार्य ने "चरणादिति चेन्नोपलक्षणार्थेति काष्र्णाजिनिः" (ब्र० सू० ३।१।९) पर अपने भाष्य का उपसंहार करते हुए इस सिद्धान्त को इस प्रकार स्पष्ट किया है—

---

१. तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा। अथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा, सूकरयोनिं वा, चाण्डालयोनिं वा।—छान्दोग्य० ५।१०।७

तस्माच्चरणाद् योन्यापत्तिश्रुतेर्नानुशयसिद्धिरिति चेत्, ... नैष दोषः। यतोऽनुशयोपलक्षणार्थैवैषा चरणश्रुतिरिति कार्ष्णाजिनिराचार्यो ...

शाङ्कर वेदान्त के आचार्य तथा उनकी कृतियाँ

पूर्व कृत विवेचनं से यह बात सर्वथा स्पष्ट है कि भगवान् कृष्णद्वैपायन ... रा रचित 'ब्रह्मसूत्र' उपनिषदों पर आधृत समस्त कृतियों में सर्वाधिक अद्वैत-प्रति... एवं अद्वैतपरक कृति है। उपनिषदों की शिक्षाओं एवं सिद्धान्तों की सारोन्मीलिनी ...र्वाधिक तर्कसंगत एवं प्रामाणिक कृति भगवान् की ज्ञानशक्ति के अवतार[१] द्वैपायनव्यास ...रा कृत ब्रह्मसूत्र है। महाभारत-भीष्मपर्वान्तर्गत सप्तशतश्लोकी श्रीमद्भगवद्गीता ... साथ उपनिषदों एवं तदाधृत ब्रह्मसूत्र को वेदान्तदर्शन की प्रस्थानत्रयी की संज्ञा दी गई है। इसी से 'ब्रह्मसूत्र' की महत्ता प्रकट होती है। यह प्रस्थानत्रयी परवर्ती काल में वेदान्त के विभिन्न सम्प्रदायों के आधार-स्तम्भ के रूप में प्रतिष्ठित हुई। शंकर, भास्कर, यादवप्रकाश, रामानुज, मध्व, निम्बार्क, वल्लभ और बलदेव आदि आचार्यों ने स्व-स्व-सम्प्रदायानुसार इस प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखे। उसके बाद भी विज्ञानभिक्षु ने विज्ञानभाष्य, अप्पयदीक्षित ने न्यायरक्षामणि, नारायणतीर्थ ने विभावना, ब्रह्मानन्द ने मुक्तावली, शंकरानन्द ने दीपिका और रामानन्द ने ब्रह्मामृतवर्षिणी नाम से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व्याख्यायें लिखीं। वेदान्तदर्शन के इतिहास में सर्वप्रथम भगवान् जगद्गुरु शंकराचार्य ने ही 'प्रस्थानत्रयी' पर अपने युगान्तरकारी अद्वैतपरक भाष्य लिखकर दार्शनिक जगत् में सर्वातिशायिनी ख्याति प्राप्त की। सर्वज्ञात्ममुनि-जैसे महामहिम आचार्य ने यों ही नहीं—

वक्तारमासाद्य यमेव नित्या सरस्वती स्वार्थसमन्विताऽभूत्।
निरस्तदुस्तर्ककलङ्कपङ्का, नमामि तं शंकरमर्चिताङ्घ्रिम्।।

—सं॰शा॰ सर्वज्ञात्मकृत

लिखकर परम प्रातिभ आचार्य प्रवर के श्रीचरणों में अपने श्रद्धा-सुमन समर्पित किये हैं। इसी प्रकार एक अन्य श्लोक में उन्हें ज्ञान-महोदधि कहा गया है। कैसा है वह ज्ञान-महोदधिं, यह मूल में ही उत्तम प्रकार से देखने योग्य है—

वाग्विस्तरा यस्य बृहत्तरङ्गा वेलातटं वस्तुनि तत्त्वबोधः।
रत्नानि तर्कप्रसरप्रकारा नमामि तं शङ्करमर्चिताङ्घ्रिम्।।

यह शङ्कराख्य ज्ञान-महोदधि वाग्विस्तर-रूपी बृहत् उत्तालतरंगों से समन्वित है। उनका अखण्डचिन्मात्र ब्रह्मवस्तु-विषयक तत्त्वज्ञान ही उस महोदधि के तट हैं। उनके अकाट्य तर्क-समूह ही वेलातट पर बिखरे रत्न हैं। इस ज्ञान-महोदधि की महिमा और

---

१. द्रष्टव्य, भामती-अवतरणिका, श्लोक ५, पृष्ठ १—ब्रह्मसूत्रकृते तस्मै वेदव्यासाय वेधसे। ज्ञानशक्त्यवताराय नमो भगवतो हरेः।

उ[illegible] गौरवगाथा वाक्पथातीत है। इसी कारण से पद्मपाद, हस्तामलक श्रुतिधर [illegible]चार्य) एवं सुरेश्वराचार्य जैसे अप्रतिम प्रतिभावान् परम तपस्वी ऋषिकल्प प्रवर [illegible]र्यों ने उनका शिष्य बनने में अपना गौरव समझा। एवं च आचार्य-प्रवर ने वैदिक [illegible] धर्म एवं अद्वैत सम्प्रदाय के प्रचारार्थ जब भारत के चार कोनों में चार पीठों—उत्तर में [illegible]काश्रम के निकट ज्योतिष्पीठ, पूर्व में पुरुषोत्तम-क्षेत्र पुरी में गोवर्धनपीठ, दक्षिण में [illegible]श्वर-क्षेत्र में शृङ्गेरीपीठ और पश्चिम में द्वारकाधाम में शारदापीठ—की स्थापना की, तब [illegible] पीठों में एक-एक के अध्यक्ष पद पर इन शिष्याचार्यों में एक-एक को अभिषिक्त किय[illegible] शाङ्कर सम्प्रदाय की गुरु-परम्परा में इन शिष्याचार्यों के नामों का उल्लेख है। ये चारो आचार्य इस गुरु-परम्परा के परवर्ती आचार्य हैं। यह परम्परा इस प्रकार है—

"नारायणं पद्मभवं वसिष्ठं शक्तिं च तत्पुत्रपराशरं च।
व्यासं शुकं गौडपदं महान्तं गोविन्दयोगीन्द्रमथास्य शिष्यान्।।
श्रीशङ्कराचार्यमथास्य पद्मपादं च हस्तामलकं च शिष्यम्।
तं तोटकं वार्तिककारमन्यानस्मद्गुरून् सन्ततमानतोऽस्मि।।
श्रुतिस्मृति पुराणानामालयं करुणालयम्।
नमामि भगवत्पादं शङ्करं लोकशङ्करम्।।"

शाङ्कर सम्प्रदाय में इन श्लोकों के द्वारा शास्त्राध्ययन आरम्भ करने के पूर्व गुरुवन्दना करने की सुप्रतिष्ठित परम्परा है। इस गुरुपरम्परा के पद्मनाभ भगवान् नारायण से लेकर पद्मभव ब्रह्मा जी, उनके पुत्र महर्षि वसिष्ठ, उनके पुत्र शक्ति, उनके पुत्र तथा व्यास जी के पिता महर्षि पराशर, उनके पुत्र ज्ञानशक्त्यवतार कृष्ण द्वैपायन व्यास तथा उनके पुत्र परम भागवत शुकदेवजी, जिन्होंने राजर्षि परीक्षित को केवल एक सप्ताह में सम्पूर्ण श्रीमद्भागवत सुनाया था, नामक ब्रह्मविद्याचार्य पौराणिक व्यक्ति होने के कारण आधुनिक ऐतिहासिक दृष्टि से विचारणीय नहीं हैं। तथापि महर्षि कृष्ण द्वैपायन व्यास भारतीय परम्परा में 'ब्रह्मसूत्र', जो वेदान्तशास्त्र का आधार-भूत ग्रन्थ है, के कर्ता माने जाते हैं। उनके पुत्र शुकदेव जी ने भी पाण्डुनन्दन राजर्षि परीक्षित को भागवत- कथा सुनाई थी। अत: ये दोनों आधुनिक ऐतिहासिक दृष्टि से भी कथञ्चित् ऐतिहासिक ही हैं।

जहाँ तक गुरुपरम्परा के आचार्य गौडपाद और योगीन्द्र गोविन्द का प्रश्न है, ये दोनों शङ्कराचार्य के क्रमश: परमगुरु (दादागुरु) एवं गुरु थे। यह बात निश्चप्रच है। शङ्कराचार्य के अद्वैतपरक विचार-परम्परा की विशुद्धता की रक्षा के गुरुतर कार्य का श्रीगणेश उनके परमगुरु आचार्य गौडपाद्द के द्वारा शताब्दियों पूर्व किया जा चुका था। 'शताब्दियों पूर्व' इसलिए कहा जा रहा है, क्योंकि इन दोनों योगीन्द्रों की आयु कई-कई सौ वर्ष की सुनी जाती है। माण्डूक्य उपनिषद् के प्रतिपाद्य को सविस्तर प्रतिपादन करने वाली,

गौडपादाचार्य की 'माण्डूक्यकारिका' परवर्तीकाल में 'मायावाद' के नाम से नैष शङ्कराचार्य के अद्वैतपरक सिद्धान्त का वीजारोपण करने वाली कृति है। शङ्कराचार्य गोविन्दभगवत्पाद का कोई वेदान्त-ग्रन्थ नहीं प्राप्त होता। जनश्रुति के अनुसार उनक रस-प्रक्रिया से सिद्ध होने के कारण सहस्रों वर्ष का होने पर सर्वथा नवीन दिख

ब्रह्मसूत्र पर शङ्कराचार्य तथा अन्य परवर्ती आचार्यों की व्याख्याओं की संक्षि इसके पूर्व की जा चुकी है। शंकरकृत ब्रह्मसूत्र भाष्य पर भी उनके शिष्य पद्मप ार्य की टीका है जो ब्रह्मसूत्र के केवल पाँच पादों तक सीमित होने के कारण 'पञ्चप देका' नाम से सुप्रसिद्ध है। शंकराचार्य के शिष्यों में पद्मपाद एवं सुरेश्वर ने सर्वाधिक ख्याति र्जित की। पद्मपाद की विशिष्ट ख्याति का कारण जहाँ उनकी एकमात्र कृति पद्मपादिका बनी, वहाँ सुरेश्वर के अनेक ग्रन्थ उनकी सर्वातिशायिनी ख्याति के कारण बने। ये सारे ग्रन्थ स्वगुरु शंकर के भाष्य-ग्रन्थों पर 'वार्तिक' के नाम से विख्यात हैं। शंकराचार्य-कृत बृहदारण्यकोपनिषद्-भाष्य, तैत्तिरीयोपनिषद्-भाष्य, दक्षिणामूर्तिस्तोत्र तथा पञ्चीकरण पर सुरेश्वर-द्वारा रचित वार्तिक सुप्रसिद्ध हैं। इसके अतिरिक्त सुरेश्वराचार्य का नैष्कर्म्यसिद्धि भी अपने प्रतिपाद्य-गाम्भीर्य के कारण बहुचर्चित है। उनका दक्षिणामूर्ति-वार्तिक 'मानसोल्लास' के नाम से भी जाना जाता है। इस पर रामतीर्थ ने एक टीका लिखी है। भगवान् शंकराचार्य के शेष दो शिष्यों हस्तामलक और श्रुतिधर (तोटकाचार्य) की उक्त एक ही कृति प्राप्त है। हस्तामलक का स्तोत्र उन्हीं के नाम से 'हस्तामलक-स्तोत्र' कहा जाता है। श्रुतिधर के ग्रन्थ का नाम 'श्रुतिसारसमुद्धरण' है जो तोटक छन्द में लिखा गया है। इसी से श्रुतिधर का अधिक प्रसिद्ध नाम तोटकाचार्य पड़ गया। इससे उनकी अल्पकाय कृति के महत्त्व का अन्दाज लगाया जा सकता है।

शंकराचार्य के प्रमुख दश उपनिषदों तथा ब्रह्मसूत्र एवं श्रीमद्भगवद्गीता पर लिखे भाष्य तो बहु-चर्चित हैं ही। इनके अतिरिक्त श्वेताश्वतरोपनिषद, मण्डलब्राह्मणोपनिषद्, विष्णुसहस्र नाम, सनत्सुजातीय तथा गायत्री पर भी उनके नाम भाष्य प्राप्त हैं। ये सभी आद्यशंकर की ही कृति माने जाते हैं। पूर्वोक्त के अतिरिक्त उपदेशसाहस्री, विवेकचूड़ामणि, आत्मबोध, अपरोक्षानुभूति, मोहमुद्गर निश्चित रूप से उन्हीं की कृतियों-प्रकरणों के रूप में प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त एक तंत्र-ग्रन्थ 'प्रपञ्चसार' और प्रसिद्ध 'सौन्दर्यलहरी' भी उन्हीं के नाम से प्रसिद्ध हैं यद्यपि कुछ विद्वान् इनके आद्यशंकर-कृत होने में संदेह करते हैं। इनके अतिरिक्त अनेक स्तोत्र भी आद्यशंकर के नाम से प्रसिद्ध हैं परन्तु इतना तय है कि ये सभी तो आद्यशंकरकृत नहीं ही हैं। हो सकता है, दो-चार उनके द्वारा रचित हों और शेष परवर्ती शंकराचार्यों द्वारा लिखे गये हों।

शंकराचार्य के ब्रह्मसूत्र-भाष्य पर अमलानन्द का ब्रह्मविद्याभरण एक उच्चकोटि की

व्या[illegible]हैं। पद्मपाद की 'पञ्चपादिका' के अतिरिक्त प्रसिद्ध वाचस्पति मिश्र की बहुचर्चित [illegible]र्ग टीका 'भामती' भी है जिसने अद्वैतवेदान्त के भामती-प्रस्थान को जन्म दिया। [illegible]कार पद्मपादिका पर प्रकाशात्मा-कृत पञ्चपादिका-विवरण नामक टीका वेदान्त के [illegible]स्थान 'विवरण' को जन्म देने के कारण प्राय: उतनी ही प्रसिद्ध है जितनी भाष्यटीका [illegible]। इनके अतिरिक्त भाष्य पर और भी टीकायें हैं जिनमें ज्ञानोत्तम-कृत विद्याश्री, प्रक[illegible]त्म-कृत न्यायसङ्ग्रह, चित्सुख-कृत भावप्रकाशिका, आनन्दज्ञान-कृत न्यायनिर्णय, रामत[illegible]र्थ-कृत शारीरकरहस्यार्थप्रकाशिका और गोविन्दानन्द-कृत 'भाष्यरत्नप्रभा' विशेष रूप [illegible] उल्लेखनीय हैं। सौन्दर्यलहरी पर तीन दर्जन टीकायें लिखी गईं। प्रपञ्चसार पर पद्मप[illegible]ाचार्य की टीका के अतिरिक्त अमरप्रकाश के शिष्य उत्तमबोधाचार्य की भी एक टीका मिलती है। भगवद्गीता पर शांकरभाष्य के अतिरिक्त महामाहेश्वर अभिनवगुप्त, श्रीमद्भागवत के सुप्रसिद्ध टीकाकार श्रीधर स्वामी, नीलकण्ठ, सुप्रथित मधुसूदन सरस्वती और आनन्दज्ञान की टीकायें भी अद्वैतपरक हैं जो अद्वैतवेदान्त-वाङ्मय की प्रभूत श्रीवृद्धि करती हैं। आद्यशंकर के प्राय: समकालिक मण्डनमिश्र की प्रसिद्ध कृति, 'ब्रह्मसिद्धि' है जिस पर वाचस्पति मिश्र ने एक टीका 'ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा' नाम से लिखी। प्रकाशात्मा (१२०० ई०) के पञ्चपादिका-विवरण पर विद्यारण्यापरनामा माधवाचार्य (१३५०ई०) ने 'विवरणप्रमेयसंग्रह' टीका लिखी जो अत्यन्त उपयोगी विस्तृत निबन्धग्रन्थ है। 'विवरण' पर ही अखण्डानन्द-कृत तत्त्वदीपन, चित्सुखकृत विवरणभावद्योतनिका, रंगराजाध्वरीन्द्र-कृत विवरणदर्पण, रामानन्द-कृत विवरणोपन्यास तथा अप्पयदीक्षित-कृत विवरण-प्रमेयसंग्रह भी विशेष प्रसिद्ध व्याख्यायें हैं। 'भामती' पर भी अमलानन्द-कृत कल्पतरु, उस पर अप्पयदीक्षित-कृत कल्पतरुपरिमल तथा वैद्यनाथ-कृत कल्पतरुमञ्जरी प्रसिद्ध व्याख्या-ग्रन्थ हैं। भामती पर अखण्डानन्द-रचित ऋजुप्रकाशिका, तथा अल्ला-कृत भामतीतिलक टीकायें भी हैं।

सुरेश्वराचार्य के लब्धप्रतिष्ठ शिष्य सर्वज्ञात्म मुनि (दशम शताब्दी) ने शंकरकृत ब्र०सू०भाष्य (शारीरिक भाष्य) पर 'संक्षेपशारीरक' नाम से एक सुन्दर पद्यबद्ध समीक्षा-ग्रन्थ बनाया था। इसकी लोकप्रियता के कारण ही इस पर नृसिंहाश्रम ने तत्त्वबोधिनी, रामतीर्थ ने अन्वयार्थ-प्रकाशिका, मदुसूदन सरस्वती ने सारसङ्ग्रह, पुरुषोत्तम ने सुबोधिनी, राघवानन्द ने विद्यामृतवर्षिणी एवं विश्ववेद ने सिद्धान्तदीप की रचना की। सिद्धिनामान्त पाँच प्रसिद्ध वेदान्त-ग्रन्थों में पूर्वोक्त ब्रह्मसिद्धि और सुरेश्वर की नैष्कर्म्यसिद्धि के अतिरिक्त विमुक्तात्मा (दशम शताब्दी) की इष्टिसिद्धि, मधुसूदनसरस्वती की अद्वैतसिद्धि तथा काश्मीरकसदानन्द की अद्वैतब्रह्मसिद्धि परम प्रसिद्ध कृतियाँ हैं। इष्टसिद्धि पर ज्ञानोत्तम की टीका प्रसिद्ध है। अद्वैतसिद्धि पर ब्रह्मानन्द की लघुचन्द्रिका एवं गुरुचन्द्रिका नाम से

दो टीकायें हैं।

बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के नैषधकार श्रीहर्ष ने 'खण्डनखण्डखाद्य' नाम[illegible] अप्रतिम ग्रन्थ की रचना की, जो अद्वैतन्याय का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें न[illegible] का खण्डन करके अद्वैत वेदान्त के 'अनिर्वचनीयता' सिद्धान्त की स्थापना प्रबल हे[illegible] आधार पर की गई है। इस पर प्रसिद्ध नैयायिक शंकर मिश्र की आनन्दवर्धिन[illegible] विशेषत: प्रसिद्ध हुई। विद्यासागर की विद्यासागरी भी इसकी दूसरी प्रसिद्ध टी[illegible] है। चित्सुखाचार्य ने भी इस पर एक टीका लिखी है। इनके अतिरिक्त आधे दर्जन से [illegible]धिक टीकाओं का उल्लेख गोविन्द नरहरि वैजापुरकर ने किया है।

अद्वयाश्रम के शिष्य रामाद्वय ने चतुस्सूत्री पर 'वेदान्तकौमुदी' नामक एक मह[illegible]पूर्ण आलोचनात्मक ग्रन्थ लिखा है। इसका उल्लेख प्रसिद्ध अप्पयदीक्षित ने (१६वीं शताब्दी) अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सिद्धान्तलेशसङ्ग्रह' में किया है। अन्य परवर्ती ग्रन्थों में भी इसका उल्लेख मिलता है। इससे इस ग्रन्थ की महत्ता प्रकट होती है। आनन्दबोध भट्टारक का न्यायमकरन्द भी अद्वैतवेदान्त सम्प्रदाय की एक अमर कृति है। इस पर चित्सुख और उनके शिष्य सुखप्रकाश की टीकायें हैं। इसके अतिरिक्त इनके तीन ग्रन्थ और हैं—न्यायदीपावली, प्रमाणरत्नमाला, तथा (प्रकाशात्मा के) 'शाब्दनिर्णय' पर न्यायदीपिका। न्यायदीपावली पर सुखप्रकाश ने, तथा प्रमाणरत्नमाला पर चित्सुख और अनुभूतिस्वरूपाचार्य ने टीकायें लिखी हैं। चित्सुखाचार्य-कृत शारीरकभाष्य-टीका 'भावप्रकाशिका' की चर्चा भाष्य-टीकाओं के प्रसंग में पहले की जा चुकी है। इसके अतिरिक्त ब्रह्मसिद्धि पर अभिप्रायप्रकाशिका, नैष्कर्म्यसिद्धि पर भावतत्त्वप्रकाशिका तथा पञ्चपादिकाविवरण पर भावद्योतनिका टीकायें भी हैं।

ईसवी चौदहवीं शताब्दी में विजयनगर के राजा बुक्क के राजगुरु माधवाचार्य जो संन्यास ग्रहण करने के अनन्तर 'विद्यारण्य स्वामी' नाम से प्रसिद्ध हुए और १३७७ ई० से लेकर १३८६ ई० तक शृङ्गेरीमठ की शङ्कराचार्य-गद्दी पर प्रतिष्ठित रहे, मध्यकालीन शांकरवेदान्त सम्प्रदाय के सर्वाधिक लोकप्रिय ग्रन्थकार हुए। उनके विवरणप्रमेयसंग्रह की चर्चा तो पहले की जा चुकी है। उसके अतिरिक्त उनकी प्रसिद्ध कृतियाँ पञ्चदशी, जीवन्मुक्तिविवेक, वाक्यसुधा, वृहदारण्यकवर्तिक-सार, अनुभूतिप्रकाश, वैयासिकिन्यायमाला, शंकरदिग्विजय तथा दृग्दृश्यविवेक आदि हैं जो उनकी अक्षयकीर्ति के महास्तम्भ हैं। ब्रह्मगीता, सूतसंहिता तथा शंकराचार्यकृत अपरोक्षानुभूति पर इनकी टीकायें हैं। इनकी पञ्चदशी पर रामकृष्ण की 'तात्पर्यदीपिका' प्रसिद्ध टीका है। वाक्यसुधा पर ब्रह्मानन्द भारती, विश्वेश्वरमुनि तथा मुनिदास भूपाल की टीकायें मिलती हैं। मुनिदास के अनुसार वाक्यसुधा शंकरकृत है।

[illegible]काशानन्द-कृत वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली अद्वैतवेदान्त का उच्चकोटि का 'प्रकरण'-ग्र[illegible]। इसमें दृष्टिसृष्टिवाद की स्थापना की गई है। डॉ० वेनिस द्वारा इसका एक श्रे[illegible] संस्करण टिप्पणी और अंग्रेजी अनुवाद के साथ काशी से प्रकाशित है। इसी पर उ[illegible]ष्य नाना दीक्षित की सिद्धान्तदीपिका नामक टीका है। प्रकाशानन्द का एक और भ[illegible]वेदान्तनयभूषण' नाम से उपलब्ध है। अनुभूतिस्वरूपाचार्य के शिष्य जनार्दन का 'तत्त्[illegible]' भी एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है जिस पर वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली के रचयिता प्रकाशा[illegible]न्द से भिन्न किसी प्रकाशानन्द की एक उत्कृष्ट टीका 'तत्त्वप्रकाशिका' मिलती है। आनन्द[illegible]म के शिष्य शंकरानन्द की 'दीपिका' नाम से अनेक अथर्ववेदी उपनिषदों तथा अन्यग्र[illegible]ं पर लोकप्रिय सुबोध टीकायें मिलती हैं। कैवल्य, कौषीतकी, नृसिंहतापनीय, माण्डूक्य, ब्रह्म और नारायण उपनिषदों पर इनकी दीपिकायें बहुत लोकप्रिय हैं। इनकी ब्रह्मसूत्र-दीपिका की चर्चा पहले ब्रह्मसूत्र की व्याख्याओं के प्रसंग में की जा चुकी है। भगवद्गीता की इनकी टीका भी बहुत सुन्दर है।

ई० १६वीं शताब्दी के सदानन्द योगीन्द्र का वेदान्तसार एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और लोकप्रिय प्रकरण-ग्रन्थ है जिस पर नृसिंहसरस्वती की सुबोधिनी, रामतीर्थ की विद्वन्मनोरञ्जनी तथा आपदेव की बालबोधिनी प्रसिद्ध टीकायें हैं। इनका विस्तृत विवेचन अगले 'वेदान्तसार' और उसके रचयिता सदानन्द शीर्षक के अन्तर्गत दिया गया है। सदानन्द योगीन्द्र के प्रायेण समसामयिक अप्पयदीक्षित (१५२०-१५९३ ई०) के ग्रन्थों की चर्चा तो पहले की जा चुकी है। उनके पिता रंगराजाध्वरीन्द्र ने भी अद्वैतविद्यामुकुर और पञ्चपादिकाविवरण-दर्पण नामक दो वेदान्त-ग्रन्थ लिखे थे। अप्पय के कनीयान् समसामयिक मधुसूदन सरस्वती अपने अनेक उपयोगी एवं प्रामाणिक ग्रन्थों के द्वारा अद्वैत-वेदान्त सम्प्रदाय के उत्तरकालिक आचार्यों में सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। इनकी अद्वैतसिद्धि और उस पर गौडब्रह्मानन्द की गुरुचन्द्रिका और लघुचन्द्रिका की चर्चा की जा चुकी है। भगवद्गीता पर उनकी 'गूढार्थदीपिका' युगान्तरकारी कृति है। इसमें भक्ति की महत्ता सुप्रतिष्ठित है। उनका भगवद्भक्तिरसायन तो प्रतिपाद्य की मौलिकता और उसके गम्भीर प्रतिपादन के कारण अत्यन्त बहुमूल्य ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त भी उनके कई ग्रन्थ हैं। अप्पयदीक्षित के शिष्य प्रसिद्ध वैयाकरण भट्टोजिदीक्षित ने वेदान्ततत्त्वकौस्तुभ नाम से अद्वैतवेदान्त-विषयक ग्रन्थ की रचना करके माध्वमत अर्थात् द्वैत का खण्डन किया है। नृसिंहाश्रम (१६वीं शताब्दी ई०) ने वेदान्ततत्त्वविवेक पर 'दीपन' टीका लिखी। इसके अतिरिक्त उनके अद्वैतदीपिका, भेदधिक्कार, अद्वैतब्रह्मानुसन्धान और नृसिंहविज्ञापन इत्यादि कई प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। भट्टोजिदीक्षित के भाई रंगोजिदीक्षित के भी अद्वैतचिन्तामणि और अद्वैतशास्त्रोद्धार नामक दो अद्वैतवेदान्त-परक ग्रन्थ हैं। नृसिंहाश्रम के प्रशिष्य तथा

वेङ्कटनाथ के शिष्य धर्मराज अध्वरींद्र (१६वीं ई० शताब्दी) की वेदान्तपरिभाषा नव्यन्याय शैली में वेदान्तसम्मत छः प्रमाणों का विवेचन प्रस्तुत करने वाला प्रसिद्ध ग्रन्थ है। प्रमाणों पर इतना प्रामाणिक वेदान्ती विचार शायद ही किसी अन्य ग्रन्थ में एकत्र हो सके। इस पर रामकृष्ण अध्वरीन्द्र की वेदान्तशिखामणि तथा उस पर अमरदास की मणिप्रभा प्रसिद्ध टीकायें हैं। सत्रहवीं शताब्दी के काश्मीरक सदानन्द की अद्वैतब्रह्मसिद्धि की चर्चा सिद्धिनामान्त पाँच प्रसिद्ध ग्रन्थों के प्रसंग में की जा चुकी है। इसके अतिरिक्त १८वीं शताब्दी में सदानन्द व्यास नामक एक विद्वान् आचार्य के प्रत्यक्तत्त्वचिन्तामणि, अद्वैतसिद्धि-सिद्धान्तसार, गीताभावप्रकाश, स्वरूपनिर्णय, सटीकदशोपनिषत्सार तथा शंकरदिग्विजयसार आदि अद्वैतपरक ग्रन्थों की रचना की। १८वीं शताब्दी के ही गङ्गाधरेन्द्र सरस्वती का स्वाराज्यसिद्धि अद्वैत-वेदान्त का प्रकरण-ग्रन्थ है जो अपनी प्रतिपादन शैली और प्रतिपाद्य विषय—विशेषतः जीवन्मुक्ति—की अभिनवता और मौलिकता के कारण सर्वजनग्राह्य है। एवम् अद्वैतवेदान्त के वाङ्मय एवं उसके रचनाकारों का यह संक्षिप्त सर्वेक्षण समाप्त हुआ।

वेदान्तसार और उसके रचयिता सदानन्द

संस्कृत के दार्शनिक वाङ्मय में कम से कम तीन वेदांन्तसार प्राप्त होते हैं। इनमें से एक शंकराचार्य के नाम से 'रिपोर्ट्स आन संस्कृतमैनुस्क्रिप्ट्स इन साउथ इण्डिया' (मद्रास) में उल्लिखित है। यह अद्यावधि अप्रकाशित है। वाणीविलास प्रेस श्रीरंगम् से Minor Works of 'Sankara' नाम से प्रकाशित अनेक कृतियों में भी वेदान्तसार का समावेश नहीं हुआ है। ऐसी स्थिति में इसकी विषय-वस्तु और उसके आधार पर निश्चेतव्य उसकी प्रामाणिकता के सम्बन्ध में कुछ कहना कठिन है। दूसरा वेदान्तसार विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय का प्रामाणिक ग्रन्थ है जो रामानुजाचार्य-कृत है। तीसरा वेदान्तसार शाङ्करवेदान्त का महत्त्वपूर्ण 'प्रकरण' ग्रन्थ है जो परिव्राजक सदानन्द की कृति है। इस पर नृसिंहसरस्वती की 'सुबोधिनी', रामतीर्थ यति की 'विद्वन्मनोरञ्जनी' एवं प्रसिद्ध मीमांसक आपदेव द्वितीय की 'बालबोधिनी' टीकायें उपलब्ध हैं। बालबोधिनी वाणीविलास प्रेस, श्रीरङ्गम् से प्रकाशित है। यह टीकाकार के गम्भीर चिन्तन को प्रकट करने वाली प्रौढ़ रचना कही जा सकती है। मीमांसान्यायप्रकाश के रचयिता (द्वितीय) आपदेव मराठी भागवत के रचयिता भक्तप्रवर एकनाथ के प्रपौत्र, आपदेव प्रथम के पौत्र, अनन्त प्रथम के पुत्र तथा अनन्तदेव द्वितीय के पिता थे। शेष दोनों टीकायें निर्णयसागर प्रेस मुम्बई से सन् १९३४ में कर्नल जी०ए० जैकब द्वारा टिप्पणियों एवं दो परिशिष्टों के साथ सम्पादित वेदान्तसार के साथ प्रकाशित हो चुकी हैं। 'सुबोधिनी' टीका का उपसंहार नृसिंह सरस्वती द्वारा इस प्रकार किया गया है—

जाते पञ्चशताधिके दशशते संवत्सराणां पुनः
सञ्जाते दसवत्सरे प्रभुवरश्रीशालिवाहे शके।
प्राप्ते दुर्मुखवत्सरे शुभशुचौ मासेऽनुमत्यां तिथौ
प्राप्ते भार्गववासरे नरहरिष्टीकां चकारोज्ज्वलाम्।।

अ[illegible]रहरि (नृसिंह) ने शालिवाहन शक संवत् १५१० में 'दुर्मुख' नामक वत्सर के पवित्र आ[illegible]मास की 'अनुमति' अर्थात् कलाहीन चन्द्रमा वाली पूर्णिमा तिथि को शुक्र के दिन अपनी उज्ज्वल टीका पूर्ण की। इससे स्पष्ट है कि शक संवत् १५१० अर्थात् सन् १५८६ में यह टीका लिखी गई। यदि इस टीका के लेखन के समय नृसिंहसरस्वती की आयु चालीस वर्ष [illegible] आस-पास रही हो तो उनका जन्म १५४८ ई० के आस-पास हो सकता है। इस प्रकार नृसिंह सरस्वती का समय ईसवीय सोलहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध होना चाहिए। पं० बदरीनाथ शुक्ल ने वेदान्तसार की अपनी हिन्दी व्याख्या की भूमिका में 'विद्वन्मनोरञ्जनी' टीका के रचयिता रामतीर्थ को नृसिंहाश्रम का सतीर्थ्य बताते हुए ईसवीय सत्रहवीं शताब्दी में रखा है एवं अपनी इस मान्यता का कारण बताते हुए कहा है कि "अद्वैतसिद्धि के मंगलाचरण में मधुसूदन सरस्वती ने 'श्रीरामविश्वेश्वरमाधवानम्' में 'राम' शब्द से रामतीर्थ जी को ही विद्यागुरु के रूप में नमस्कार किया है। कतिपय आचार्यों ने सरस्वती जी के परमगुरु के रूप में इनको नहीं माना है किन्तु श्रीरामसरस्वती नामक किसी अन्य विशिष्ट विद्वान् की उपलब्धि उस शतक में न होने से परमगुरु के रूप में इनको न रखने में कोई समीचीन आधार नहीं है" (पृ० ३८)। पहले रामतीर्थ को 'विद्यागुरु' कहने के तुरन्त बाद 'श्री रामसरस्वती' को 'परमगुरु' कहने से बड़ा भ्रम पैदा होता है। १६वीं शताब्दी के रामतीर्थ यदि मधुसूदन सरस्वती के विद्यागुरु थे तो मधुसूदन सरस्वती निश्चित रूप से १७वीं शताब्दी के उत्तरार्ध के होंगे और यदि परम गुरु हुये तब तो वे निश्चित रूप से १७वीं शताब्दी के अन्तिम पाद तथा १८वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में चले जायेंगे। आचार्य शुक्ल ने उपर्युक्त विचार प्रकट करते समय इस पर बिलकुल ध्यान नहीं दिया। क्या मधुसूदन १७वीं शताब्दी के उत्तरार्ध या १८वीं के पूर्वार्ध में थे? क्या उनके अतिरिक्त कोई अन्य विद्वान् भी ऐसा मत रखता है? मधुसूदन सरस्वती तो १६वीं शताब्दी के उत्तरार्ध बादशाह अकबर के समकालिक तथा गोस्वामी तुलसीदास के समकालिक थे, भले ही उनके अवर या कनीयान् समसामयिक रहे हों। यह तथ्य सुविदित है कि काशी के पण्डितों द्वारा उनकी रामायण की प्रामाणिकता के लिए उसे सरस्वती जी के समक्ष रखे जाने की माँग की थी और सरस्वती जी ने–

आनन्दकानने ह्यस्मिन् जङ्गमस्तुलसीतरुः।
कवितामञ्जरी यस्य रामभ्रमर-भूषिता।।

श्लोक लिख कर अपना प्रवल समर्थन (रामायण के लिए) प्रकट किया था।

गोस्वामी जी बहुत लम्बी आयु का भोग कर वि० संवत् १६८० अर्थात् १६२३ ई० में दिवङ्गत हुए, यह भी सुप्रसिद्ध है–

"संवत् सोरह सौ असी, असी गङ्ग के तीर।
श्रावण शुक्ला सतमी तुलसी तज्यो शरीर।।"

ऐसी स्थिति में मधुसूदन सरस्वती का समय १६वीं शताब्दी के उत्तरार्ध [illegible] १७वीं के पूर्वार्ध तक ही होना चाहिए। इस तरह सरस्वती जी को रामतीर्थ क[illegible]ष्य या प्रशिष्य कहना और रामतीर्थ को १७वीं शताब्दी का कहना असंगत और अटपटा[illegible]गता है। वेदान्तकल्पतरु-परिमल के रचयिता अप्पयदीक्षित को 'सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र' कहकर [illegible]शंसा करने से मधुसूदन उनके परवर्ती सिद्ध होते हैं। अप्पय का समय १५२० से १५[illegible] ई० निश्चित प्राय है। इससे मधुसूदन सरस्वती का पूर्वोक्त समय ही सिद्ध होता है।

नृसिंह सरस्वती को १६वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में होना पहले सिद्ध किया जा चुका है। अतः सदानन्द का समय इससे पूर्व होगा। वेदान्तसार में विद्यारण्य-कृत पञ्चदशी के श्लोक उद्धृत करने से विद्यारण्य का जीवनकाल (१४वीं शताब्दी) सदानन्द के काल की पूर्वसीमा होगी। विद्यारण्य १३७७ ई० से १३८६ ई० तक शृंगेरी मठ की शंकराचार्य-गद्दी पर आसीन थे, इससे न्यूनाधिक रूप से चौदहवीं शताब्दी उनका समय सिद्ध होता है। इस प्रकार परिव्राजक सदानन्द का काल १५वीं शताब्दी का उत्तरार्ध हो सकता है। परन्तु इसके विरुद्ध यह तथ्य आड़े आता है कि अप्पयदीक्षित ने अपने 'सिद्धान्तलेशसंग्रह' में इनका या इनके मत का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है, जबकि पन्द्रहवीं शताब्दी के ही आनन्दगिरि के 'शंकरदिग्विजय' नामक ग्रन्थ का उल्लेख किया है। ऐसी स्थिति में सदानन्द का समय १६वीं का पूर्वार्ध ही माना जा सकता है, उसके पूर्व नहीं। इसी से १५२० से १५९३ ई० तक वर्तमान अप्पय का उनका कहीं उल्लेख न करना संगत होता है। एक और बात यह भी है कि सदानन्द के प्रशिष्य नृसिंह सरस्वती ने जब वेदान्तसार पर अपनी टीका १५८८ ई० में पूरी की तो दो पुश्तों के बीच ५० से ६० वर्ष का व्यवधान मानने पर १५२५ ई० के आस-पास ही सदानन्द का आविर्भाव माना जाना चाहिए। यही सयम महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज मानते हैं और यह मत सर्वथा उपयुक्त एवं तर्कसंगत लगता है। डॉ० कीथ तथा पी०सी० दीवान ने वेदान्तसार की रचना का काल १५०० ई० से पूर्व ही माना है जो सत्य से दूर नहीं प्रत्युत उसके समीप ही समझा जाना चाहिए।

वेदान्तसार के रचयिता सदानन्द १७वीं के उत्तरार्ध के काश्मीरक सदानन्द से स्पष्ट ही भिन्न हैं। काश्मीरक सदानन्द प्रसिद्ध "अद्वैतब्रह्मसिद्धि" के रचयिता हैं। स्वरूपप्रकाश और ईश्वरवाद इनकी अन्य दो रचनायें हैं। वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के सरस्वती भवन पुस्तकालय में स्वरूपप्रकाश की पाण्डुलिपि उपलब्ध है। यह ३० पन्नों की हस्तप्रति

है। अपने शोधग्रन्थ के लेखन में मैंने इसक[illegible]ोग १९५० ई० के जून माह में किया [illegible]समें तत्त्व के स्वरूप और उसके सा[illegible]वरिष्ठ साधन के रूप में भक्ति पर [illegible]ाला गया है। स्वरूपनिर्णय को भी इ[illegible]रचना मानने के पक्ष में कविराज जी [illegible] यह अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में [illegible]ोने वाले सदानन्द व्यास की रचना है। इ[illegible]त्तसार के रचयिता परिव्राजक सदानन्द तीनों में सर्वाधिक पूर्ववर्ती थे, यह प्रा[illegible]क और सुनिश्चित तथ्य है। उदयवीर शास्त्री ने अपने 'सांख्य दर्शन का इतिहास' नामक [illegible]न्थ में अद्वैतब्रह्मसिद्धिकार काश्मीरक सदानन्द को वेदान्तसार-कर्ता सदानन्द समझने की भूल की थी जिसका खण्डन कई विद्वान् कर चुके हैं। काश्मीरक सदानन्द के गुरु १[illegible]वीं शताब्दी के उत्तरार्ध के ब्रह्मानन्द थे जिन्होंने मधुसूदन सरस्वती की अद्वैतसिद्धि पर गुरुचन्द्रिका तथा लघुचन्द्रिका टीकायें लिखी थी, जबकि वेदान्तसार के रचयिता सदानन्द (योगीन्द्र) के गुरु वेदान्तसार के द्वितीय श्लोक के अनुसार अद्वयानन्द थे। इस प्रकार दोनों कथमपि एक नहीं हो सकते।

अद्वैतवेदान्त की सर्वाङ्ग-सम्पूर्ण व्याख्या सुविस्तृत रूप से शंकराचार्य के ब्रह्मसूत्रभाष्य तथा उनके शिष्यों-प्रशिष्यों के टीकाग्रन्थों एवं मौलिक कृतियों के द्वारा प्रस्तुत की जा चुकी थी। तथापि भाष्य अपनी विशालता और विस्तृति के कारण, तथा वाचस्पति मिश्र की भामती, श्रीहर्ष का खण्डनखण्डखाद्य, प्रकाशात्मा का पञ्चपादिकाविवरण तथा उस पर विद्यारण्य का विवरणप्रमेयसंग्रह इत्यादि ग्रन्थ, बाल की खाल निकालने वाली क्लिष्ट शैली एवं जटिल-दुरूह तर्कों के कारण सुकुमार-मति जिज्ञासुओं के लिए दुर्गम और दुष्प्रवेश थे। उन्हें अपेक्षा थी एक ऐसे ग्रन्थ की जो विशद एवं सुबोध शैली तथा प्राञ्जल भाषा में वेदान्त शास्त्र के निगूढ तत्त्वों एवं सिद्धान्तों को प्रस्तुत करने में समर्थ हो। इसे पूरा किया परिव्राजक सदानन्द ने वेदान्तसार की रचना करके। अद्वैतवेदान्त के प्रमुख सिद्धान्त-प्रतिपादक प्रकरण-ग्रन्थों में सबसे संक्षिप्त एवं लघुकाय, साथ ही सुस्पष्ट और सुबोध वेदान्तसार ही है। यही गुण इसकी लोकप्रियता का कारण है। अद्वैतवेदान्त के प्रमुख सिद्धान्तों को संक्षेप में जानने-समझने के लिए इससे अधिक अच्छा अन्य कोई ग्रन्थ नहीं है। इसमें अद्वैत दर्शन की दोनों धाराओं—प्रतिबिम्बवाद तथा अवच्छेदवाद—का समन्वय करते हुए अध्यारोपापवाद की प्रक्रिया के द्वारा सच्चिदानन्द, अनन्त, अद्वय ब्रह्मवस्तु में अज्ञानादि सकल जड़समूह रूप जगत्प्रपञ्च का आरोप तथा उसके ज्ञान द्वारा इस अज्ञानादि जडसमूह का अपवाद, उस वस्तु (ब्रह्म) के ज्ञान के बहिरङ्ग 'साधन-चतुष्टय' तथा अन्तरंग 'श्रवण-मनन-निदिध्यासन' से उत्पन्न होने वाली सविकल्पक (सम्प्रज्ञात) समाधि तथा उसकी परिपक्वावस्था रूप निर्विकल्पक (असम्प्रज्ञात या निर्वीज) समाधि, एवं उसकी भी फलभूत जीवन्मुक्ति एवं अन्ततः विदेहमुक्ति इत्यादि सारे प्रमुख सिद्धान्तों का ग्रन्थकार ने बड़ी ही कुशलता के साथ संक्षिप्त किन्तु सुस्पष्ट विवेचन प्रस्तुत किया है। स्पष्टता, शुद्धता एवं संक्षिप्तता की दृष्टि से इस विवेचन को अद्भुत ही कहना चाहिए। वेदान्तसार की

इस महनीयता से प्रभावित होकर इसकी रचना के सौ-पचास वर्षों के भीतर ही सदानन्द योगीन्द्र के प्रशिष्य नृसिंह सरस्वती [illegible] थोड़े ही अन्तराल के बाद रामतीर्थ [illegible] ने अपनी-अपनी व्याख्यायें प्रस्तुत कीं। [illegible] की 'विद्वन्मनोरञ्जनी' व्याख्या के [illegible] चिन्तन-मनन से ही वेदान्तसार की गहनता और गम्भीरता का सही अनुमान य[illegible] हो पाता है। उपनिषदादि श्रुतियों के कितने सन्दर्भ, एवं महामहनीय आदिशंकर[illegible] भाष्यों से लेकर माधवाचार्य विद्यारण्य की पञ्चदशी तक के कितने प्रामाणिक व[illegible] और कथन इस छोटे से प्रकरण-ग्रन्थ में ग्रथित-गुम्फित हैं, इसका सही अन्दाज [illegible] इसकी विद्वन्मनोरञ्जनी तथा सुबोधिनी (नृसिंहसरस्वती-कृत) टीकाओं से ही लग पा[illegible]ता है। सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के प्रसिद्ध मीमांसक आपदेव की 'बालबोधिनी' टीका से भी यह तथ्य प्रमाणित होता है।

वेदान्तसार के महत्त्वपूर्ण संस्करण

ग्रन्थ की इस महनीयता के कारण अद्वैतसम्प्रदायविद् भारतीय मनीषी ही नहीं प्रत्युत अनेक पाश्चात्य विचारक, विद्वान् भी इसे समझने-समझाने के प्रयास में लगे। सन् १८४५ में Dr. Roer ने इस पर सर्वप्रथम अंग्रेजी अनुवाद 'जनरल आव् द एशियाटिक सोसाइटी आफबङ्गाल' में प्रकाशित कराया। उसी को आधार बनाकर १८५० ई० में डॉ० जे०आर० बैलन्टाइन ने एक परिष्कृत अनुवाद काशी से प्रकाशित किया। १८७३ ई० में इसका एक अंग्रेजी अनुवाद विद्वन्मनोरञ्जनी के साथ 'पण्डित' पत्रिका में भी प्रकाशित हुआ। किन्तु इसमें छापे की अनेक अशुद्धियाँ रह गई थीं, जिससे वेदान्तसार का यह संस्करण प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। इसके अनन्तर सन् १८७७ में Dr. Bochtlingk ने इसका जर्मन अनुवाद प्रकाशित किया। इसका सबसे प्रामाणिक संस्करण १८९३ ई० में नृसिंह सरस्वती की सुबोधिनी तथा रामतीर्थ की विद्वन्मनोरञ्जनी टीकाओं के साथ कर्नल जी०ए० जैकब ने इण्डिया आफिस लायब्रेरी और पूना में उपलब्ध पन्द्रह हस्तलेखों के आधार पर वैज्ञानिक पद्धति से सम्पादन करके, विभिन्न पाठभेदों, टिप्पणियों तथा शब्द-सूची के साथ निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित करवाया था। इसके बाद इसका द्वितीय संस्करण १९११ ई० में प्रकाशित हुआ। बाद में दो संस्करण और निकले और १९३४ ई० में इसका पाँचवाँ संस्करण निकला। १९२९ ई० में प्रो० हिरियन्ना ने डॉ० गङ्गानाथ झा की अँग्रेजी-भूमिका तथा अपने अंग्रेजी-अनुवाद एवं टिप्पणी के साथ पूना से प्रकाशित कराया था। प्रो० हिरियन्ना के संस्करण का उपयोग मैंने स्वयं १९४३ ई० में अपनी एम०ए० (प्रथम वर्ष) परीक्षा की तैयारी में किया था। वेदान्तसार का एक संस्करण वाणीविलास प्रेस, श्रीरंगम् से आपदेव की बालबोधिनी टीका के साथ काफी पहले प्रकाशित हुआ था जो अब उपलब्ध नहीं है।

॥ वेदान्तसारः ॥

सुबोधिनीव्याख्या

(नृसिंहसरस्वती-कृत)

अखण्डं सच्चिदानन्दमवाङ्मनसगोचरम्।
आत्मानमखिलाधारमाश्रयेऽभीष्टसिद्धये॥१॥

इह खलु कश्चिन्महापुरुषो नित्याध्ययनविध्यधीतसकलवेदराशीनां चिन्मात्राश्रयतद्रूपाद्वयानन्दविषयानाद्यनिर्वचनीयभावरूपाज्ञानविलसितानन्तभवानुष्ठितकाम्यनिसिद्धवर्जितनित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तोपासनाकर्मभिः सम्यक्प्रसन्नेश्वराणामिष्टिकाचूर्णादिसंघर्षितादर्शतलवदतिनिर्मलाशयानां नलिनीदलगतजलबिन्दुवद्धिरण्यगर्भादिस्तम्बपर्यन्तं जीवजातं स्वात्मवन्मृत्योरास्यान्तर्गतं क्षणभङ्गुरं तापत्रयाग्निसन्दह्यमानमनिशमात्मन्यनुपश्यतामतिविवेकिनामत एवैहिकस्रक्चन्दनादिविषयभोगेभ्य आमुष्मिकहैरण्यगर्भाद्यमृतभोगेभ्यश्च वान्ताशन इवातिनिर्विण्णमानसानां शमादिसाधनसम्पन्नानामापाततोऽधिगताखिलवेदार्थत्वाद्देहाद्यहङ्कारपर्यन्तं जडपदार्थतद्विलक्षणस्वप्रकाशस्वरूपे प्रत्यगात्मनि ब्रह्मानन्दत्वे संशयापन्नानां तज्जिज्ञासूनामल्पश्रवणेन मूलाज्ञाननिवृत्तिपरमानन्दावाप्तिसिद्धये प्रकरणमारभमाणः समाप्तिप्रचयगमनादिफलकशिष्टाचारपरिप्राप्तेष्टदेवतानमस्कारलक्षणमङ्गलाचरणस्यावश्यकर्त्तव्यतां प्रदर्शयँल्लक्षणयानुबन्धचतुष्टयं निरूपयन् परमात्मानं नमस्कुरुतेऽखण्डमित्यादिना। अभीष्टस्य निःश्रेयसस्य सिद्धये प्राप्त्यर्थम्। आत्मानमाश्रये। एकत्वेन प्रतिपद्य इत्यर्थः। नन्वविषयस्यात्मनः कथं प्रतिपत्तिरित्याशङ्क्याह अखिलाधारमिति। अखिलस्य चराचरात्मकप्रपञ्चस्य विवर्ताधिष्ठानत्वेन कारणत्वाक्रान्तं ब्रह्मैव प्रतिपद्ये न तु शुद्धमित्यर्थः। नन्वेवं च सति प्रतिपत्तिविषयत्वेन दृश्यत्वापत्तिमाशङ्क्याह अवाङ्मनसगोचरमिति। "यतोवाचो निवर्तन्त" इत्यादिश्रुतिभिरविषयत्वप्रतिपादनात्। प्रतिपत्तिविषयत्वं कारणत्वोपलक्षितब्रह्मविषयत्वेनौपचारिकमिति भावः। नन्वेवमपि कारणत्वे मृत्पिण्डवदनित्यत्वशङ्कामपहरन्नाह सदिति। नाशाभावोपलक्षितस्वरूपं "सदेव सौम्य" इत्यादिश्रुतेः। ननु तथापि जडत्वापत्तिमाशङ्क्याह चिदिति। स्वप्रकाशचैतन्यस्वरूपमिति यावत्। ननु तथाप्यपुरुषार्थत्वात्किमित्याश्रयणीयमित्यत आह आनन्दमिति। परमानन्दस्वरूपमित्यर्थः। ननु "भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधिः" इति न्यायेन प्रपञ्चस्याधिष्ठानव्यतिरिक्ततया प्रतीयमानत्वात्कथमद्वैतसिद्धिरित्याशङ्कां तृणीकुर्वन्नाह अखण्डमिति। सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्यमित्यर्थः। अत्र सच्चिदानन्दमिति प्रयोजनमखण्डमिति विषयः शास्त्रविषययोः प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावः सम्बन्धस्तत्कामोऽधिकारीत्यनुबन्धचतुष्टयमर्थादुक्तं भवति॥१॥

अर्थ—अभीष्ट की सिद्धि के लिए (मैं) अखण्ड, सच्चिदानन्द, वाणी एवं मन का

विषय न बनने वाले तथा समस्त जगत् के अधिष्ठानरूप आत्मा का आश्रय अर्थात् उसकी शरण लेता हूँ।

विशेष–(१) अखण्डम्–जो देश, काल और वस्तु से अखण्डित हो, अर्थात् [illegible]। सर्वव्यापक होने से आत्मा या ब्रह्म का देश-कृत परिच्छेद या खण्ड नहीं है। इसी [illegible] नित्य होने से उनका काल-कृत खण्ड भी नहीं है। समस्त जागतिक वस्तुओं के [illegible]रूप होने से अर्थात् उससे जागतिक वस्तुओं के भिन्न (पृथक्) सत्ता वाला न होने से [illegible] का वस्तु-कृत खण्ड या परिच्छेद भी नहीं है। एवं ब्रह्म (आत्मा) तीनों प्रकार से अखण्ड, अनन्त हैं।

(२) सच्चिदानन्दम्–स्वरूप से सत् चित् एवं आनन्द। सत्ता, चेतना या [illegible] तथा आनन्द ब्रह्म के स्वरूप हैं, उनके गुण या धर्म नहीं। दोनों में परस्पर गुण-गुणिभाव या धर्म-धर्मिभाव नहीं है, 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तैत्तिरीय० २।१।१) तथा 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृहदारण्यक ३।६।२८) इत्यादि श्रुति-वचनों में ब्रह्म का सत्य (सत्ता), ज्ञान (चेतना या चैतन्य) तथा आनन्द के साथ सामान्याधिकरण कथित होने से ब्रह्म का सत्स्वरूप, चित्स्वरूप एवं आनन्दस्वरूप होना सिद्ध होता है। ब्रह्म यदि सत् न होकर अनृत या शून्य हो तो सृष्टि निराधार होगी जो कि असम्भव है। कोई भी सृष्टि किसी आधार पर ही होती है। इसी प्रकार यदि ब्रह्म चैतन्य-स्वरूप न हो तो अन्धकार की तरह जड़ होगा। यह चैतन्य या ज्ञान सत्ता की ही भाँति नित्य है, त्रिकालाबाधित है, अनित्य नहीं। इसी प्रकार आनन्द भी नित्य है। यह सांसारिक सुख की भाँति क्षणिक, किञ्चित्कालिक या अनित्य नहीं है।

'सच्चिदानन्दम्' कथन से अखण्ड ब्रह्म के सत्ता, चैतन्य (ज्ञान) और आनन्द ये तीन खण्ड या विभाग प्रतीत होते हैं। किन्तु ऐसा है नहीं। वस्तुतः एक ही अखण्ड ब्रह्म को एक दृष्टि से सत्, दूसरी दृष्टि से चित् तथा तीसरी दृष्टि से आनन्द कहा जाता है। जो सत् है, वही चित् है, वही आनन्द है।

(३) अवाङ्मनसगोचरम्–'सच्चिदानन्दम्' पद द्वारा ब्रह्म का विधि-मुख से निरूपण करके, 'अवाङ्मनसगोचरम्' पद द्वारा उसका निषेध-मुख से निरूपण ग्रन्थकार करते हैं। इस प्रकार के निरूपण का आधार 'नेति नेति' (बृहदा० २।३।६), अस्थूलमनणु... (बृहदा० ३।८।८), 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' (तैत्ति० २।४।१), 'नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा' (कठ० २।३।१२), 'यद् वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते' (केन० १।४), तथा 'यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्' (केन० १।५) इत्यादि अनेक श्रुति-वचन हैं।

मूल के पद का विग्रह इस प्रकार है–वाक् च मनश्चेति वाङ्मनसे, तयोः गोचरः इति वाङ्मनसगोचरः, न वाङ्मनसगोचर इति अवाङ्मनसगोचरः, तम् (आत्मानम्)।

सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने के कारण यह वागादि [illegible] एवं मन नामक आन्तरिक इन्द्रिय का भी विषय नही बन सकता। सर्व-साक्षी होने [illegible] आत्मा किसी का विषय नही बनता। प्राण, बुद्धि आदि का भी नहीं। वाक् समस्त [illegible] ग्राह्य इन्द्रियों का उपलक्षण है, उससे [illegible] ग्रहण अभीष्ट है।

(४) अखिलाधारम्—ब्रह्म का स्वरूप-लक्षण बताकर इस पद के द्वारा उसका तटस्थ-लक्षण दिया गया है। इसका विग्रह इस प्रकार है—अखिलस्य (आकाशादिप्रपञ्चस्य) आधार: (आश्रय:, अधिष्ठानं, कारणं वा) इति अखिलाधारस्तम् (आत्मानम्)। इस प्रकार आत्मा को सारी सृष्टि का अधिष्ठान या कारण (उपादान) बता कर, उसका तटस्थ लक्षण स्पष्ट किया गया है। इस कथन का आधार 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि, जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्मेति। (तैत्ति० ३।१।१)। एवं इसी प्रकार के अन्य भी श्रुति-वचन हैं। इसका अर्थ यह है कि 'निस्सन्देह जिससे ये सारे प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिसके आश्रय से जीवित रहते हैं, एवं अन्तत: (यहाँ से) प्रयाण करते हुए जिसमें प्रविष्ट् हो जाते हैं—मिल जाते हैं, उसे जानने की इच्छा करो, वही ब्रह्म है। कृष्णद्वैपायन बादरायण व्यास का ब्रह्मसूत्र 'जन्माद्यस्य यत:' (१।१।२) इसी पर आधृत है।

तटस्थ-लक्षण शङ्करवेदान्त का पारिभाषिक शब्द है, अत: इसका निरूपण आवश्यक है। 'तटस्थ' शब्द का अर्थ होता है 'किनारे पर स्थित'। कोई पथिक कहीं जा रहा था। उसकी जानकारी के अनुसार रास्ते में कोई नदी पड़ती थी। जिस क्षेत्र में नदी पड़ने की बात थी, उसके करीब पहुँचने पर उसने पास-पड़ोस में पूछा कि नदी कहाँ है। एक ने नदी के किनारे स्थित हरे-भरे वृक्ष को दिखा कर कहा कि वही नदी है। वस्तुत: किनारे के वृक्ष तो नदी नहीं थे। हाँ, वृक्ष नदी के तट पर ही लगे थे। पथिक उस व्यक्ति की बात मानकर वृक्षों की पंक्ति को देखता हुआ आगे बढ़ता गया, तो कुछ ही देर में वह उसके तट जा पहुँचा जहाँ वृक्ष खड़े थे और नीचे नदी बह रही थी। व्यक्ति के द्वारा दिखलाये गये तटस्थ वृक्ष 'नदी' नहीं थे, नदी उनके समीप बह रही थी, तथापि वे नदी के बोधक बने, लक्षण बने। ऐसा होने पर ही पथिक को उस लक्षण से नदी मिल सकी। अत: यह नदी का लक्षण कहा जायेगा—'स्वरूप'—लक्षण नहीं; 'तटस्थ'—लक्षण।[1] जैसे तट और उस पर खड़े वृक्ष नदी के निकटतम होकर भी जल-धारा रूप नदी से भिन्न हैं, उसी प्रकार शङ्करवेदान्त का ब्रह्म ही एकमात्र सत् वस्तु है, शेष सारा प्रपञ्च उसमें माया के द्वारा आरोपित होने से उससे भिन्न अर्थात् असत् या मिथ्या है। फिर ऐसी सृष्टि का उपादान मानकर ब्रह्म को उसका कर्त्ता, धारयिता एवं संहर्ता मानना कैसे ठीक कहा जा सकता है। स्वरूपत: तो वह सत्, चित् तथा आनन्द है। किन्तु ऐसा होने पर भी जगत् की सृष्टि,

१. तद्भिन्नत्वे तद्बोधकं तटस्थलक्षणम्।

स्थिति तथा संहार को श्रुतियाँ उसका [illegible] कार्य मानती हैं, और साधक द्वारा इस रूप से उपासित होने पर वह अन्तत [illegible] भीं जाता है, जैसे पथिक को आरोपित वृक्षों से नदी मिल जाती है। तो इसे ब्रह्म[illegible] स्वरूप-लक्षण न सही, तटस्थ-लक्षण तो मानना ही होगा। बिना लक्षण के लक्ष्य की प्राप्ति कैसे हो सकती है, और जब जगत्-प्रप[illegible] सृष्टि, स्थिति और संहार को ब्रह्म में आरोपित करके स्रष्टा, पालक तथा संहा[illegible] रूप में उपासना करने से श्रुत्यनुसार उसकी प्राप्ति निश्चित रूप से होती है, तब तो वह [illegible] का लक्षण हुआ ही—स्वरूपगत साक्षात् लक्षण नहीं अपितु तटस्थवृक्षवत् समीपस्थ लक्ष[illegible]। तो मूल का 'अखिलाधारम्' विशेषण-पद आत्मा या ब्रह्म का इसी प्रकार का लक्षण [illegible] यह राजा के क्षत्र-चामर आदि की तरह ब्रह्म का कादाचित्क— कभी-कभी रहने वा[illegible] धर्म है, सत्-चित्-आनन्द की तरह स्वरूप-भूत नित्य धर्म नहीं है।

(५) मूल में जितने विशेषण पद हैं, उनकी संगति 'आत्मानम्' इस विशेष्य पद के साथ कैसे होगी? इस प्रश्न का समाधान यह है कि उपनिषदें एवं उन पर आधृत वेदान्तशास्त्र ब्रह्म एवं आत्मा में तनिक भी भेद स्वीकार नहीं करते। इसके विपरीत वे दोनों की एकता या अभिन्नता अनेकशः प्रतिपादित करते हैं। 'अयमात्माब्रह्म', 'अहं ब्रह्मास्मि', 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' जैसे श्रुति-वाक्य इसमें प्रमाण हैं। श्रुति इस आत्मा या ब्रह्म को ही सर्व-देवतात्मक मानती है—"आत्मेत्येवोपासीतात्रह्येते सर्व एकं भवन्ति" (बृ० १।६।७)। इस श्रुति से आत्म-शब्द की निर्विशेषप्रत्यक्चैतन्य-निष्ठता सुनिश्चित है। इसी से इसकी शरण लेकर मङ्गलाचरण सम्पन्न किया गया, वाणी-विनायकादि की स्तुति नहीं की गई।

"यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः" (श्वेताश्व० ६।२३) इत्यादि श्रुतिवचनानुसार वेदान्त-प्रतिपाद्य अर्थों के सम्यक्-प्रकाशनार्थ देववत् गुरु की आराधना के अनन्तर ही समस्त वेदान्त-वाङ्मय के सार-रूप अपने 'वेदान्तसार' नामक ग्रन्थ के निर्माण की प्रतिज्ञा परिव्राजक सदानन्द इस प्रकार करते हैं—

अर्थतोऽप्यद्वयानन्दानतीतद्वैतभानतः।
गुरूनाराध्य वेदान्तसारं वक्ष्ये यथामति।।२।।

किञ्च "यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मन" इत्यादिश्रुत्या गुरुनमस्कारस्यापि शास्त्राङ्गत्वप्रतिपादनात्तन्नमस्कारोऽपि पृथक्त्वेन कार्य इति तन्नतिपूर्वकमभिधेयग्रन्थं प्रतिजानीते अर्थतोऽपीति। अपिशब्देन न केवलं शब्दतो डित्थादिवत्संज्ञामात्रं व्यवस्थितमपित्वर्थतः शब्दतश्चेति। अद्वयानन्दान् गुरूनाराध्य वेदान्तसारं यथामति वक्ष्य इत्यन्वयः। अद्वयाश्च ते आनन्दाश्चाद्वयानन्दास्तानद्वयानन्दान्। तत्र हेतुमाह अतीतद्वैतभानत इति। अतीतं गतं द्वैतभावं यतस्तस्मादतीतद्वैतभानतः। निरस्त-समस्तभेदज्ञानत्वादित्यर्थः। तान् गुरूनाराध्य कायवाङ्मनोभिर्नमस्कारगोचरीकृत्य।

वेदान्तसारं वेदान्तानामुपनिषद्वाक्यजातानां ... यत्सारं सिद्धान्तरहस्यं यस्मिन् ज्ञाते पुनर्ज्ञातव्यं नावशिष्यते तं वेदान्तसारं ...द्धिमनतिक्रम्य वक्ष्ये प्रतिपादयिष्य इत्यर्थः।।२।।

...र्थ–द्वैत की प्रतीति दूर हो जाने से ... अर्थ की दृष्टि से भी (केवल नाम की ही दृष्टि से नहीं) अद्वयानन्द हैं, उन गुरुदेव की (स्तुति, प्रणाम आदि के द्वारा) वन्दना करके ...पनिषदों के सार (सिद्धान्त) का स्वबुद्ध्यनुसार वर्णन करूँगा।

...विशेष–(१) अद्वयानन्दान्–अद्वये (अद्वैते आत्मनि) आनन्दो येषां, तान्। अर्थात् भेद-र...त आत्मतत्त्व के आनन्द-महोदधि में निरन्तर निमग्न रहने से 'अद्वयानन्द' इस सार्थक नाम ... ले।

(२) अतीतद्वैतभानतः–द्वैतस्य भानं द्वैतभानं, अतीतं (गतमित्यर्थः) द्वैतभानं (द्वैतबुद्धिः, भेदज्ञानं भेदप्रतीतिर्वा) इति अतीतद्वैतभानं, ततः (तस्यादित्यर्थः) अतीतद्वैतभानम्। अथवा, अतीतं द्वैतं यस्मात् सः अतीतद्वैतः (आत्मेत्यर्थः), तस्य भानं ज्ञानम् अतीतद्वैत-भानं, तस्मात्। आत्मज्ञानकारणादित्यर्थः। द्वैत या भेद से रहित होने के कारण आत्मा अतीतद्वैत हुआ, उसका भान अर्थात् ज्ञान या साक्षात्कार होने से।

वेदान्तो नामोपनिषत्प्रमाणं तदुपकारीणि शारीरकसूत्रादीनि च। अस्य वेदान्तप्रकरणत्वात्तदीयैरेवानुबन्धैस्तद्वत्तासिद्धेर्न ते पृथगालोचनीयाः।।३।।

इदानीं सर्वस्यापि वस्तुविचारोद्देशपूर्वकत्वात्प्रतिज्ञातं वेदान्तं नामतो निर्दिशति वेदान्तो नामेति। उपनिषद् एव प्रमाणमुपनिषत्प्रमाणम्। उपनिषदो यत्र प्रमाणमिति वा। तदुपकारीणि वेदान्तवाक्यसङ्ग्राहकाणि शारीरकसूत्रादीनि "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इत्यादीनि सूत्राणि। आदिशब्देन भगवदीताद्यध्यात्मशास्त्राणि गृह्यन्ते तेषामप्युपनिषच्छब्द-वाच्यत्वादिति भावः ननु यद्यप्यवान्तरानुबन्धचतुष्टयमापद्येतेति निर्दिष्टं तथापि परमानुबन्धचतुष्टयस्यानिरूपितत्वादत्र प्रेक्षावतां प्रवृत्तिर्न स्यादित्यत आह अस्य वेदान्तेति। अस्य वेदान्तसारस्येत्यर्थः।।३।।

अर्थ–'वेदान्त' नाम उन उपनिषदों का है जो ब्रह्मज्ञान-रूप प्रमा का मुख्य साधन है।[1] इन उपनिषदों के उपकारक (अर्थात् इनके अर्थ का अनुसरण, प्रतिपादन तथा पल्लवन करने वाले) शारीरक-सूत्र (अर्थात् ब्रह्मसूत्र या वेदान्तसूत्र) आदि[2] भी (उपचार अर्थात् उपनिषच्छब्देन उपनिषदबाङ्मयंतन्नामकोग्रन्थराशिरत्राभिप्रेतः। गौण या अप्रधान रूप

---

१. उपनिषच्छब्देन उपनिषद् वाङ्मयं, तन्नामको ग्रन्थराशिरत्राभिप्रेतः। प्रमाणं नाम प्रमायाः करणम्।

२. (i) आदिशब्दो भाष्यादिसंग्रहार्थः।–विद्वन्मनोरञ्जनी

(ii) आदिशब्देन भगवद्गीताद्यध्यात्मशास्त्राणि गृह्यन्ते, तेषामप्युपनिषदच्छब्दवाच्यत्वादिति भावः।–नृसिंहसरस्वती-कृत सुबोधिनी, पृ० ३ (मूलपाठ)

से) 'वेदान्त' हैं। वेदान्त शास्त्र का प्रकरण-रूप होने के कारण, उसी के अनुबन्धों (अपरिहार्य अङ्गों) से इस ग्रन्थ (वेदान्तसार) की तद्युक्तता सिद्ध है। अर्थात् जो अनुबन्ध वेदान्तशास्त्र के हैं, वे ही इस वेदान्तसार नामक प्रकरण-ग्रन्थ के भी हैं। अतः अलग से उन पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है।

विशेष—(१) वेदान्तः—वेदान्तानामन्तोऽवसानभागो वेदान्त इति व्युत्पत्तियोगान्मुख्यो वेदान्तशब्दो वेदभागभेदेषु, शारीरकादौ तूपचरितः।—रामतीर्थ-कृत विद्वन्मनोरञ्जनी। वैदिक वाङ्मय का अन्तिम भाग होने के कारण मुख्यतः उपनिषदों को ही 'वेदान्त' कहा जाता है। उनका उपकारक होने से शारीरक-सूत्र आदि ग्रन्थों को तो गौण या अमुख्यरूप से ही 'वेदान्त' कहा जाता है। रामतीर्थ के कथन का यही तात्पर्य है। वस्तुतः तो रामतीर्थ समस्त वैदिक शाखाओं के उत्तर भागों में पठित ग्रन्थराशि को भी उपचार से ही 'प्रमाण' कहते हैं। मुख्यरूप से तो प्रमाण इन ग्रन्थों के द्वारा प्रतिपादित ब्रह्मविद्या ही है। यह तथ्य विशेष संख्या (२) के अन्त में उद्धृत वाक्य से स्पष्ट है। कठोपनिषद् के अवतरणिका-भाष्य में शङ्कराचार्य ने भी 'उपनिषद्' का मुख्यार्थ ब्रह्मविद्या ही लिया है—"उपनिषच्छब्देन च व्याचिख्यासितग्रन्थप्रतिपाद्यवेद्यवस्तुविषया विद्योच्यते।" अपने इस मन्तव्य के कारण-रूप से जिन तथ्यों को भाष्यकार ने आगे उजागर किया है, उसी का अनुसरण रामतीर्थ ने अपने उद्धृत वाक्य में किया है।

(२) उपनिषद्—यह शब्द उप + निपूर्वक + षद्लृ (सद्) धातु से 'कर्त्ता' अर्थ में क्विप् प्रत्यय जोड़ने से बनता है। 'उप' का अर्थ है समीप। 'नि' का अर्थ है निश्चयपूर्वक। षद्लृ धातु के तीन अर्थ हैं—विशरण अर्थात् विनाश, गति अर्थात् प्राप्ति तथा अवसादन अर्थात् शिथिलीकरण। 'उपनिषद्' शब्द के विषय में ये तीनों ही अर्थ घटित होते हैं। वैराग्य आदि साधनों से युक्त किसी मुमुक्षु के द्वारा तत्त्वज्ञ गुरु के समीप जाकर निष्ठापूर्वक अनुशीलित होने पर ये उपनिषदें सर्व-प्रथम उसकी सांसारिक बुद्धि (संसार ही सार है, इस भाव) को शिथिल या क्षीण करती हैं, तदनन्तर उसके जन्म-मरण रूप संसार-चक्र को तत्कारणभूत अज्ञान के नाश द्वारा नष्ट कर देती हैं, एवं अन्ततः उसे उसके वास्तविक स्वरूप अर्थात् ब्रह्म की उपलब्धि या प्राप्ति करा देती हैं। इस प्रकार उपनिषत्पदवाच्य तो वस्तुतः ब्रह्मविद्या ही है, क्योंकि ये फल उसी के हैं, किन्तु ब्रह्मविद्या के साधनभूत उपनिषद्-ग्रन्थ तदर्थ (उसी के लिए) होने से, इस ग्रन्थ-राशि के विषय में भी 'उपनिषद्' शब्द का प्रयोग गौण रूप से किया जाता है। वेदान्तसार के रचयिता सदानन्द ने प्रस्तुत सन्दर्भ में ब्रह्मविद्या की प्रमाण-भूत इसी ग्रन्थ-राशि को 'वेदान्त' कहा है। विद्वन्मनोरञ्जनीकार के अनुसार तो ब्रह्मविद्या ही प्रमाण है। उसकी करणभूत ग्रन्थ-राशि भी प्रमाण है परन्तु गौण रूप से:—"तस्माद् ब्रह्मविद्या स्वसंशीलिनां संसारसारतामतिं सादयति शिथिलयतीतिवा, परमश्रेयोरूपं प्रत्यगात्मानं सादयति गमयतीतिवा, दुःख-जन्म-

प्रवृत्त्यादिमूलाज्ञानं सादयंत्युन्मूलयतीतिवा [illegible] षत्पदवाच्या। सैव प्रमाणम्। तस्या: प्रमारूपाया: करणभूत: सर्वशाखासु [illegible] पठ्यमानो ग्रन्थराशिरप्युपचारात् प्रमाणमित्युच्यते। तथा च, उपनिषद: प्रम[illegible]रणम् उपनिषत्प्रमाणं वेदान्त इत्यर्थ:"।

(३). शारीरकसूत्रादीनि—शरीरमेव शारीरकं, तत्र भव: शारीरको जीव: (शरीरक+अण् प्रत्यय)। स सूत्र्यते संक्षेपेण याथातथ्यत: निरूप्यते यैस्तानि शारीरक-सूत्राणि। अर्थात् शरीर में रहने वाले जीवात्मा के वास्तविक (ब्रह्म) स्वरूप का निरूपण करने वाले 'शारीरक-सूत्र' हुए। उपनिषदों पर आधृत होने के कारण ये 'वेदान्त-सूत्र' भी कहे जाते हैं एवं 'जीवो ब्रह्मैव'—इस प्रकार जीव का ब्रह्मत्व प्रतिपादित करने के कारण ये 'ब्रह्मसूत्र' भी कहे जाते हैं। समास-गत 'आदि' पद से श्रीमद्भगवद्गीता, उपनिषदों एवं ब्रह्मसूत्रों के शङ्कराचार्य-रचित भाष्य आदि गृहीत होते हैं।

(४) प्रकरणम्—इसका लक्षण विद्वन्मनोरञ्जनी में पराशरोपपुराण से उद्धृत किया गया है, जो इस प्रकार है—

शास्त्रैकदेशसम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम्।
आहुः प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विपश्चित:।।

अर्थात् किसी शास्त्र के किसी एक भाग या अंश से सम्बद्ध, किन्तु अपेक्षानुसार उसके अन्य भाग से भी सम्बद्ध होने वाले ग्रन्थ-भेद को 'प्रकरण' कहते हैं। 'शास्त्र-कार्यान्तरे' का कुछ टीकाकार 'अन्य शास्त्रों के उपयोगी अंशों को ग्रहण करने वाले'—ऐसा अर्थ करते हैं जो दुर्घट है। यह अर्थ तो 'शास्त्रान्तरकार्ये' पाठ होने पर ही सम्भव है। उसका विग्रह होगा—अन्यानि शास्त्राणि शास्त्रान्तराणि, तेषां कार्ये।

पीछे वेदान्त शास्त्र के जिन अनुबन्धों से प्रस्तुत 'वेदान्तसार' ग्रन्थ को भी अनुबन्धवान् कहा गया, उनका संक्षेप में निरूपण इस प्रकार किया जा रहा है—

ननु वेदान्तशास्त्रस्यापि किमनुबन्धचतुष्टयं येनास्यापि तद्वत्तासिद्धिरित्याशङ्क्य मूलशास्त्रस्यानुबन्धचतुष्टयमाविष्करोति तत्रानुबन्ध इति। अनुबन्धचतुष्टयमेवाह—अधिकारीत्यादिना—

तत्रानुबन्धो नामाधिकारि-विषय-सम्बन्ध-प्रयोजनानि।।४।।

अर्थ—अनुबन्ध चार हैं—अधिकारी, विषय, सम्बन्ध एवं प्रयोजन।

विशेष— (१) अधिकारी अर्थात् ग्रन्थ के अध्ययन के लिए योग्य व्यक्ति।
(२) विषय अर्थात् ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय।
(३) सम्बन्ध अर्थात् प्रतिपाद्य विषय तथा ग्रन्थ के बीच का सम्बन्ध।
(४) प्रयोजन अर्थात् अध्ययन का उद्देश्य।

अधिकारी तु विधिवदधीतवेदवेदाङ्गत्वेनापाततोऽधिगताखिल-वेदार्थोऽस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा काम्यनिषिद्धवर्जनपुरस्सरं नित्यनै-मित्तिकप्रायश्चित्तोपासनानुष्ठानेन निर्गतनिखिलकल्मषतया नितान्त-

निर्मलस्वान्तः साधनचतुष्टयसम्[illegible] प्रमाता।।५।।

यथोद्देशमधिकारिणं लक्षयति [illegible] त्विति। "स्वाध्यायोऽध्येतव्य" इति वचनात्त्रैवर्णिकानामुपनीतानामध्ययनं [illegible] न विधीयते। अध्ययनविधिप्रयुक्तमेवाध्ययनं नाध्यापनविधिप्रयुक्तम्। तथा चाधीत[illegible] वेदो वेदाङ्गानि च शिक्षाकल्पव्याकरण-छन्दोज्योतिर्निरुक्ताख्यानि यतस्तेनापाततोऽधिगताखिलवेदार्थः: अत्र सर्ववेदार्थरहस्ये ज्ञाते सत्युत्तरग्रन्थवैयर्थ्यपरिहाराय आपातत इत्युक्तम्। नन्वनधीतवेदानामपि विदुरादीनां तत्त्वज्ञानोत्पत्तिदर्शनादध्ययनतत्प्रयुक्तकर्मानुष्ठानवैयर्थ्यमाशङ्क्योत्तरमाह जन्मान्तरे इति। तेषामाधुनिकाध्ययनाद्यभावेऽपि जन्मान्तरीयाध्ययनादिना चित्तपरिपाकवतामस्मिन् जन्मनि विनाप्यध्ययनादिना ज्ञानोत्पत्तौ वाधकाभावान्नाध्ययनादिवैयर्थ्यमिति भावः। काम्येति। काम्यस्यापि कर्मणो धर्मसाधनत्वेऽपि यातायातसम्पादकत्वेन बन्धकत्वान्निषिद्धवत्तद्वर्जनंपुरः-सरमित्युक्तम्। तथा च नित्यादिकर्मानुष्ठानेन निर्गतनिखिलकल्मषतया निःशेषनिरस्तसकल-कल्मषत्वेन। अत्र निखिलपदं काम्यनिषिद्धजनितसुकृतदुष्कृतपरम्। तेन नितान्तनिर्मलस्वान्तः। नितान्तमत्यन्तं निर्मलं स्वच्छं स्वान्तमन्तःकरणं यस्य स तथोक्तो वक्ष्यमाणसाधनचतुष्टयसम्पन्नः प्रमाता। अन्तःकरणे प्रतिविम्बितं चैतन्यमित्यर्थः।।५।।

अर्थ—जिसने इस जन्म में अथवा इससे पूर्व के किसी जन्म में वेदों एवं वेदाङ्गों का विधिपूर्वक अध्ययन करके समस्त वेदार्थ को सामान्य रूप से जान-समझ लिया है, तथा काम्य और निषिद्ध कर्मों का परित्याग करके, नित्य-नैमित्तिक-प्रायश्चित्त-उपासंना कर्मों के अनुष्ठान से समस्त पापों के दूर हो जाने के कारण जिसका अन्तःकरण अत्यन्त निर्मल हो गया है और जो साधन-चतुष्टय से सम्पन्न है, ऐसा प्रमाता इस (ग्रन्थ अर्थात् एतत्प्रतिपाद्य ब्रह्मविद्या) का अधिकारी है।

विशेष—(१) 'जन्मान्तरे वा'—कथन से जन्मान्तर का विकल्प महाप्राज्ञ महात्मा विदुर जैसे अपवादों के विषय में उठने वाली शंका के निवारणार्थ दिया गया है। विदुर महाराज शान्तुन के पुत्र विचित्रवीर्य की शूद्रा पत्नी से उत्पन्न हुए थे, जबकि विवाहित पत्नी अम्बिका से महाराज धृतराष्ट्र एवं अम्बालिका से महाराज पाण्डु, जिनके युधिष्ठिर आदि पाँच पुत्र 'पाण्डव' कहलाये। दासी-पुत्र होने से विदुर का न तो वेद-वेदाङ्ग के अध्ययन एवं नित्यादि कर्मों के अनुष्ठान में अधिकार ही था, और न उन्होंने यह सब किया ही था। तथापि उनका तत्त्व-दर्शित्व महाभारत में अनेकशः उल्लिखित है। फिर तत्त्व-ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा करने वाले के लिए यह सब क्यों आवश्यक कहा गया? इस शंका का यही समाधान है कि यह सब करने की आवश्यकता तो है किन्तु इसी जन्म में यह आवश्यक नहीं है। पहले के जन्मों में किये गये अनुष्ठानों के फलस्वरूप इस जन्म में पाप-निवृत्ति के द्वारा चित्त-शुद्धि प्राप्त हो सकती है। विद्वन्मनोरञ्जनी का 'एवं नित्याद्यनुष्ठानस्य शुद्धयेश्चैकभविकत्वनियमं व्यावर्तयति—'अस्मिन्... जन्मान्तरे वा' कथन द्रष्टव्य है। वस्तुतः

अनेक जन्मों की वासनायें एवं उनके कारण [illegible] दिखाने वाले अनन्तानन्त पाप एक ही जन्म के प्रयास से धुल नहीं पाते। अनेक जन्मों [illegible] से उनके धुले जाने पर ही चित्त शुद्ध होकर आत्मज्ञान की पात्रता [illegible] पाता है। भगवान् श्रीकृष्ण के "प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः। [illegible] जन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्" (गीता० ६।४५) वचन से इसकी पुष्टि होती है।

(२) काम्य, निषिद्ध, नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित्त और उपासना का विवरण ग्रन्थ के अगले सन्दर्भ में ग्रन्थकार स्वयं दे रहे हैं। अतः इनकी व्याख्या उसी प्रसंग में द्रष्टव्य है।

(३) नितान्त-निर्मल-स्वान्तः–'स्वान्तं हृन्मानसं मनः' (अमरकोश) के अनुसार 'स्वान्त' का अर्थ है अन्तःकरण। यह अकारान्त शब्द है, अन्तःकरण में स्थित 'अन्तर' शब्द की तरह एकारान्त नहीं। समास का विग्रह इस प्रकार होगा–नितान्तम् (अत्यन्तं) निर्मलं स्वान्तं यस्य सः।

(४) साधनचतुष्टय–संक्षेप में चारों साधन, जिनमें अधिकारी को सम्पन्न होना चाहिए, विवेक वैराग्य, शमदमादि तथा मुमुक्षुत्व है। इन्हें ग्रन्थकार आगे कहेंगे।

(५) प्रमाता–प्रमाणों के द्वारा लोक एवं शास्त्र के प्रमेयों को जानने की योग्यता या सामर्थ्य रखने वाला। इस पद की व्याख्या करते हुए विद्वन्मनोरञ्जकार ने इस प्रकार लिखा है–"लौकिकवैदिकव्यवहारेषु अभ्रान्तो जीवः प्रमाता विवक्षितः। जीवमात्रस्य पक्षे भ्रमसम्भवेन शास्त्रार्थप्रतिपत्तृत्वायोगात्"। प्रमाता में जीवमात्र का ग्रहण न करके अभ्रान्त जीव का ग्रहण इसलिए किया गया है कि जीव-मात्र में तो भ्रम की सम्भावना रहने से, भ्रान्त जीव में शास्त्र के प्रतिपाद्य विषय की प्रतिपत्तृता अर्थात् समझदारी का योग दुर्घट होगा। तथा ऐसा होने पर वह प्रमाता कैसे होगा।

अब काम्य-निषिद्धादि कर्मों को ग्रन्थकार बताते हैं–

काम्यानि स्वर्गादीष्टसाधनानि ज्योतिष्टोमादीनि। निषिद्धानि नरकाद्यनिष्टसाधनानि ब्राह्मणहननादीनि। नित्यान्यकरणे प्रत्यवाय-साधनानि सन्ध्यावन्दनादीनि। नैमित्तिकानि[1] पुत्रजन्माद्यनुबन्धीनि जातेष्ट्यादीनि। प्रायश्चित्तानि पापक्षयसाधनानि चान्द्रायणादीनि। उपासनानि सगुणब्रह्मविषयमानसव्यापाररूपाणि शाण्डिल्यविद्या-दीनि।।६।।

एतदेव स्पष्टं व्याकरोति काम्यानीत्यादिना ।।६।।

अर्थ–स्वर्गादि अभीष्ट (लोकों की प्राप्ति) के साधनभूत ज्योतिष्टोम आदि (यज्ञ)

---

१. द्रष्टव्य, विद्वन्मनोरञ्जनी–निमित्तमात्रमासाद्यावश्यकर्तव्यतया विहितानि नैमित्तिकानि। ××× विहिताकरणप्रतिषिद्धसेवारूपनिमित्तविशेषानुबन्धीनि प्रायश्चित्तानि। पापक्षयमात्रोद्देशेन विहितानि वा। आदिपदात् कृच्छ्रादिग्रहः।–विद्वन्मनो०, पृ० ७३

'काम्य' अर्थात् सकाम कर्म हैं। नरकादि लोक (लोकों की प्राप्ति) के साधनभूत ब्रह्म-हत्या आदि 'निषिद्ध' अर्थात् वर्जित [illegible] करने पर 'प्रत्यवाय' अर्थात् पाप के साधन बनने वाले सन्ध्या-वन्दन और (पञ्च महायज्ञ) आदि कर्म 'नित्य' अर्थात् अवश्य-करणीय कर्म हैं। पुत्र-जन्म आदि निमित्त-विशेष से सम्बद्ध जातेष्टि आदि कर्म 'नैमित्तिक' हैं। पापों के क्षय के साधन-भूत चान्द्रायण आदि व्रत 'प्रायश्चित्त' कर्म हैं। सगुण ब्रह्म को विषय बनाने वाले मानसिक व्यापार (अर्थात् ध्यान) रूप शाण्डिल्य-विद्या इत्यादि 'उपासना' कर्म कहे जाते हैं।

विशेष–(१) ज्योतिष्टोम–'स्तोम' का अर्थ है सामवेद के मन्त्रों से की जाने वाली स्तुति। ऐसी-स्तुतियों में जो त्रिवृत्, पञ्चदश, सप्तदश और एकविंश–ये चार स्तोम होते हैं, ये स्तोम 'ज्योतिष्' कहे जाते हैं। इनसे सम्बद्ध सोमयाग को 'ज्योतिष्टोम' कहते हैं–'ज्योतींषि स्तोमा यत्र सः'। इस सोमयाग के साधक द्रव्यों में सोम नामक लता या उसके अभाव में 'पूतीक' नामक लता का रस प्रधान होता है। इसी से इसे सोमयाग कहते हैं।

(२) नित्यानि–अवश्य करणीय कर्म। ये वस्तुतः प्रतिदिन की चर्या में अनजान में होने वाले पापों के विनाश के लिए किये जाने चाहिए। मनु ने अनजान में हिंसा होने के पाँच स्थान बताये हैं जिन्हें उन्होंने 'सूना' अर्थात् वध-स्थान कहा है। वे ये हैं–'पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः। कण्डनी चोदकुम्भश्च वध्यते यास्तु वाहयन्।। '(मनु० ३।६८)। चूल्हा, चक्की, झाड़ू, ओखली और पानी का घड़ा–इन पाँचों से सम्बद्ध कार्य करता हुआ गृहस्थ अनजान में हिंसा करता हुआ बन्धन में पड़ता है। इससे छूटने का उपाय अगले तीन श्लोकों में इस प्रकार वर्णित है–"तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः। पञ्च क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम्।। अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्। होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्।। पञ्चैतान्यो महायज्ञान् न हापयति शक्तितः। स गृहेऽपि वसन्नित्यं सूनादोषैर्न लिप्यते।" (मनु० ३।६९, ७०) शास्त्रादि का अध्ययन-अध्यापन ब्रह्मयज्ञ है, पितरों का तर्पण पितृयज्ञ है। अग्नि में देवताओं को 'स्वाहा' कहकर आहुति देना देवयज्ञ है, समस्त प्राणियों के लिए दी जाने वाली बलि भूतयज्ञ या प्राणियज्ञ है, तथा अतिथि-सत्कार नृयज्ञ अर्थात् मनुष्य यज्ञ है। इनका यथाशक्ति परित्याग न करता हुआ गृहस्थ पाँच स्थानों की हिंसा के पाप से लिप्त नहीं होता।

(३) प्रायश्चित्तानि चान्द्रायणादीनि–'आदि' पद से कृच्छ्र आदि व्रतों का ग्रहण किया गया है। नैमित्तिक कर्मों से प्रायश्चित्त कर्मों का भेद यह है कि जहाँ नैमित्तिक कर्म पुत्र-जन्म इत्यादि निमित्त-मात्र के प्राप्त होने पर किये जाते हैं, वहाँ प्रायश्चित्त आदि कर्म विहित कर्मों के अकरण तथा निषिद्ध कर्मों के करण या सेवन जैसे विशेष निमित्तों के प्राप्त

होने पर पाप-प्रक्षालनार्थ किये जाते हैं।[१] अ[illegible] [illegible]दक्षय-मात्र के उद्देश्य से किये जाने वाले कर्म प्रायश्चित्त कहे जाते हैं, जैसा कि 'प्रायः [illegible] [illegible]यान्चित्तं तस्य विशोधनम्' इत्यादि स्मृति-वचन से स्पष्ट है। इस प्रकार 'प्राय[illegible] पापस्य चित्तं विशोधनं प्रक्षालनं वा प्रायश्चित्तम्'—यह इस शब्द का विग्रह हुआ। 'प्रायस्य चित्तिचित्तयोः' नियम से 'चित्त' को सुट् का आगम होने 'प्रायचित्त' न बनकर 'प्रा[illegible]श्चित्त' शब्द बना या निष्पन्न हुआ। 'चान्द्रायण' चन्द्रमा के घटने-बढ़ने के साथ आहार का एक-एक ग्रास घटाया-बढ़ाया जाने से सम्पन्न होने वाला मासिक व्रत है। मनु ने इसके 'पिपीलिका-मध्य' भेद का वर्णन इस प्रकार से किया है—

> "एकैकं ह्रासयेत् पिण्डं कृष्णे शुल्के च वर्धयेत्।
> उपस्पृशंस्त्रिषवणमेतच्चान्द्रायणं स्मृतम्"।।—मनु० ११।२१६

इस भेद में पूर्णिमा को पूर्ण १५ ग्रास ग्रहण करके कृष्ण-प्रतिपदा से एक-एक ग्रास कम करते-करते चतुर्दशी को एक ही ग्रास ग्रहण करना चाहिए। फिर अमावस्या को निराहार रहकर शुक्ल-प्रतिपदा से एक-एक ग्रास बढ़ाते हुए पूर्णिमा को पूरे १५ ग्रास ग्रहण करना चाहिए। तथा प्रातः मध्याह्न एवं सायंकाल में तीन बार स्नान भी विधेय है। इससे स्पष्ट है कि इस व्रत का 'चान्द्रायण' नाम "चान्द्रमयनं यस्य" इस अर्थ में पड़ा है 'अयन' अर्थात् गति। चन्द्रमा की गति के तुल्य ही गति, इस व्रत में ग्रहण किये जाने वाले ग्रासों की भी होती है।

(४) उपासनानि—वस्त्वधीन ज्ञान से पुरुषाधीन उपासना का भेद दिखलाने के लिए उसे मानस व्यापार कहा गया। ज्ञान वस्तुस्वरूप-विषयक होने से वस्त्वधीन होता है जबकि उपासना मानसिक व्यापार या क्रिया होने से पुरुषाधीन होती है। मानसिक व्यापार का अर्थ है ध्यान या भावना। इसे विधि-वाक्यों के अनुसार करना होता है जिसे करने या न करने में पुरुष स्वतन्त्र होता है। जैसे द्युलोक, पर्जन्य, पृथिवी, पुरुष तथा स्त्री—इन पाँचों में विधि के अनुसार अग्नि की भावना करना पञ्चाग्नि-उपासना है जबकि लोक-प्रसिद्ध अग्नि में अग्नि की भावना नहीं करनी होती। वह तो अग्नि है ही, उसमें तो अग्नि का ज्ञान होता ही है। जो वस्तु जो नहीं होती, उसमें उसका ध्यान विशेष प्रयोजन से किया जाता है। जैसे शाण्डिल्योपासना का 'चित्तैकाग्रता' फल ग्रन्थकार स्वयमेव आगे कहेंगे। इस शाण्डिल्योपासना की चर्चा छान्दोग्य ३।१४।१ में हुई है। इसका उपसंहार ३।१४।४ में इस प्रकार किया गया है—

---

१. (i) अकुर्वन् विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन्।
प्रसक्तश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः।।—मनु० ११।४४

(ii) विहितस्याननुष्ठानान्निन्दितस्य च सेवनात्।
अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणां नरः पतनमृच्छति।
तस्मात् तेनेह कर्तव्यं प्रायश्चित्तं विशुद्धये।।—याज्ञ०

"सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः [illegible] सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यानादरः। एष म आत्माऽन्तर्हृदय एतद् ब्रह्म। ए[illegible]ाभिसम्भवितास्मीति यस्य स्यादद्धा न विचिकित्सास्तीति ह स्माह शाण्डिल्यः [illegible]ल्यः।" अर्थात् "जो सर्वकर्मा, सर्वगन्ध, सर्वरस इन सबको व्याप्त करने वाला, वाग्-र[illegible]त एवं निरपेक्ष है, यह मेरा आत्मा हृदय-प्रदेश के मध्य में स्थित है, यही ब्रह्म है। इस [illegible]रीर से निष्क्रमण करने पर मैं अपने इस स्वरूप को प्राप्त करूँगा। इस प्रकार की जिसकी दृढ़ आस्था है, जिसका दृढ़ निश्चय है और जिसे इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं है, वह इस ब्रह्मभाव को प्राप्त करेगा"—ऐसा शाण्डिल्य ने कहा है।

अब पूर्वोक्त कर्मों के अन्तिम और अवान्तर फल का निरूपण ग्रन्थकार करते हैं—

एतेषां नित्यादीनां बुद्धिशुद्धिः परं प्रयोजनम्। उपासनानां तु चित्तैकाग्र्यम्। 'तमेतमात्मानं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन' इत्यादिश्रुतेः, 'तपसा कल्मषं हन्ति' इत्यादिस्मृतेश्च। [1]नित्यनैमित्तिकयोरुपासनानां त्ववान्तरफलं पितृलोकसत्यलोकप्राप्तिः 'कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोक' इत्यादिश्रुतेः।।७।।

अर्थ—इन नित्य, नैमित्तिक और प्रायश्चित कर्मों का परम या अन्तिम प्रयोजन चित्त की शुद्धि है, जबकि उपासनाओं का परम प्रयोजन या फल चित्त की एकाग्रता है। "उस (उपनिषत्-प्रसिद्ध) इस आत्मा को ब्राह्मण वेदाध्ययन और यज्ञ (दान, तप तथा उपवास) के द्वारा जानने की इच्छा करते हैं" इत्यादि बृहदारण्यक श्रुति (४।४।२२), तथा "तप के द्वारा ब्राह्मण चित्त के मल को नष्ट करता है" इत्यादि स्मृति (मनु० १२।१०४) से (यह सिद्ध है)। "कर्म से पितृलोक तथा विद्या अर्थात् उपासना से सत्यलोक (जीतने योग्य है)" इत्यादि बृहदारण्यक श्रुति (१।५।१६) के अनुसार नित्य-नैमित्तिक कर्मों का अवान्तर या अप्रधान फल पितृलोक की प्राप्ति तथा उपासना का सत्यलोक की प्राप्ति है।

विशेष—(१) विविदिषन्ति—वेत्तुमिच्छन्ति (√विद्+सन्+अन्ति)। शङ्कर के अद्वैत वेदान्त मत से कर्मकाण्ड मुक्ति का साक्षात् साधन न होकर परम्परया साधन है। यह व्यक्ति की बुद्धि को शुद्ध करके उसमें आत्मजिज्ञासा, आत्मविषयक ज्ञान की इच्छा उत्पन्न करके, उसे आत्मज्ञान के द्वार तक पहुँचा देने का सोपान है।

(२) उपासनानां तु चित्तैकाग्र्यम्—सदानन्द के अनुसार उपासनाओं का परम फल चित्त की एकाग्रता है। यह फल उस निष्काम उपासना का है जिसका अनुष्ठान साधक ब्रह्मविद्या का अधिकारी बनने के उद्देश्य से करता है। 'काम्यनिषिद्धवर्जनपुरःसरम्' इत्यादि

---

१. नित्यनैमित्तकयोरिति। अत्र प्रायश्चित्ताग्रहणं, तस्यावान्तरफलाभावात्। न ह्युपात्तदुरितक्षयमन्तरेण तस्य किञ्चित् फलं श्रुतमस्ति।—विद्वन्मनो०

वाक्यांश से यह बात स्पष्ट है। ब्रह्मसूत्र [illegible] के भाष्य में 'तत्र कानिचित् ब्रह्मण उपासनानि अभ्युदयार्थानि, कानिचित् [illegible]नि, कानिचित् कर्मसमृद्ध्यर्थानि" इत्यादि प्रकार से शङ्कराचार्य ने उपासनाओं [illegible] विविध प्रयोजन या फल बताये हैं, वे सकाम उपासनाओं के हैं। ये ब्रह्मविद्या या वेदान्त[illegible] अधिकारी बनने वाले निष्काम उपासक को कदापि अभीष्ट नहीं हो सकतीं। उसे तो [illegible]पेक्षित और अभीष्ट होती है—चित्त की एकाग्रता जिससे अणु से भी अणीयान् और अणिष्ठ आत्मा का श्रवण-मनन-निदिध्यासन क्रमशः सम्पन्न हो और अन्ततः उसे उसका ज्ञान प्राप्त हो सके। अन्यत्र उपासना का जो स्वरूप शङ्कराचार्य ने बताया है उससे सदानन्द द्वारा कथित चित्तैकाग्र्य रूप परम उपासना-फल का मेल ही है, विरोध नहीं—"उपासनं तु यथाशास्त्रसमर्थितं किञ्चिदालम्बनमुपादाय तस्मिन् समानचित्तवृत्तिकरणं तद्विलक्षणप्रत्ययानन्तरितमिति" (छान्दोग्य, भाष्य-भूमिका)। इसका तात्पर्य यह है कि 'उपासना' है किसी शास्त्र-सम्मत आलम्बन का ग्रहण कर उसमें विजातीय प्रत्ययों (वृत्तियों) से अनन्तरित-अव्यवहित चित्तवृत्तियों को सतत प्रवाहित करना।' इस प्रकार की उपासना का साक्षात् परम फल तो चित्त की एकाग्रता ही होगी। एकाग्रतापरम्परया—नित्यादिकर्म से यह चित्त शुद्धि के द्वार से—आती है।

(३) अवान्तरफलम्—इसका अर्थ है गौण, अमुख्य या आनुषङ्गिक फल। जैसे आम का पेड़ लगाने का मुख्य प्रयोजन है आम के फल की प्राप्ति, किन्तु उसके साथ ही प्राप्त वृक्ष की शीतल छाया इत्यादि उसका आनुषङ्गिक फल है, उसी प्रकार नित्य-नैमित्तिक कर्मों का मुख्य फल चित्त शुद्धि तथा गौण फल पितृलोक की प्राप्ति है, तथा उपासना का मुख्य फल है चित्त का ऐकाग्र्य या समाधान, और आनुषङ्गिक या अवान्तर फल है सत्यलोक की प्राप्ति। यह सत्यलोक हिरण्यगर्भ का लोक है एवं सात ऊर्ध्व लोकों में सर्वोपरि स्थित है। शंङ्कराचार्य के शब्दों में अपराविद्या रूप सकाम सगुणोपासना की यही अन्तिम गति है। मुण्डक० १।२।११ "तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये, शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्तः। सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति, यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा।" पर भाष्य करते हुए उन्होंने इस बात को स्पष्ट किया है—"ये पुनः ज्ञानयुक्ता वानप्रस्थाः संन्यासिनश्च तपः स्वाश्रमविहितं कर्म, श्रद्धा हिरण्यगर्भादिविषया विद्या, ते तपःश्रद्धे उपवसन्ति सेवन्ते अरण्ये वर्तमानाः सन्तः ...। सूर्यद्वारेण सूर्योपलक्षितेनोत्तरायणेन यथा ते विरजाः क्षीणपुण्यपापकर्माणः प्रयान्ति प्रकर्षेण यान्ति यत्र यस्मिन् सत्यलोकादावमृतः स पुरुषः प्रथमजो हिरण्यगर्भो ह्यव्ययात्मा यावत्संसारस्थायी। एतदन्तास्तु संसारगतयोऽपरविद्यागम्याः।"

अब ग्रन्थकार 'साधनचतुष्टय' का निरूपण करते हुए कहते हैं।

साधनानि नित्यानित्यवस्तुविवेकेहामुत्रार्थफलभोगविरागशमादिषट्कसम्पत्तिमुमुक्षुत्वानि। नित्यानित्यवस्तुविवेकस्तावद् 'ब्रह्मैव नित्यं वस्तु ततोऽन्यदखिलमनित्यमिति विवेचनम्। ऐहिकानां

स्रक्चन्दनवनितादिविषयभोग[illegible] कर्मजन्यतयाऽनित्यत्ववदामुष्मिकाणामप्यमृतादिविषयभो[illegible]त्यतया[1] तेभ्यो नितरां विरतिरिहामुत्रार्थफलभोग-विर[illegible]ः। शमादयस्तु शमदमोपरति तितिक्षासमाधानश्रद्धाख्याः। [illegible]मस्तावच्छ्रवणादिव्यतिरिक्तविषयेभ्यो मनसो निग्रहः। दमो बाह्येन्द्रियाणां तद्व्यतिरिक्तविषयभ्यो निवर्तनम्। निर्वर्तितानामेतेषां तद्व्यति-रिक्तविषयेभ्य उपरमणमुपरतिः, अथवा विहितानां कर्मणां विधिना परित्यागः। तितिक्षा शीतोष्णादिद्वन्द्वसहिष्णुता। निगृहीतस्य मनसः श्रवणादौ तदनुगुणविषये च समाधिः समाधानम्। गुरूपदिष्टवेदान्तवाक्येषु विश्वासः श्रद्धा। मुमुक्षुत्वं मोक्षेच्छा। एवम्भूतः प्रमाता अधिकारी 'शान्तो दान्तः' इत्यादिश्रुतेः। उक्तं च–

"प्रशान्तचित्ताय जितेन्द्रियाय च प्रहीणदोषाय यथोक्तकारिणे।
गुणान्वितायानुगताय सर्वदा प्रदेयमेतत्सततं मुमुक्षवे इति।"।।८।।

तत्र शमं लक्षयति शमस्तावदिति। यथा तीव्रायां बुभुक्षायां भोजनादन्यो व्यापारो मनसो न रोचते भोजने विलम्बं च न सहते तथा स्रक्चन्दनादिविषयेष्वत्यन्तमरुचिस्तत्त्वज्ञानवज्ञानसाधनेषु श्रवणमननादिष्वत्यन्तमभिरुचिर्जायते। तदा पूर्ववासनाबलाच्छ्रवणादिसाधनेभ्य उड्डीय स्रक्चन्दनादिविषयेषु गम्यमानं मनो येनान्तःकरणवृत्तिविशेषेण निगृह्यते स वृत्तिविशेषः शम इत्यर्थः। इदानीं दमस्य लक्षणमाह दम इत्यादि। ज्ञानसाधनश्रवणादिसाधनेभ्यो विलक्षणेषु शब्दादिविषयेषु प्रवर्तमानानि श्रोत्रादीनि बाह्येन्द्रियाणि येन वृत्तिविशेषेण निवर्त्यन्ते स दम इत्यर्थः। इदानीमुपरतेर्लक्षणमाह निवर्तितानामिति। निगृहीतानामेव तेषां बाह्येन्द्रियाणां श्रवणादिसाधनव्यतिरिक्तेषु शब्दादिविषयेषु यथा तानीन्द्रियाणि सर्वथा न गच्छन्ति तथा तेषां निग्रहो येन वृत्तिविशेषेण क्रियते सोपरतिरित्यर्थः। उपरतेर्लक्षणान्तरमाह–अथवा विहितानामिति। विहितानां नित्यादिकर्मणां विधिना चतुर्थाश्रमस्वीकारेण परित्यागः। नाहं कर्तेत्यवस्थानमुपरतिरित्यर्थः। तितिक्षाया लक्षणमाह तितिक्षेति। शरीरधर्मस्य शीतोष्णादेस्तज्जन्यसुखदुःखादेश्च शरीरस्य त्यक्तुमशक्यत्वात्स्वप्रकाशचिद्रूपे स्वात्मनि च शीतोष्णादेरत्यन्ताभावादिति विवेकदीपेन मिथ्याभूतस्य शीतोष्णादेर्द्वन्द्वस्य यत्सहनं सा तितिक्षेत्यर्थः। इदानीं समाधानलक्षणमाह निगृहीतस्येति। शब्दादिविषयेभ्यो निगृहीतस्यान्तःकरणस्य श्रवणादौ तदनुगुणेषु तदुपकारकेष्वमानित्वादिसाधनविषयेषु समाधिर्नैरन्तर्येण तच्चिन्तनं समाधानमित्यर्थः।

---

१. द्रष्टव्य, छा० ८।१।६–तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयते, एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते।

श्रद्धादय: स्पष्टार्था:। तथा च पूर्वोक्तस[illegible]षणविशिष्ट: प्रमाताधिकारीत्यर्थ:। अस्मिन्नर्थे श्रुतिं प्रमाणयति शान्त इत्यादि।

अर्थ—(चारों) साधन हैं—नित्यानि[illegible]विवेक, इहामुत्रार्थफलभोगविराग, शमादिषट्क-सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व। आत्मा या ब्र[illegible] ही नित्य वस्तु है, शेष समस्त प्रतीयमान प्रपञ्च-समूह अनित्य हैं, ऐसा विवेचन करना 'नि[illegible]त्यानित्यवस्तु-विवेक' है। जैसे कर्मों के फल होने से कामिनी, माला, चन्दनादि समस्त ऐहलौकिक भोग नश्वर हैं, वैसे ही यज्ञादि कर्मों के फल होने से अप्सरायें, नन्दनवन, अमृत इत्यादि पारलौकिक भोग भी अनित्य एवं नश्वर हैं। ऐसा समझ कर, उनसे विरत या विरक्त होना 'इहामुत्रार्थफलभोगविराग' है। विराग का अर्थ है वैराग्य, विरति या विरक्ति। शमादि छ: हैं—शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान और श्रद्धा। 'शम' है श्रवण-मनन-नदिध्यासन से व्यतिरिक्त या भिन्न विषयों से मन को रोकना या हटा लेना। 'दम' है, बाह्य इन्द्रियों को श्रवणादि-व्यतिरिक्त विषयों से हटा लेना। अपने-अपने विषयों से निवृत्त हुए इन बाह्य श्रोत्रादि एवं आन्तरिक मन इन्द्रियों का उनसे उपरत हो जाना अर्थात् उनमें पुन: प्रवृत्त न होना 'उपरति' है। अथवा वेदविहित सन्ध्यावन्दन अग्निहोत्र इत्यादि नित्य कर्मों का श्रुतिस्मृत्युक्त विधि (प्राजापत्येष्टि) के द्वारा परित्याग कर देना (अर्थात् संन्यास ग्रहण कर लेना)। सर्दी-गर्मी, मान-अपमान, जय-पराजय, लाभ-हानि, सुख-दु:ख आदि द्वन्दों को सहन करना 'तितिक्षा' है। नियन्त्रित अथवा वशीभूत मन का श्रवण आदि एवं उसके अनुकूल विषयों में स्थिर हो जाना समाधान (एकाग्रता) है। गुरु के वचनों तथा वेदान्त-वाक्यों में विश्वास अर्थात् सत्य-बुद्धि का नाम 'श्रद्धा' है। मोक्ष की इच्छा से युक्त होना ही (चौथा तथा अन्तिम साधन) मुमुक्षुत्व है। इस प्रकार का साधनचतुष्टय-सम्पन्न प्रमाता ही "शान्त दान्त.........." (बृहदा० ४।४।२३) इस श्रुति के अनुसार ब्रह्मविद्या का अधिकारी होता है। कहा भी गया है कि "शान्तचित्त, जितेन्द्रिय, कल्मषरहित यथाशास्त्र (स्वधर्म) अनुष्ठान करने वाले, (विवेक-वैराग्य तितिक्षा-समाधान आदि) गुणों से युक्त, गुरु-अनुगामी तथा मोक्षेच्छा से युक्त (अधिकारी) व्यक्ति को ही यह आत्मज्ञान सर्वदा दिया जाने योग्य है (उपदेशसाहस्री १६।७२)।

विशेष—(१) उपरति—ग्रन्थकार ने उपरति के दो लक्षण प्रस्तुत किये हैं। श्रवण-मननादि से व्यतिरिक्त या भिन्न विषयों से अन्तरिन्द्रिय मन एवं बाह्येन्द्रिय चक्षुरादि को निवृत्त करना ही क्रमश: 'शम' तथा 'दम' कहे गये। फिर चक्षुरादि बाह्येन्द्रियों को श्रवण-मननादि से व्यतिरिक्त रूपरसादि विषयों में प्रवृत्त न होने देना, उनसे रोक रखना 'उपरति' कहा गया। नृसिंह सरस्वती ने सुबोधिनी टीका में इसी बात को इस प्रकार से स्पष्ट किया है—"निगृहीतानामेव तेषां बाह्येन्द्रियाणां श्रवणादिसाधनव्यतिरिक्तेषु शब्दादिविषयेषु यथा तानीन्द्रियाणि सर्वथा न गच्छन्ति तथा तेषां निग्रहो येन वृत्तिविशेषेण क्रियते

सोपरतिरित्यर्थ:।" अब चूँकि इन्द्रियों [illegible]त्त करना और निवृत्त इन्द्रियों को उनमें पुन: प्रवृत्त न होने देना—ये दोनों बातें [illegible]ली हुई सी होने के कारण कठिनाई से ही पृथक् प्रतीत होती हैं, इसलिए ग्रन्थ[illegible] ने उपरति को 'दम' से पृथक् सुस्पष्ट करने के लिए दूसरा लक्षण प्रस्तुत किया है—[illegible]विहितानां कर्मणां विधिना परित्याग:।' अर्थात् शास्त्रविहित कर्मों का आलस्य, अश्रद्धा आदि के कारण मनमाने ढंग नहीं प्रत्युत शास्त्रोक्त विधि से ही परित्याग उपरति है। मनु के शब्दों में यह विधि इस प्रकार की है—

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम्।
आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मण: प्रव्रजेद् गृहात्।।—६।३८

अर्थात् सर्वस्व दक्षिणा वाली, प्रजापति देवता वाली प्राजापत्य इष्टि (अर्थात् यज्ञ) का विधान करके, तथा श्रौत अग्निओं का आत्मा में समारोप करके ब्राह्मण को घर से प्रव्रजित होना चाहिए। इस प्रव्रज्या को ही संन्यास कहते हैं। इससे स्पष्ट है कि संन्यास-ग्रहण भी ब्रह्मविद्या का अधिकारी बनने में आवश्यक साधन है।

(२) तितिक्षा—तिज् (निशाने) धातु 'गुप्-तिज्-किद्भ्य: सन्' से नित्य सन्नन्त होती है और सन्नन्त होने पर "तिजे:क्षमायाम्" वार्तिक के अनुसार इसका अर्थ क्षमा करना होता है। आत्मनेपदी होने से इसके रूप तितिक्षते-तितिक्षेते इत्यादि होते हैं। तितिक्ष धातु से 'अ प्रत्ययात्' सूत्र से भाव अर्थ में 'अ' प्रत्यय तथा 'स्त्रियां टाप्' से टाप् प्रत्यय लगने पर 'तितिक्षा' बनता है जिसका अर्थ क्षमा, सहिष्णुता इत्यादि होता है।

इस प्रकार प्रथम अनुबन्ध 'अधिकारी' के निरूपण के अनन्तर ग्रन्थकार दूसरे (तीन) अनुबन्धों का निरूपण करते हैं—

विषयो जीवब्रह्मैक्यं शुद्धचैतन्यं प्रमेयम्, तत्रैव वेदान्तानां तात्पर्यात्। सम्बन्धस्तु तदैक्यप्रमेयस्य तत्प्रतिपादकोपनिषत्प्रमाणस्य च बोध्यबोधकभावलक्षण:। प्रयोजनं तु तदैक्यप्रमेयगताज्ञाननिवृत्ति: स्वस्वरूपानन्दावाप्तिश्च 'तरति शोकमात्मवित्' इत्यादिश्रुते:, 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' इत्यादिश्रुतेश्च।।९।।

यथोद्देशं विषयं निरूपयति विषय इति। अविद्याध्यारोपितसर्वज्ञत्वकिञ्चिज्ज्ञत्वादिविरुद्धधर्मपरित्यागेनावशिष्टं शुद्धं चैतन्यं ज्ञेयस्वरूपमेव सर्वेषां वेदान्तवाक्यानां विषय इत्यर्थ:। क्रमप्राप्तं सम्बन्धं लक्षयति सम्बन्धस्त्विति। बोध्यबोधकभाव इति। बोध्यस्य ब्रह्मात्मैक्यस्वरूपस्य बोधकस्य वेदान्तशास्त्रस्य च बोध्यबोधकभाव एव सम्बन्ध इत्यर्थ:। अवशिष्टं प्रयोजनमाह प्रयोजनं त्विति। ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणचिन्मात्रगताज्ञानतत्कार्यसकलप्रपञ्चनिवृत्ति: पुनरुत्पत्त्यभावरूपा स्वस्वरूपाखण्डानन्दप्राप्ति: फलमित्यर्थ:। ननु लोकेऽप्राप्तस्य क्रियासाध्यस्य स्वर्गादे: पुरुषार्थत्वेन फलत्वं दृष्टमत्र तु

नित्यप्राप्तस्यात्मस्वरूपस्य क्रियासाध्यत्वाभावेन पुरुषार्थत्वाभावात्कथं फलत्वमिति चेन्न, तस्यैव पुरुषार्थत्वनियमाभावात्। यथा [illegible] कस्यचिद्विस्मृतकण्ठमणेस्तत्प्रयुक्त-शोकाग्निसन्दह्यमानस्याप्तोपदेशोत्तरकालं स्व[illegible]मीकरप्राप्तेरपि पुरुषार्थत्वात्फलत्वे दृष्टमेवमत्रापि नित्यप्राप्तस्यात्मनोऽज्ञानमोहान्धकारावृतत्वेन विस्मृतस्वस्वरूपस्य पुरुषस्य गुरुश्रुतिवाक्यश्रवणानन्तरमज्ञानमोहान्धकारनिवृत्तौ सत्यां स्वयम्प्रकाशमानचिद्रूपस्य सिद्धस्यैवात्मनः फलत्वमुपचर्यत इति भावः। उक्तेऽर्थे श्रुतिं प्रमाणयति तरतीति।।६।।

अर्थ—वेदान्तशास्त्र का 'विषय' है जीव और ब्रह्म की एकता जो शुद्धचैतन्य रूप है और इस शास्त्र का प्रमेय है, क्योंकि समस्त वेदान्त-वाक्यों का तात्पर्य जीव और ब्रह्म की वास्तविक (आत्यन्तिक) एकता ही है। जीव और ब्रह्म के ऐक्य रूप प्रमेय और उसका प्रतिपादन करने वाले उपनिषद् (अर्थात् वेदान्त) रूप प्रमाण का परस्पर बोध्यबोधकभाव ही इस शास्त्र का 'सम्बन्ध' (नामक तृतीय अनुबन्ध) है। 'आत्मवेत्ता शोक (अर्थात् उसके कारणभूत अज्ञान) को पार कर जाता है'—इस छान्दोग्य-श्रुति (७।१।३) के अनुसार जीव और ब्रह्म के ऐक्य रूप प्रमेय के विषय में वर्तमान अज्ञान की निवृत्ति, तथा 'जीव (प्रत्यगात्मा) को वस्तुतः ब्रह्म रूप में जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है'—इस मुण्डक श्रुति (३।२।१) के अनुसार अपने वास्तविक स्वरूप 'आनन्द' की प्राप्ति इस शास्त्र का प्रयोजन है।

विशेष—(१) शुद्ध चैतन्य—चैतन्य-मात्र अर्थात् समस्त धर्मों से रहित। जीव के अल्पज्ञत्व आदि तथा ईश्वर के सर्वज्ञत्व आदि सारे धर्म कल्पित हैं, मिथ्या हैं। इनसे अछूता (अस्पृष्ट) है केवल चैतन्य, जो दोनों में समान या एक है। यही परमार्थ है, सद्वस्तु है, और यही है वेदान्त का प्रमेय।

(२) प्रमेयम्—शुद्ध चैतन्य तो स्वयम्प्रकाश होने से वस्तुतः कभी भी अज्ञात नहीं हो सकता। फिर भी उसे 'प्रमेय' कहने का कारण अनादि अविद्या से उसके वास्तविक या पारमार्थिक सच्चिदानन्द स्वरूप का प्रमाता की दृष्टि से आच्छन्न एवं तिरोहित रहना है। इसे श्रवण, मनन, निदिध्यासन के द्वारा आविर्भूत करना होता है, प्रकट करना होता है। 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च' (बृहदा० २।४।५) इत्यादि श्रुतिवचन इसमें प्रमाण हैं। इस प्रकार अनादि अविद्या या अज्ञान की निवृत्ति के साथ ही 'सच्चिदानन्द' स्वरूप की प्राप्ति इस ब्रह्मविद्या या वेदान्त का प्रयोजन हुआ। दो प्रतीत होता हुआ भी यह प्रयोजन वस्तुतः एक ही है क्योंकि नित्य प्राप्त स्वरूप की प्राप्ति अज्ञान की निवृत्ति से वस्तुतः भिन्न नहीं है। इसलिए ग्रन्थकार ने 'प्रयोजन' शब्द में एकवचन का ही प्रयोग किया है, द्विवचन का नहीं।

(३) तरति शोकमात्मवित्—इस श्रुति में शोक को पार करने की, शोक की निवृत्ति की बात कही गई है किन्तु इससे समर्थित किये जाने वाले प्रयोजन को 'अज्ञाननिवृत्ति' कहा है। इस प्रकार से तो प्रस्तुत श्रुति-वाक्य से इस प्रयोजन का समर्थन होता दिखाई

नहीं पड़ता। वस्तुतः सच्चिदानन्द-स्व[illegible] आत्मा के शोक का कारण तो अनादि अविद्या या अज्ञान ही है। इसलिए शोक [illegible]रना, उसके मूल कारण अज्ञान के नाश से, उसकी निवृत्ति से ही सम्भव है। 'क[illegible]श कार्यनाशः' यह नियम अकाट्य है। अतः शोक की निवृत्ति अज्ञान की ही निवृत्ति का उपलक्षण है।

इन पूर्वोक्त लक्षणों से युक्त अधिकारी का क्या कर्त्तव्य है, इसका निर्देश करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं—

अयमधिकारी जननमरणादिसंसारानलसन्तप्तो प्रदीप्तशिरा जलराशिमिवोपहारपाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं गुरुमुपसृत्य तमनुसरति, 'समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' इत्यादिश्रुतेः। स परमकृपया 'अध्यारोपापवाद'-न्यायेनैनमुपदिशति, 'तस्मै स विद्वानुपसन्नाय प्राह' इत्यादिश्रुतेः।।१०।।

अधुना शास्त्रारम्भनिमित्ताधिकार्यादिनिरूपणानन्तरं शास्त्रारम्भं प्रस्तौत्यथवा लक्षितस्याधिकारिणः कर्तव्यं दर्शयति अयमधिकारीति। उक्तलक्षणलक्षितो बुद्धिसन्निहितोऽधिकारी गुरुमुपसरतीत्यर्थः। ननु संसारासक्तचित्तस्य विषयलोलुपस्यार्तिरहितस्य गुरूपसर्पणमयुक्तमित्याशङ्क्याह संसारानलसन्तप्त इति। सन्तापे हेतुमाह जननेति। आदिशब्देन व्याध्यादयो गृह्यन्ते। आतपाग्निदग्धमस्तको दाहनिवृत्तिकामो यथा शीतलं जलराशिमनुसरति तथा संसारतापत्रयदन्दह्यमानस्तन्निवृत्तिकामः स्वस्वरूपजिज्ञासुः संसारनिवर्तकं श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं करतलामलकवत्स्वप्रकाशात्मस्वरूपसमर्पकं गुरुमुपसृत्य समीपं गत्वानुसरति मनोवाक्कायकर्मभिः सेवत इत्यर्थः। अस्मिन्नर्थे श्रुतिमुदाहरति समित्पाणिरिति। अथ गुरुकृत्यमाह स इति। स पूर्वोक्तो गुरुरेनं शिष्यमुपदिशतीत्यन्वयः। परमरहस्यमपि ब्रह्मस्वरूपं कस्मादुपदिशतीत्यत आह कृपयेति। कृपाव्यतिरेकेण साधनान्तराभावादित्यर्थः। नन्वखण्डस्य ब्रह्मस्वरूपस्यागोचरत्वेनोपदेष्टुमशक्यत्वात्कथमुपदिशतीत्यत आह अध्यारोपेति। अखण्डब्रह्मस्वरूपस्यागोचरत्वेन विधिमुखत्वेनोपदेष्टुमशक्यत्वेऽपि "नेह नानास्ति किञ्चन" इत्यादिश्रुतिमनुसृत्याविद्यारोपितमिथ्यानानापदार्थनिषेधमुखेनोपलक्षितमखण्डचैतन्यमेव पुनः "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादिश्रुतिमनुसृत्य लक्षणया विधिमुखेनाप्युपदिशतीति भावः। तत्र श्रुतिमाह तस्मा इति।।१०।।

अर्थ—जिस प्रकार (ग्रीष्म की कड़ी धूप से) सन्तप्त सिर वाला व्यक्ति शीतल जलराशि की ओर दौड़ता है, उसी प्रकार (उक्त लक्षणों से युक्त) यह अधिकारी जन्म-मरण, जरा-व्याधि आदि संसार रूपी अनल से सन्तप्त होकर, हाथ में कुछ उपहार लिए हुए,[1]

१. रिक्तपाणिर्न सेवत राजानं देवतां गुरुम्।—महाभारत

श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के समीप जाकर (मन-वचन-कर्म से) उसका अनुसरण करता है, जैसा कि श्रुति भी कहती है कि 'हाथ में समिधा लेकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाना चाहिए' (मुण्डक १।२।१२)। वे गुरु ... उस शिष्य को कृपा-पूर्वक अध्यारोप एवं अपवाद द्वारा उपदेश देते हैं, जैसा कि श्रुति का कथन है कि शरण में आये उस शिष्य को विद्वान् गुरु उपदेश देते हैं (मुण्डक० १।२।१३)।

विशेष—(१) समित्पाणिः—समिधः पाणौ यस्य सः। अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास उसके अनुरूप फूल-फल, समिधा इत्यादि लेकर जाना चाहिए। खाली हाथ गुरु, देवता, राजा इत्यादि के पास नहीं जाना चाहिए। कुछ आधुनिक व्याख्याकारों ने "सामर्थ्य होने पर यथाशक्ति फल-फूल, वस्त्राभूषण, सुवर्णरत्न आदि भेंट करना चाहिए"—ऐसा लिखा है। ब्रह्मनिष्ठ गुरु को सुवर्णरत्नादि से क्या काम? शरीर रहते वस्त्रादि की आवश्यकता की बात तो समझ में आती है किन्तु सोना, रत्न इत्यादि की बात समझ के परे है। जिसे इन सब की अपेक्षा अवशिष्ट रह गई हो, वह कैसा ब्रह्मनिष्ठ? उसे तो 'यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतः' इत्यादि श्रुतिवाक्यानुसार अकाम-हत अर्थात् वितृष्ण होना चाहिए।

(२) श्रोत्रियः—छान्दस, वेदाध्यायी, वेदज्ञ। अष्टाध्यायी के 'श्रोत्रियश्छन्दोऽधीते' (५।२।८४) इस पाणिनीय सूत्र के अनुसार 'छन्दोऽधीते' (वेद पढ़ता है) इस अर्थ में 'छन्दस्' शब्द के स्थान में 'श्रोत्र' निपातन होता है। घ प्रत्यय लगने पर 'इय' आदेश होकर 'श्रोत्रिय' बनेगा। इसी अर्थ में 'तदधीते तद्वेद' (अष्टा० ४।२।५९) से पक्ष में अण् प्रत्यय लगने पर 'छान्दस' शब्द बनता है—'श्रोत्रियच्छान्दसौ समौ' (अमर० २।७।६)।

(३) अध्यारोपापवादन्याय—मङ्गलाचरण में अखण्ड-अनवच्छिन्न आत्मतत्त्व (ब्रह्म) को 'अवाङ्मनसगोचर' कह आये हैं। तब फिर मन एवं वाणी दोनों के अविषय तत्त्व का उपदेश कैसे दिया जा सकेगा? इसी का समाधान ग्रन्थकार ने 'अध्यारोपापवादन्यायेन' कह कर दिया है। इसका तात्पर्य यह है कि अखण्ड-अनवच्छिन्न ब्रह्म के अवाङ्मनसगोचर होने के कारण विधि रूप से उसका उपदेश न हो सकने पर भी 'नेह नानास्ति किञ्चन' (बृहदा० ४।४।१९) इत्यादि श्रुति-वचनों का अनुसरण करते हुए अज्ञान द्वारा अध्यारोपित अर्थात् मिथ्या आरोपित नाना पदार्थों के अपवाद अर्थात् निषेध के द्वारा उपलक्षित अखण्ड चैतन्य रूप ब्रह्म का "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तैत्ति० २।१।५) इत्यादि श्रुति-वचनों के आधार पर (भागत्याग) लक्षणा द्वारा विधि रूप से भी उपदेश सर्वथा सम्भव है। इस सम्बन्ध में 'सुबोधिनी' व्याख्या की ये पंक्तियाँ विचारणीय हैं—"अखण्डब्रह्मस्वरूपस्यागोचरत्वेन विधिमुखेनोपदेष्टुमशक्यत्वेऽपि 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादिश्रुतिमनुसृत्याविद्यारोपित-मिथ्यानानापदार्थनिषेधमुखेनोपलक्षितमखण्डचैतन्यमेव पुनः "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म (तैत्ति० २।१।५) इत्यादिश्रुतिमनुसृत्य लक्षणया विधिमुखेनाप्युपदिशतीभावः।"

अब ग्रन्थकार 'अध्यारोप' की व्याख्या करते हैं–

असर्पभूतायां रज्जौ सर्पा[illegible]स्तुन्यवस्त्वारोपोऽध्यारोपः। वस्तू सच्चिदानन्दानन्ताद्वयं ब्रह्म [illegible]दिसकलजडसमूहोऽवस्तु। अज्ञानं तु सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं [illegible]गुणात्मकं ज्ञानविरोधि भावरूपं यत्किञ्चिदिति वदन्त्यहमज्ञ [illegible] इत्याद्यनुभवात्, 'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' इत्यादिश्रुतेश्च।।११।।

अस्मिन्नर्थे लौकिकदृष्टान्तमाह असर्पभूतायां इति। व्यावहारिकवस्तुत्वेनाभिमतायां रज्जौ अवस्तुभूतसर्पारोपो नाम रज्ज्ववच्छिन्नचैतन्यस्थाविद्या सर्पज्ञानाभासाकारेण परिणममाना सर्पाकारेण विवर्तते स विवर्तो रज्ज्ववच्छिन्नचैतन्यनिष्ठाविद्योपादानत्वेन नायं सर्पः किन्तु रज्जुरिति विशेषदर्शनोत्तरकालीनाधिष्ठानरज्जुसाक्षात्कारेण रज्ज्वज्ञाननिवृत्तौ सर्पभ्रान्तिर्निवर्तत इत्यर्थः। उक्तमर्थं दार्ष्टान्तिके योजयति वस्त्विति। कालत्रयानपाय्यात्मैव वस्तुशब्दार्थः। तत्रावस्तुस्वरूपमाह अज्ञानादीति। अज्ञानतज्जन्यव्योमादेर्मिथ्यात्वाद् दृश्यत्वात्सावयवत्वाद्विकारित्वात्सापेक्षसिद्धिकत्वादित्यादिहेतुभिरवस्तुत्वमित्यर्थः। एतदेव विस्तरेण प्रतिपादयितुमज्ञानस्वरूपं तावदाह अज्ञानं त्विति। किमिदमज्ञानं सद्रूपमसद्रूपं वा। नाद्यस्तस्य शशविषाणतुल्यत्वेन तुच्छत्वात्। नापि द्वितीयोऽसतः कारणत्वानुपपत्तेरित्यादिहेतुभिः सत्त्वेनासत्त्वेन वा निरूपयितुं न शक्यत इत्याह अनिर्वचनीयमिति। नन्वज्ञानस्यानिर्वचनीयत्वे सर्वथा ज्ञातुमशक्यत्वात्तदभावप्रसङ्गमाशङ्क्याह त्रिगुणात्मकमिति। "अजामेकां" इत्यादिश्रुतिभिः सत्त्वरजस्तमोगुणात्मकत्वप्रतिपादनादित्यर्थः। नन्वेवमजस्याज्ञानस्य श्रुतिप्रसिद्धस्य व्योमादिरूपेण विततस्य सत्यवद्भासमानत्वेन संसारानिवृत्तिमाशङ्क्याह ज्ञानविरोधीति। एतादृशमप्यज्ञानमात्मसाक्षात्कारेण निवर्तत इत्यर्थः। तदुक्तं भगवता–"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते" इति। ज्ञानाभाव एवाज्ञानमिति तार्किकमतं निराकरोति भावरूपमिति। त्रिगुणात्मकभावरूपत्वेऽपीदमित्थमेवेति पिण्डीकृत्य प्रदर्शयितुं न शक्यत इत्याह यत्किञ्चिदिति। किमप्यघटितघटनापटीय इत्यर्थः। अनिर्वचनीयानादिभावरूपाज्ञानसद्भावेऽनुभवमेवोदाहृत्य दर्शयति अहमज्ञ इति। अहमज्ञो मामहं न जानामीत्यपरोक्षावभास एव प्रमाणमित्यर्थः। तस्यैवोपष्टम्भकत्वेन श्रुतिमुदाहरति देवात्मशक्तिमिति।।११।।

अर्थ–(कभी भी) सर्प भाव को न प्राप्त होने वाली रस्सी पर सर्प के आरोप के समान वस्तु पर अवस्तु का आरोप ही अध्यारोप है। वस्तु तो है त्रिकालातीत सच्चिदानन्द अद्वितीय ब्रह्म, और अवस्तु है अज्ञान-मूलक, समस्त जड़ पदार्थों का समूह। अज्ञान तो सत् या असत् रूप से अनिर्वचनीय, त्रिगुणात्मक, ज्ञान का विरोधी, भावरूप अर्थात् अभाव से भिन्न कुछ ('इदमित्थम्' रूप से अनिर्देश्य) है, ऐसा बताते हैं। 'मैं अज्ञानी हूँ' इत्यादि

स्वानुभव एवं "(ध्यानयोगस्थ ब्रह्मवेत्ताओं ने) स्वदेह में ब्रह्म की, अपने (सत्त्वादि तीनों) गुणों से वेष्टित-आलिङ्गित 'माया' शक्ति का निरीक्षण-अन्वेषण किया)"[1] (श्वेताश्वतर० १।३) इत्यादि श्रुति इसमें प्रमाण हैं।

विशेष–(१) अवस्तु–'कालत्रयानपायिनी आत्मैव वस्तु' (सुबोधिनी) अर्थात् भूत, वर्तमान और भविष्य–तीनों ही कालों में नष्ट न होने वाला आत्मतत्त्व ही वेदान्त दर्शन में एकमात्र 'वस्तु' है।

(२) अज्ञानम्–मूल में (तु) शब्द का प्रयोग न्यायादि अन्य सम्प्रदायों के एतद्विषयक मत से स्वमत का वैशिष्ट्य या भेद दिखलाने के लिए किया गया है–'तु पक्षव्यावृत्तौ'। जैसे न्याय 'अज्ञान' को ज्ञान का अभाव मानता है। उसके अनुसार 'अज्ञान' (न ज्ञानमिति अज्ञानम्) शब्द में विद्यमान नञ् का प्रतीक 'अ' अभाव का वाचक है। इसी प्रकार अन्य सभी पक्ष या सम्प्रदाय भी अज्ञान को ज्ञानाभाव का पर्याय मानते हैं। इसके विपरीत शङ्करानुयायी नञ् या उसके प्रतीक 'अ' को 'इतर' या 'भिन्न' अर्थ का बोधक स्वीकार करते हैं। इस प्रकार उनके मत में 'अज्ञान' ज्ञान का अभाव नहीं प्रत्युत ज्ञान से भिन्न कुछ अद्भुत-अनिर्देश्य भावरूप है। 'विवेकचूडामणि' में शङ्कराचार्य ने इस बात को बड़े सुन्दर ढंग से स्पष्ट किया है–

"सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो, भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो।
साङ्गाप्यनङ्गाप्युभयात्मिका नो, महाद्भुताऽनिर्वचनीयारूपा।।"

–विवेक० १११

(३) ज्ञानविरोधि–ज्ञान से भिन्न अज्ञान उससे किस प्रकार से भिन्न है? ज्ञान प्रकटनकारी होने से प्रकाश के समान है, तो अज्ञान स्वरूप का आवरणकारी, ढकने वाला या छिपाने वाला होने के कारण तमस् की तरह है। इसी लिए अपने ब्रह्मसूत्रभाष्य की भूमिका के प्रारम्भ में ही उन्होंने नित्यज्ञानस्वरूप ब्रह्म तथा अध्यारोपया अध्यास के कारणभूत अज्ञान को 'तमःप्रकाशवद् विरुद्ध-स्वभाव' कहा है। जैसा तमस् का विरोधी होने से, प्रकाश के आते ही तमस् नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार से ज्ञान के प्रकट होते ही अज्ञान भी नष्ट हो जाता है, उसके सामने एक क्षण भी ठहरने की शक्ति उसमें नहीं है। इस प्रकार ज्ञान के द्वारा अज्ञान का निवर्त्य होना ही उसका लक्षण है।

(४) भावरूपम्–संख्या २ में अज्ञान पर टिप्पणी लिखते हुए कहा जा चुका है कि 'अज्ञान' में नञ् का प्रतीक 'अ' अभाव या निषेध का बोधक न होकर 'इतर' या भिन्न अर्थ का वाचक है। इस प्रकार स्पष्ट है कि अज्ञान ज्ञान का अभाव नहीं अपितु उससे भिन्न कुछ है। यदि यह अभावरूप होता तो ज्ञान के द्वारा इसके बाध का प्रश्न ही न उठता।

१. तेध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।–श्वेताश्व० १।३

(५) सदसद्भ्यामनिर्वचनीयम्–[illegible] निर्वचनीय अर्थात् शब्दों के द्वारा कथनीय या निर्देश्य इसलिए नहीं है कि उसे [illegible] जा सकता है और न ही असत्, क्योंकि 'सच्चेन्न बाध्येत' असच्चेन्न प्रतीयेत'। अर्थात् यदि अज्ञान को 'संत्' कहें तो सद् आत्मा की तरह उसका कभी भी बाध नहीं होना चाहिए, जबकि तत्त्व के ज्ञान से अज्ञान का बाध होना देखा जाता है। यदि अज्ञान को 'असत्' कहें तो आकाश-कुसुम या बन्ध्यापुत्र आदि के समान उसकी कभी भी प्रतीति नहीं होनी चाहिए, जब कि सर्व-सामान्य को 'मैं अज्ञानी हूँ' इस रूप में अज्ञान की प्रतीति होती है। सदसद्-उभय रूप भी उसे इसलिए नहीं कह सकते कि परस्पर-विरुद्ध होने से ऐसा कहना असङ्गत है। इस प्रकार विचार करने के अनन्तर अज्ञान अनिर्वचनीय ही सिद्ध होता है। एवम् लौकिक दृष्टि से (मैं अज्ञ हूँ-इत्यादि प्रतीति के कारण) 'सत्' प्रतीत होने वाला अज्ञान युक्तिपूर्वक विचार-विवेचन करने से अनिर्वचनीय–निरुपाख्यस्वभाव–ज्ञात होता है और आत्मज्ञान हो जाने पर तुच्छ–निःस्वभाव–ज्ञात हो जाता है, क्योंकि आत्मा का साक्षात्कारात्मक ज्ञान होने के साथ ही अज्ञान निवृत्त या नष्ट हो जाता है।

(६) यत्किञ्चित्–इसका अर्थ है अनिर्वचनीय, अनिर्देश्य; क्योंकि इसे सत्, असत् या सदसद्–कुछ भी नहीं कह सकते।

'अजामेकाम्...' (श्वेताश्व० ४।५) जैसे वचनों से अज्ञान का एकत्व तथा 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' (ऋक्० ६।४७।१८) जैसे वचनों से उसका अनेकत्व कथित होने से उत्पन्न विरोध का समाधान करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं–

इदमज्ञानं समष्टिव्यष्ट्यभिप्रायेणैकमनेकमिति च व्यवह्रियते। तथाहि–यथा वृक्षाणां समष्ट्यभिप्रायेण वनमित्येकत्वव्यपदेशो यथा वा जलानां समष्ट्यभिप्रायेण जलाशय इति तथा नानात्वेन प्रतिभासमानानां जीवगताज्ञानानां समष्ट्यभिप्रायेण तदेकत्वव्यपदेशः 'अजामेकाम्' इत्यादिश्रुतेः। इयं समष्टिरुत्कृष्टोपाधितया विशुद्धसत्त्वप्रधाना। एतदुपहितं चैतन्यं सर्वज्ञत्वसर्वेश्वरत्व-सर्वनियन्तृत्वादिगुणकं सदव्यक्तमन्तर्यामी जगत्कारणमीश्वर इति च व्यपदिश्यते सकलाज्ञानावभासकत्वात्। 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इति श्रुतेः। ईश्वरस्येयं समष्टिरखिलकारणत्वात् कारणशरीरमानन्दप्रचुरत्वात्कोश-वदाच्छादकत्वाच्चानन्दमयकोशः, सर्वोपरमत्वात्सुषुप्तिरत एव स्थूल-सूक्ष्मप्रपञ्चलयस्थानमिति चोच्यते।।१२।।

अज्ञानं विभजत इदमिति। वस्तुतोऽज्ञानस्यैकत्वेऽपि समष्ट्यभिप्रायेणैकमिति

व्यवह्रियते व्यष्ट्यभिप्रायेणानेकमित्यर्थः। तदेव प्रपञ्चयितुं प्रतिजानीते तथाहीति। यथा बहूनां वृक्षाणां समुदायविवक्षया वनमित्येकत्वव्यपदेशो यथा वा बहुनद्यादिजलानां समुदायविवक्षया जलाशय इत्येकत्वव्यपदेशस्तथान्त:करणोपाधिभेदेन नानात्वेन प्रतीयमानानां जीवगताज्ञानानां समुदायविवक्षयाज्ञानमित्येकत्वव्यपदेश इत्यर्थः। अस्मिन्नर्थे श्रुतिं प्रमाणयति अजामिति। नानाजीवगतनिकृष्टान्त:करणव्यष्ट्युपाध्यपेक्षया समष्ट्युपाधेरस्य वैलक्षण्यं दर्शयति इयं समष्टिरिति। विगतरागादिदोषसकलकार्यप्रपञ्चस्य जगत्कारणभूतस्याज्ञानस्य समष्टिभूतोत्कृष्टोपाधित्वेन विशुद्धसत्त्वप्राधान्यमिति भाव:। एतत्समष्ट्युपाधिद्वारेणेश्वरचैतन्यं लक्ष्यति एतदुपहितमिति। एतत्समष्ट्यज्ञानोपलक्षितं चैतन्यं सर्वस्य चराचरात्मकप्रपञ्चस्य साक्षित्वेन सर्वज्ञ इत्युच्यते। सर्वेषां जीवानां कर्मानुरूपेप्सितफलदातृत्वेनेश्वर इत्युच्यते। तथा सर्वेषां जीवानामन्तर्हृदये स्थित्वा बुद्धिनियामकत्वेनान्तर्यामीत्युच्यते। सर्वस्य चराचरात्मकप्रपञ्चस्य विवर्ताधिष्ठानत्वेन जगत्कारणत्वमिति व्यपदिश्यत इत्यर्थ:। उक्तेऽर्थे युक्तिमाह सकलेति। अत्र प्रमाणमाह य: सर्वज्ञ इति। इदानीं तस्यैवेश्वरस्य समुदायोपाधिरेव कारणशरीरत्वमानन्दमयकोशत्वं सुषुप्त्यवस्थावैशिष्ट्यं च लभत इत्याह ईश्वरस्येति। कारणशरीरत्वे हेतुमाह अखिलेति। आनन्दमयत्वे हेतुमाह आनन्दप्रचुरत्वादिति। कारणत्वावस्थायां प्रकृतिपुरुषमात्रव्यतिरिक्तस्य स्थूलसूक्ष्मकार्यप्रपञ्चस्यैवाभावादानन्दबाहुल्यमिति। कोशत्वे युक्तिमाह आच्छादकत्वादिति। शरीराच्छादकचर्मवदात्माच्छादकत्वादज्ञानस्य कोश इति व्यवहार इत्यर्थ:। ननु तथापि कारणत्वोपाधेरज्ञानस्य सुषुप्तित्वं कुत इत्यत आह सर्वोपरमत्वादिति। सर्वस्य स्थूलसूक्ष्मोपाधे: कारणोपाधौ लीनत्वात्सुषुप्तित्वमित्यर्थ:। ननु स्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चलयस्थानस्य कथं सुषुप्तित्वमित्याशङ्क्य, संज्ञाभेदो न वस्तुभेद इत्याह—अत एव स्थूलेति। यत: कारणात्सुषुप्तित्वमत एव पञ्चीकृतभूतकार्यस्य स्थूलप्रपञ्चस्य जाग्रदवस्था-विशिष्टस्यापञ्चीकृतभूतकार्यस्य सूक्ष्मस्वाप्नप्रपञ्चस्य च लयस्थानमित्यपि व्यवह्रियत इत्यर्थ:।।१२।।

अर्थ—यह अज्ञान समष्टि (समूह, समुदाय) और व्यष्टि की दृष्टि से क्रमश: एक और अनेक कहे जाते हैं। जैसे वृक्षों के समूह के अभिप्राय से 'वन' अथवा जल-बिन्दुओं के समूह के अभिप्राय से 'जलाशय', इस प्रकार एकत्व का कथन किया जाता है, उसी प्रकार अन्त:करण रूप उपाधि के भेद से अनेक प्रतीत होने वाले जीवस्थित अज्ञानों की समष्टि के अभिप्राय से 'अजामेकाम्' इत्यादि श्रुति में उनका एकत्व कथित है। यह समष्टि उत्कृष्ट उपाधि होने के कारण विशुद्ध सत्त्व की प्रधानता से युक्त होती है। इससे विशिष्ट चैतन्य समस्त अज्ञानराशि का प्रकाशक होने से सर्वज्ञता, सर्वेश्वरता, सर्व-नियामकता इत्यादि गुणों से युक्त अव्यक्त, अन्तर्यामी जगत् का कारण और ईश्वर कहा जाता है। "जो सर्वज्ञ है, सर्ववित् है" इत्यादि मुण्डक श्रुति (१।१।९) से यह बात सिद्ध होती है।

ईश्वर की उपाधि-भूत यह अज्ञान-समष्टि सम्पूर्ण सूक्ष्म और स्थूल सृष्टि का कारण होने से 'कारण-शरीर' कही जाती है। यही आनन्द की अधिकता से युक्त एवं खड्गादि के कोश (म्यान) की भाँति चैतन्य की आच्छादक होने के कारण 'आनन्दमय कोश' कही जाती है। सभी (स्थूल-सूक्ष्म-उपाधियों) का उपरम अर्थात् विलय-स्थान होने के कारण यह समष्टि 'सुषुप्ति' (प्रलय) तथा इसी कारण से 'स्थूल और सूक्ष्म सृष्टि का लय-स्थान' भी कही जाती है।

विशेष–(१) **समष्टि-व्यष्टि**–समष्टि का अर्थ है समूह–सबको व्याप्त करने वाली (सम्+अश् व्याप्तौ+क्तिन्), तथा व्यष्टि का अर्थ है विशिष्ट अर्थात् एक को व्याप्त करने वाली (वि+अश्+क्तिन्)। प्रस्तुत सन्दर्भ में 'समष्टि' शब्द का प्रयोग संघात या सामान्य के अर्थ में और 'व्यष्टि' शब्द का विशेष या व्यक्ति के अर्थ में किया गया है। परवर्ती वेदान्त में अज्ञान की समष्टि के लिए 'माया' तथा उसकी व्यष्टि के लिए 'अविद्या' शब्द का व्यवहार किया गया है। जैसा मूल में भी कहा गया है, यह समष्टि शुद्ध एवं उत्कृष्ट सत्त्ववाली तथा व्यष्टि अशुद्ध अतश्च मलिन सत्त्व वाली होती है। पञ्चदशी में विद्यारण्य स्वामी ने इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहा है–"सत्त्वशुद्धविशुद्धिभ्यां माया-विद्ये च ते मते" (१।१६)। परन्तु उपनिषत्-श्रुतियों में अज्ञान के लिए माया, अविद्या आदि का प्रयोग सामान्य रूप से मिलता है। स्वयं शङ्कराचार्य ने भी इन शब्दों का प्रयोग एक ही तत्त्व के लिए किया है।

(२) **अजाम्**–इसका शाब्दिक अर्थ है अनुत्पन्न (नञ्+जन् धातु+ड प्रत्यय कर्तरि+स्त्रियाम् टाप्) अर्थात् नित्य। यह माया का वाचक है। इसे त्रिगुणात्मिका एवं अनेक प्रजाओं को उत्पन्न करने वाली कहा है–"अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः" इत्यादि (श्वेताश्व० ४।५)।

(३) **उपाधि**–इसकी व्युत्पत्ति है–उप + आ + धा धातु + कि प्रत्यय। इसका अर्थ है वह हेतु, जो किसी वस्तु के अपने स्वरूप से भिन्न रूप में प्रकाशित या प्रकट होने में प्रयोजक होता है। जैसे, रस्सी के सर्प रूप में प्रकट होने में प्रयोजक हेतु है उस व्यक्ति का अज्ञान, जो उसे सर्प रूप में देखता है। अतः वह अज्ञान उपाधि है। उसी अज्ञान से उपहित होने पर रज्जु उस व्यक्ति को सर्प रूप में दिखाई पड़ती है। जब किसी प्रकार के प्रकाश से वह अज्ञान दूर हो जाता है, तब रज्जु (रस्सी) उससे रहित होने पर अनुपहित कही जाती है और अनुपहित होने पर उसके समक्ष रज्जु रूप में प्रकाशित होती है। सच्चिदानन्द ब्रह्म के ईश्वर रूप में प्रकाशित होने में समष्टि अज्ञान, तथा जीव रूप में प्रकाशित होने में व्यष्टि अज्ञान प्रयोजक हेतु बनता है।

(४) **उत्कृष्टोपाधितया**–उत्कृष्टश्चासौ उपाधिश्च उत्कृष्टोपाधिः, तस्य भावः उत्कृष्टोपाधिता, तया। अर्थात् उत्कृष्ट उपाधि होने के कारण व्यष्ट्यज्ञान की अपेक्षा

समष्ट्यज्ञान इसलिए उत्कृष्ट कहा गया, क्योंकि वह शुद्धसत्त्वप्रधान होता है, जबकि व्यष्ट्यज्ञान मलिनसत्त्वप्रधान होता है। इसके अतिरिक्त यह समष्टि अज्ञान जीव की अपेक्षा उत्कृष्ट ईश्वर की उपाधि होने से भी उत्कृष्ट होता है। इस तर्क के लिए 'उत्कृष्टस्य (ईश्वरस्य) उपाधिः उत्कृष्टोपाधिः' ऐसा विग्रह करना होगा।

(५) जगत्कारण—ईश्वर के पर्याय रूप में आये हुए 'अव्यक्त' एवं 'अन्तर्यामी' शब्द विचारणीय हैं। सांख्य दार्शनिकों के अनुसार 'अव्यक्त' प्रकृति का वाचक है। कठ श्रुति के "महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः। पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः" (१।३।११) मन्त्र में स्थित 'अव्यक्त' शब्द से वे त्रिगुणात्मिका स्वतन्त्र प्रकृति को ही ग्रहण करते हैं। उनकी इस मान्यता के विपरीत शङ्कराचार्य इसे महानात्मा हिरण्यगर्भ के कारण-भूत सर्व-पूरक 'पुरुष' अर्थात् परमात्मा से ओत-प्रोत समस्त कार्यकारण-शक्ति का समाहार मानते हैं "सर्वस्य जगतो बीजभूतमव्याकृतनामरूपसतत्त्वं सर्वकार्यकारणशक्ति-समाहाररूपमव्यक्तम् अव्याकृताकाशादिनामवाच्यं परमात्मन्योतप्रोतभावेन समाश्रितं वटकणिकायामिव वटवृक्षशक्तिः।" अव्याकृत तथा आकाश नाम भी उसी के हैं। अभेद-दृष्टि से "आकाशस्तलिङ्गात्" (ब्रह्मसूत्र १।१।२२) न्याय से 'आकाश' भी ईश्वर का ही वाचक है। प्रस्तुत सन्दर्भ में "अव्यक्तात् पुरुषः परः" कथित होने से 'अव्यक्त' को पुरुष अर्थात् सर्वव्यापक ईश्वर की कार्यकरण-शक्ति का समाहार कहा गया।

आश्चर्य की बात है कि इस विवादास्पद अतएव अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शब्द पर न तो नृसिंह-सरस्वती ने सुबोधिनी में और न ही रामतीर्थ ने विद्वन्मनोरञ्जनी में कुछ विशेष लिखा है। रामतीर्थ ने इसे अन्य शब्दों के साथ सामान्य रूप से उद्धृत भर कर दिया है—"परमार्थतोऽसंगस्यापि चैतन्यस्य..................अज्ञानद्वारा सर्वावभासकत्वेन सर्वमर्यादाधारकसत्तारूपत्वेन सर्वजीवप्रवर्तकत्वेन च लब्धसर्वज्ञत्वादिगुणकस्य सदव्यक्त-मन्तर्यामीश्वर इत्यादि व्यपदेशो भवतीत्यर्थः।" इसमें 'सर्वजीवप्रवर्तकत्वेन' के द्वारा 'अन्तर्यामी' शब्द को स्पष्ट किया है। नृसिंह सरस्वती की व्याख्या कुछ अधिक स्पष्ट है—"सर्वेषां जीवानामन्तर्हृदये स्थित्वा बुद्धि नियामकत्वेनान्तर्यामीत्युच्यते।" अर्थात् समस्त जीवों के अन्तर अर्थात् हृदय में स्थित होकर बुद्धि का नियमन करने के कारण ईश्वर अन्तर्यामी कहा जाता है। वही बाहर से सभी का नियन्त्रण करने से 'सर्वनियन्ता' कहा जाता है।

(६) आनन्दमयकोशः—समष्ट्यज्ञान को ग्रन्थकार ने आनन्दमय कोश कहा है। इसका द्विविध कारण उन्होंने बताया है—(१) आनन्दप्रचुरत्वात् (२) आच्छादकत्वात्। पहला कारण 'आनन्दमय' कहे जाने का तथा दूसरा 'कोश' कहे जाने का है। चूँकि समष्ट्यज्ञानोपहित ब्रह्म से ही सारा आकाशादि प्रपञ्च "तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः

सम्भूत: आकाशाद्वायु:..........." इत्यादि (तैत्तिरीय० २।१।१) वचन के अनुसार उत्पन्न होता है, अत: नियमत: प्रलय में उसी में वह उपरांम (विलय) को भी प्राप्त होता है। इसीलिए इसे 'स्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चलयस्थान' कहा गया है। उत्पत्ति-काल जाग्रदवस्था है तो प्रलयकाल 'सुषुप्ति' है, क्योंकि जहाँ जाग्रदवस्था में सभी प्रपञ्च और तदाधृत समस्त क्रियायें होती रहती हैं, वहाँ सुषुप्ति अवस्था में सभी पदार्थ एवं तद्विषयक क्रिया-कलाप विलीन हो जाते हैं, उपराम (विलय) को प्राप्त हो जाते हैं।

अज्ञान की समष्टि के निरूपंण के अनन्तर उनकी व्यष्टि का निरूपण करते हुए ग्रन्थकार इस प्रकार कहते हैं—

यथा वनस्य व्यष्ट्यभिप्रायेण वृक्षा इत्यनेकत्वव्यपदेशो यथा वा जलाशयस्य व्यष्ट्यभिप्रायेण जलानीति, तथाऽज्ञानस्य व्यष्ट्भिप्रायेण तदनेकत्वव्यपदेश: 'इन्द्रो मायाभि: पुरुरूप ईयत' इत्यादिश्रुते:। अत्र व्यस्तसमस्तव्यापित्वेन व्यष्टिसमष्टिताव्यपदेश:। इयं व्यष्टिर्निकृष्टोपाधितया मलिनसत्त्वप्रधाना। एतदुपहितं चैतन्यमल्पज्ञत्वानीश्वरत्वादिगुणकं प्राज्ञ इत्युच्यते, एकाज्ञानावभासकत्वात्। अस्य प्राज्ञत्वमस्पष्टोपाधितयाऽनतिप्रकाशकत्वात्। अस्यापीयमहङ्कारादिकारणत्वात्कारणशरीरम्, आनन्दप्रचुरत्वात् कोशवदाच्छादकत्वाच्चानन्दमयकोश:, सर्वोपरमत्वात् सुषुप्तिरत एव स्थूलसूक्ष्मशरीरप्रपञ्चलयस्थानमिति चोच्यते।।१३।।

समष्टिरूपाज्ञानं सप्रपञ्चं निरूप्येदानीं व्यष्टिभूतमज्ञानं सप्रपञ्चं निरूपयितुं दृष्टान्तौ तावद्दर्शयति यथा वनस्येति। यथा बहुवृक्षसमुदायस्य वनत्वेन रूपेणैकत्वव्यवहारेऽपि प्रत्येकवृक्षविवक्षया चूतादयो बहवो वृक्षास्तिष्ठन्तीति बहुत्वव्यवहारो यथा वा वापीकूपतडागादिषु समुदायविवक्षया जलाशय इत्येकत्वव्यवहारेऽपि प्रत्येकं वाप्यादिविवक्षया बहूनि जलानि तिष्ठन्तीति बहुत्वव्यवहारस्तथा सकलप्रपञ्चकारणस्याज्ञानस्य समुदायरूपेणैकत्वेऽप्यहङ्का-रादिकारणीभूतानां जीवगताज्ञानानां प्रत्येकविवक्षया बहुत्वव्यवहार इत्यर्थ:। अस्मिन्नर्थे श्रुतिं प्रमाणयति इन्द्र इति। ननु तथाप्येकस्यैवाज्ञानस्य तदवच्छिन्नचैतन्यस्य वा व्यष्टिसमष्टिता कुत इत्यत आह अत्र व्यस्तेति। भेदविवक्षया व्यष्टित्वं मृद्घटादिवत्। अभेदविवक्षया च समष्टित्वं मृत्पिण्डवदित्यर्थ:। तत्र महाप्रलयकालीनसमष्टिभूतविशुद्धसत्त्वप्रधानाया मूलप्रकृते: सकाशाद्दैनन्दिनप्रलयकालीनव्यष्ट्युपाधिभूतजीवप्रकृतेर्भेदं दर्शयति इयं व्यष्टिरिति। इयं जीवगता सुषुप्त्यवस्थापन्नाहङ्कारादिविक्षेपसंस्कारादिरूपा निकृष्टोपाधित्वेन मलिनसत्त्वप्रधानेत्यर्थ:। अनेनोपाधिना प्राज्ञचैतन्यं लक्षयति—एतदुपहितमिति। अत्रोपपत्तिमाह—एकाज्ञानेति।

ईश्वरगतमूलाज्ञानस्य जीवगताहङ्कारादिविक्षेपसंस्कारादिरूपाज्ञानस्य च वस्तुत एकत्वेन तदवभासकेश्वरजीवचैतन्ययोरप्येकत्वमित्यर्थ:। सौषुप्तजीवचैतन्यस्य प्राज्ञत्वं साधयति–अस्य प्राज्ञत्वमिति। संस्काररूपास्पष्टोपाधितया तदावृतत्वेनातिप्रकाशकत्वाभावात्प्राज्ञत्वमस्येत्यर्थ:। यथा जगतकारणेश्वरोपाधे: कारणशरीरत्वमानन्दप्रचुरत्वेन चानन्दमयत्वं कोशदृष्टान्तेन च कोशत्वं, तथैतत्सर्वं तारतम्येन प्राज्ञचैतन्येऽप्यतिदिशति–अहङ्कारादीति। प्रलयकाले हिरण्यगर्भादिप्रपञ्चोत्पादकेश्वरमूलप्रकृतिवत्सुषुप्तिकालेऽहङ्कारादिशरीरोत्पादकसंस्कार-मात्रावशिष्टजीवगताज्ञानस्यापि कारणशरीरत्वमिन्द्रियतद्विषयाभावेन व्यासङ्गाभावादान-न्दबाहुल्यादानन्दमयत्वमात्माच्छादकत्वात्कोशत्वं च युक्तमिति भाव:। ननु स्थूलसूक्ष्म-शरीरलयस्थानस्य कथं सुषुप्तिशब्दवाच्यत्वमित्याशङ्क्य पूर्ववत्संज्ञाभेदो न वस्तुभेद इति वक्तुं तत्र युक्तिमाह–सर्वोपरमत्वादिति। पञ्चीकृतस्थूलशरीरस्य व्यावहारिकस्यापञ्चीकृतसूक्ष्म-शरीरे प्रातिभासिके प्रविलापित्वात्तस्यापि प्रातिभासिकस्य स्वाप्नप्रपञ्चस्य स्वकारणेऽज्ञाने लीनत्वात्सर्वोपरतिरित्यर्थ:। तथा चोक्तम्–"लये फेनस्य तद्धर्मा द्रवाद्या: स्युस्तरङ्गके। तस्यापि विलये नीरे तिष्ठन्त्येते यथा पुरा। व्यावहारिकजीवस्य लय: स्यात्प्रातिभासिके। तल्लये सच्चिदानन्दा: पर्यवस्यन्ति साक्षिणी" (वाक्यसुधा ४६-४७) इति।।१३।।

अर्थ–जिस प्रकार वन की व्यष्टियों अर्थात् इकाइयों (अलग-अलग वृक्षों) की दृष्टि से ये वृक्ष हैं ऐसा बहुत्व का कथन किया जाता है, अथवा जलाशय के पृथक्-पृथक् जल-बिन्दुओं की दृष्टि से जल हैं, ऐसा बहुत्व का कथन किया जात है, उसी प्रकार अज्ञान की जीवगत इकाइयों की दृष्टि से उसके बहुत्व का कथन किया जाता है। "वह ईश्वर अनेक अज्ञानों द्वारा बहुत रूपों वाला प्रतीत होता है (ऋ० ६।८।११)। इस श्रुति से यह बात सिद्ध होती है। यहाँ एक-एक व्यक्ति तथा समूह को व्याप्त करने के कारण अज्ञान को क्रमश: व्यष्टि (एक) तथा समष्टि (अनेक) कहा गया है। अज्ञान की यह व्यष्टि (अर्थात् अविद्या) निकृष्ट उपाधि अथवा निकृष्ट (जीव) की उपाधि होने के कारण मलिन सत्त्वगुण की प्रधानता वाली होती है। इससे उपहित चैतन्य केवल एक अज्ञान का प्रकाशक होने से, अल्पज्ञता तथा अनीश्वरता आदि गुणों से युक्त होकर 'प्राज्ञ' (प्रायेण अज्ञ:–विद्वन्मनो०) कहा जाता है। इसके प्राज्ञत्व के हेतु इसकी उपाधि अर्थात् व्यष्ट्यज्ञान् के अस्पष्ट (मलिनसत्त्व-प्रधान) होने से इसका अधिक प्रकाशक न होना है। इस प्राज्ञ की यह उपाधि भी (आगे चलकर उत्पन्न होने वाले) अहङ्कार आदि का कारण होने से कारणशरीर कही जाती है। यही आनन्द की प्रचुरता से युक्त होने तथा कोश (म्यान) की तरह चैतन्य की आच्छादक होने के कारण आनन्दमयकोश एवं सभी (जाग्रत एवं स्वप्न के) प्रपञ्चों का विलय-स्थान होने के कारण सुषुप्ति भी कही जाती है। इसमें सभी का उपरम होने से, यह 'स्थूल और सूक्ष्म शरीरों के प्रपञ्च (विस्तार अर्थात् सृष्टि) का लयस्थान' भी कही जाती है।

विशेष–(१) यथा वनस्य वृक्षा, यथा वा जलाशयस्य जलानि–समष्टि तथा व्यष्टि के चेतन से सम्बन्ध स्पष्ट करने के लिए वन और वृक्ष तथा जलाशय और जल के दो पृथक्-पृथक् दृष्टान्त पृथक्-पृथक् प्रयोजन में दिये गये हैं। शुद्ध चैतन्य जब अज्ञान की समष्टि और उसके कार्यों तथा व्यष्टि और उसके कार्यों से उपहित होकर क्रमशः ईश्वरत्व और जीवत्व को प्राप्त होता है, तब उसका इन उपाधियों से जो सम्बन्ध होता है, उसे रुचिभेद से पूर्वाचार्यों ने 'प्रतिबिम्ब' और 'अवच्छेद' कहा है। प्रतिबिम्ब तो शंकराचार्य के शिष्य पद्मपादाचार्य और उनकी पद्मपादिका (ब्रह्मसूत्र-शां० भाष्य की) टीका की 'विवरण' नामक टीका के रचयिता प्रकाशात्मा तथा उनके समर्थक मानते हैं और 'अवच्छेद' ब्रह्म० शाङ्करभाष्य की प्रसिद्ध टीका 'भामती' के रचयिता वाचस्पति मिश्र मानते हैं। अवच्छेद का दृष्टान्त वन और वृक्ष, तथा प्रतिबिम्ब का दृष्टान्त जलाशय और जल दिये गये हैं। प्रतिबिम्बवाद से थोड़ा भिन्न शङ्कराचार्य के ही अप्रतिम शिष्य सुरेश्वराचार्य का मत 'आभासवाद' है। 'विवरण' के ही प्रमेयों का विवेचन विद्यारण्य ने अपने 'विवरणप्रमेय-संग्रह' में किया। प्रसिद्ध 'पञ्चदशी' नामक ग्रन्थ में भी उन्होंने विवरण-कार प्रकाशात्मा के प्रतिबिम्बवाद के प्रति ही अपना पक्षपात प्रकट किया है। उनका "मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ ईश्वरः। अविद्यावशगस्त्वन्यस्तद्वैचित्र्यादनेकधा" (पञ्च० १।१६) इसका प्रमाण है। यों, घटाकाश, मठाकाश एवं महाकाश के दृष्टान्त देकर उन्होंने अवच्छेदवाद को भी प्रतिष्ठा दी है, उसकी उपेक्षा नहीं की है।

(२) मलिनसत्त्वप्रधाना–मलिन सत्त्व का अर्थ है रजस् तथा तमस् से अभिभूत सत्त्व व्यष्ट्यज्ञान ईश्वर की अपेक्षा निकृष्ट जीव की उपाधि होने के कारण मलिनसत्त्व प्रधान होता है। रजस् तथा तमस् से अनभिभूत अथवा अस्पृष्ट निर्मल सत्त्व में चिदात्मा (चेतन तत्त्व) स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित होता है। किन्तु उन दोनों से अभिभूत होने पर मलिन सत्त्व में वही स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित नहीं होता। जैसे निर्मल दर्पण में पड़ने वाला प्रतिबिम्ब स्पष्ट होता है। परन्तु धूल इत्यादि से मलिन दर्पण में वही प्रतिबिम्ब अस्पष्ट रहता है। अज्ञान के इन्हीं प्रतिबिम्बों की क्रमशः 'ईश्वर' और 'जीव' संज्ञा है। इसी से जीव अल्पज्ञ होता है, और अल्पज्ञ होते के कारण ही सर्वज्ञ अतएव उत्कृष्ट ईश्वर की अपेक्षा निकृष्ट भी।

(३) प्राज्ञ–प्रकर्षेण जानातीति प्रज्ञः (प्र + ज्ञा धातु + कः कर्तरि); प्रज्ञ एव प्राज्ञः (प्रज्ञ + अण् प्रत्यय स्वार्थे)। अर्थात् प्रकृष्टरूप से जानने वाला ही प्रज्ञ एवं प्राज्ञ होता है। पाणिनीय व्याकरण की इसी व्युत्पत्ति के अनुसार प्राज्ञ का अर्थ विद्वान् होता है और इसी अर्थ में यह संस्कृत में प्रायेण तथा हिन्दी में तो सदैव प्रयुक्त होता है, जैसे महाप्राज्ञ विदुर अथवा वल्लभाचार्य इत्यादि। प्रस्तुत प्रकरण में इसके विपरीत यह शब्द 'अल्पज्ञ' अर्थ के वाचक के रूप में मलिन एवं निकृष्ट जीव के लिए प्रयुक्त हुआ है। अतः इसका

विग्रह विद्वन्मनोरञ्जनीकार ने 'प्रायेण अज्ञः प्राज्ञः' ऐसा किया है। मूल का 'एकाज्ञानावभासकत्वात्' पद इसी अर्थ को स्पष्ट करने के लिए प्रयुक्त हुआ है। 'एक' अर्थात् व्यष्टि-मात्र अज्ञान का अवभासक-प्रकाशक होने से जीव 'प्राज्ञ' है, जब कि समष्टि अज्ञान का प्रकाशक होने से ईश्वर 'सर्वज्ञ'। मलिन अज्ञान में प्रतिबिम्बित होने से जीव भी मलिन एवं अस्पष्ट प्रकाश वाला होता है। इसी से वह पदार्थों या वस्तुओं को यत्किञ्चित् ही प्रकाशित कर पाता है, स्पष्ट रूप से अधिक प्रकाशित नहीं कर पाता। भाष्यकार शङ्कराचार्य ने श्रुतियों में ईश्वर तथा जीव, दोनों के लिए ही 'प्राज्ञ' शब्द का प्रयोग हुआ देख कर इसकी द्विविध व्याख्या प्रस्तुत की है—"भूतभविष्यज्ज्ञातृत्वं सर्वविषयज्ञातृत्वमस्यैवेति प्राज्ञः। अथवा, प्रज्ञप्तिमात्रमस्यैवासाधारणं रूपमिति प्राज्ञः इतरयोर्विशिष्टमपि विज्ञानमस्ति' (माण्डूक्य०) 'प्रज्ञप्ति-मात्र' का अर्थ है—सामान्य ज्ञान, ज्ञान-मात्र। 'इतरयोः' अर्थात् शेष दोनों तैजस् एवं विश्व का ज्ञान सामान्य की अपेक्षा विशिष्ट भी होता है। इसलिए भाष्यकार ने उसे 'विज्ञान' (विशिष्ट ज्ञान) कहा है। इस वस्तुस्थिति में जैकब महोदय का यह कथन सर्वथा सत्य नहीं है कि 'प्राज्ञ' का 'प्रकृष्ट अज्ञ' अर्थ आधुनिक वेदान्तियों के दिमाग की उपज है।

(४) 'अहङ्कारादि'—इस समस्त पद में प्रयुक्त 'आदि' से अन्तःकरण के अन्य तीन तत्त्व या घटक—मन, बुद्धि और चित्त—गृहीत हैं। इस प्रकार समस्त पद से अन्तःकरण गृहीत है। यह अन्तःकरण सुषुप्ति, मूर्च्छादि अवस्थाओं में अज्ञान में ही विलीन हो जाता है, और उनकी समाप्ति पर इसी से फिर उत्पन्न हो जाता है। इसीलिए मूल में इस अज्ञान को 'अहङ्कारादि' अर्थात् अन्तःकरण का कारण कहा गया है। 'अहङ्कारादेः सुषुप्त्यवस्थायां संस्कारावशेषेण स्थितस्य कारणत्वात्' (पृ० ६४) इत्यादि व्याख्या द्वारा विद्वन्मनोरञ्जनी में इसी तथ्य को स्पष्ट किया गया है।

(५) सर्वोपरमत्वात्—चूँकि सुषुप्ति में जाग्रदवस्था तथा स्वप्नावस्था के सारे पदार्थ अज्ञान में ही विलीन हो जाते हैं, इसलिए उसे इन सभी का 'उपरम' अर्थात् विलय स्थान कहा गया है।

अगले सन्दर्भ में ईश्वर और प्राज्ञ की एकता तथा दोनों की उपाधियों की भी एकता का निरूपण किया जा रहा है।

तदानीमेतावीश्वरप्राज्ञौ चैतन्यप्रदीप्ताभिरतिसूक्ष्माभिरज्ञानवृत्तिभिरानन्दमनुभवतः। 'आनन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञः' इति श्रुतेः, 'सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषम्, इत्युत्थितस्य परामर्शोपपत्तेश्च। अनयोः समष्टिव्यष्ट्योर्वनवृक्षयोरिव जलाशयजलयोरिव वाऽभेदः। एतदुपहितयोरीश्वरप्राज्ञयोरपि वनवृक्षावच्छिन्नाकाशयोरिव जलाशय-

जलगतप्रतिबिम्बाकाशयोरिव वाऽभेदः, 'एष सर्वेश्वर' इत्यादि-श्रुतेः।।१४।।

ननु प्रलयकाले सुषुप्तिकाले चान्तःकरणतद्वृत्यभावेनानन्दग्राहकाभावादानन्द-प्राचुर्यसद्भावे प्रमाणाभावमाशङ्क्य परिहरति तदानीमिति। यथा स्वच्छत्वेनान्तःकरणस्य वृत्तिरङ्गीक्रियते तथा चैतन्यप्रदीप्ताज्ञानस्यापि सूक्ष्मा वृत्तयः स्वीक्रियन्ते। तथा चेश्वरः स्वकीयाज्ञानवृत्तिभिः स्वात्मानन्दबाहुल्यं तारतम्येनानुभवतीति भावः। अत्रैवोपष्टम्भकत्वेन श्रुतिमवतारयति आनन्दभुगिति। उत्तरकालीनसुखपरामर्शोपपत्तिरपि पूर्वानुभूत-सुखबाहुल्यानुभवसद्भावे प्रमाणमित्याह सुखमिति। सुखमहमस्वाप्समित्यानन्दपरामर्शः। न किञ्चिदवेदिषमित्य-ज्ञानपरामर्शः। तथाच सुषुप्तिदशायां प्रलयकाले च प्राज्ञेश्वरावज्ञानवृत्तिभिरानन्दमनुभवत एवेत्यर्थः। इदानीमीश्वरगतमूलाज्ञानस्य जीवगत-संस्कारमात्रावशिष्टाज्ञानस्य च समष्टिव्यष्ट्यभिप्रायेण भेदभानेऽपि वस्तुभेदो नास्तीत्ये-तत्सदृष्टान्तमाह अनयोरिति। उक्तोपाधिद्वयद्वारेणेश्वरप्राज्ञयोरप्यभेदं दृष्टान्तमुखेन दर्शयति एतदुपहितयोरिति। ईश्वरस्य वनावच्छिन्नाकाशवत्प्राज्ञस्य वृक्षावच्छिन्नाकाशवच्च तथा स्थूलजलाशयोपाध्यवच्छिन्नाकाश-वत्तद्गतप्रतिविम्बाकाशवच्च कारणोपाध्यवच्छिन्नेश्वरस्य कार्योपाध्यवच्छिन्नप्राज्ञस्य च वस्तुतोऽभेद एवेत्यर्थः। तत्र प्रमाणमाह एष इति। तथा चोक्तमाचार्यैः। "कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः; कार्यकारणतां हित्वा पूर्णवोधोऽवशिष्यत" (अनुभूतिप्रकाश १०।६१) इति।।१४।।

अर्थ—उस समय (अर्थात् प्रलय एवं सुषुप्ति के समय) में ईश्वर और प्राज्ञ (जीव) चैतन्य से प्रकाशित अर्थात् चित्प्रतिविम्ब या चिदाभास से युक्त अज्ञान की अत्यन्त सूक्ष्म वृत्तियों के द्वारा (स्वरूप-गत) आनन्द का अनुभव करते हैं। "प्राज्ञ आनन्द का भोक्ता तथा चेतोमुख है" इत्यादि श्रुति (माण्डूक्य० ५) से, तथा सोकर उठे हुए व्यक्ति को 'मैं सुखपूर्वक सोया, कुछ भी ज्ञान न रहा' इस प्रकार के स्मरण मे (यह बात प्रमाणित या समर्थित होती है) इस समष्टि तथा व्यष्टि के अज्ञान में वन तथा उसके वृक्षों अथवा जलाशय और जल-विन्दुओं की तरह अभेद है। इनसे उपहित ईश्वर तथा प्राज्ञ में भी वन तथा उसके वृक्षों से अवच्छिन्न आकाशों, अथवा जलाशय तथा उसके जल-विन्दुओं में प्रतिविम्बित आकाशों की भाँति अभेद है। "यह (प्राज्ञ ही) सर्वेश्वर है" (माण्डूक्य० ६), इस श्रुति से (ईश्वर तथा प्राज्ञ की एकता सिद्ध होती है)।

विशेष—(१) सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषम्—प्रथम भाग मे आनन्द का भोग तथा द्वितीय से अज्ञान वृत्तियों का उसमें करण बनाना सिद्ध होता है।

(२) ईश्वर-प्राज्ञयोरभेदः—ईश्वर और प्राज्ञ की स्वरूप-गत एकता या अभिन्नता को लेकर ही दोनों का अभेद कहा गया है। दोनों ही चित्स्वरूप हैं। भेद दोनों की उपाधियों के प्रतीयमान भेद को लेकर है। यो वन और उसके वृक्षों की तरह ईश्वरोपाधि 'समष्ट्यज्ञान' तथा जीवोपाधि 'व्यष्ट्यज्ञान' में भी ऐक्य ही है, अनैक्य या भेद तो प्रातीतिक है।

ईश्वर एवं प्राज्ञ को अज्ञानोपहित चैतन्य कहा जा चुका है। अब अज्ञान से अनुपहित शुद्ध चैतन्य को बताते हैं–

वनवृक्षतदवच्छिन्नाकाशयोर्जलाशयजलतद्गतप्रतिबिम्बाकाशयोर्वाऽऽधारभूतानुपहिताकाशवदनयोरज्ञानतदुपहितचैतन्ययोराधारभूतं यदनुपहितं चैतन्यं तत्तुरीयमित्युच्यते। 'शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते' इत्यादिश्रुतेः। इदमेव तुरीयं शुद्धचैतन्यमज्ञानादितदुपहितचैतन्याभ्यां तप्तायःपिण्डवदविविक्तं सन्महावाक्यस्य वाच्यं, विविक्तं सल्लक्ष्यमिति चोच्यते।।१५।।

उपाधिद्वयावच्छिन्नौ प्राज्ञेश्वरौ सप्रपञ्चं निरूप्येदानीमनवच्छिन्नं तुर्यं यच्चैतन्यं तल्लक्षयति–वनवृक्षेति। यथा स्थूलवनोपाध्यवच्छिन्नाकाशापेक्षया सूक्ष्मवृक्षोपाध्यवच्छिन्नाकाशापेक्षया च महाकाशस्य तदुभयाधारतयानवच्छिन्नत्वाच्च तुरीयत्वं, तथा कार्यकारणोपाधितदवच्छिन्नचैतन्यद्वयापेक्षया तदाधारभूतं यदनवच्छिन्नं सर्वव्यापि चैतन्यं विशुद्धं तुरीयमुच्यत इत्यर्थः। अस्य चैतन्यस्य तुरीयत्वं वक्ष्यमाणविश्वाद्यपेक्षयेति द्रष्टव्यम्। अस्मिन्नर्थे श्रुतिं संवादयति शिवमिति। आदिपदात् "त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद्भवेत्। तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहं सदाशिव" इत्यादिश्रुत्यन्तरसङ्ग्रहः। एतदेव विशुद्धचैतन्यं तदेव पूर्वोक्तचैतन्यद्वयेन सहैकत्वविवक्षायां महावाक्यस्य वाच्यत्वं लभते भेदविवक्षायां च लक्ष्यत्वं लभत इत्याह इदमेवेति। त्रयाणां चैतन्यानां चैतन्येन रूपेणैकत्वेऽप्यवच्छिन्नानवच्छिन्नत्वेन रूपेण वाच्यलक्ष्यत्वे सम्भवत इत्यर्थः।।१५।।

अर्थ–जैसे वन, वृक्ष और उनसे अवच्छिन्न (उपहित) आकाश का आधारभूत अनुपहित आकाश होता है। अथवा जैसे, जलाशय, जलविन्दु और उनमें प्रतिबिम्बित आकाश का आधारभूत अनुपहित आकाश होता है। उसी प्रकार इन दोनों समष्टि और व्यष्टि अज्ञानों तथा इनसे उपहित चैतन्यों (ईश्वर तथा प्राज्ञ) का आधारभूत जो अनुपहित शुद्ध चैतन्य होता है, वह तुरीय (चतुर्थ) कहा जाता है। "(वह शुद्ध अनुपहितचैतन्य) शिव, अद्वैत तथा चतुर्थ माना जाता है, (माण्डूक्य० ७) इस श्रुति से (यही बात सिद्ध होती है)। यही चतुर्थ शुद्ध चैतन्य अज्ञानादि प्रपञ्च और उससे उपहित चैतन्य से तपाये गये लौह-पिण्ड से तद्गत अग्नि की भाँति, पृथक् न प्रतीत होता हुआ 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) इत्यादि महावाक्य का वाच्यार्थ कहा जाता है, और पृथक् प्रतीत होता हुआ लक्ष्यार्थ होता है।

विशेष–(१) आधारभूतानुपहिताकाशवत्–अनुपहित महाकाश को वनावच्छिन्न और वृक्षावच्छिन्न आकाशों का आधार कहा गया है उनका उपादान होने से। वन तथा वृक्षों का भी आधार वह इस कारण से कहा गया कि उसके बिना उनकी स्थिति असम्भव

है, यद्यपि वह इनका उपादान कारण नहीं है। फिर भी वह निमित्त तो है ही।

(२) तुरीय–यह शब्द 'चतुर' में 'छ' (ईय) प्रत्यय लगने पर बनता है। यत् प्रत्यय लगाने पर 'तुर्य' शब्द बनता है। दोनों ही शब्दों में 'चतुर' के आदिम वर्ण'च' का लोप हो जाता है। इसके लिए अष्टाध्यायी सूत्र ५।२।५१ पर कात्यायन का 'चतुरश्छयतावाद्यक्षरलोपश्च' यह वार्तिक है। इसका अर्थ यह है कि 'चतुर' शब्द के आगे 'छ' तथा 'यत्' प्रत्यय लगते हैं और आद्य अक्षर (च) का लोप हो जाता है। यह शुद्ध अनुपहित चैतन्य समष्ट्युपहित ईश्वर-हिरण्यगर्भ-वैश्वानर, इन तीनों तथा व्यष्ट्युपहित प्राज्ञ-तैजस-विश्व, इन तीनों की अपेक्षा से 'चतुर्थ' कहा जाता है।

(३) वाच्यम्, लक्ष्यम्–शब्द की अभिधा शक्ति से प्राप्त अर्थ अभिधेय या 'वाच्य' तथा लक्षणा शक्ति से प्राप्त अर्थ 'लक्ष्य' कहा जाता है। इसका विस्तृत विवेचन तो यथावसर आगे आयेगा, किन्तु संक्षेप से इसे यहाँ भी समझ लेना आवश्यक है। वस्तुत: तो अभिधा एवं लक्षणा के अतिरिक्त शब्द की एक तीसरी भी शक्ति होती है जिसे व्यञ्जना नाम से जाना जाता है। परन्तु इसकी अपेक्षा काव्य में होती है। वेदान्त शास्त्र में तो प्राय: अभिधा की अपेक्षा होती है जिससे लोक में प्रसिद्ध मुख्य अर्थ का बोध होता है। इसी से अभिधेयार्थ या वाच्यार्थ को मुख्यार्थ भी कहा जाता है। जब मुख्यार्थ का वाक्य में अन्वय या सम्बन्ध अनुपपन्न हो जाता है, ठीक नहीं बैठता, तब उसका बाध होने पर उससे सम्बद्ध अर्थ का ग्रहण जिस शक्ति से होता है उसे लक्षणा, एवं उस अर्थ को उस शक्ति से प्राप्त होने के कारण लक्ष्यार्थ कहा जाता है। आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में इस शक्ति का लक्षण करते हुए कहा है कि–

"मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्। अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया" अर्थात् मुख्यार्थ का बाध होने पर रूढ़ि या प्रयोजन वश शब्द की जिस आरोपित (कल्पित) क्रिया या व्यापार से बाधित मुख्यार्थ से सम्बद्ध अर्थ का ग्रहण किया जाता है उसे लक्षणा कहते हैं। जैसे 'गङ्गायां घोष:' वाक्य में गङ्गा की धारा में अहीरों की बस्ती असम्भव होने से उस अर्थ का बाध होने पर, गंङ्गा-प्रवाह संबंध गङ्गा-तट रूप अर्थ 'गङ्गा शब्द में अरोपित लक्षणा शक्ति से गृहीत होता है। तट में घोष का आधारत्व सर्वथा उपपन्न है। तब तो 'गङ्गातटे घोष:' ऐसा वाक्य कहना चाहिए था। परन्तु तब गङ्गा के शीतत्व-पावनत्व इत्यादि का घोष में बोध या ग्रहण न होता जो कि वक्ता को अभिप्रेत है। यह उदाहरण है प्रयोजनवती लक्षणा का। वेदान्त में इसे जहल्लक्षणा कहते हैं, क्योंकि गङ्गा के प्रवाह या धारा रूप अर्थ का परित्याग करके तत्सम्बद्ध तट या तीर रूप अर्थ का ग्रहण करना होता है। 'रक्तो धावति' का 'रक्तोऽश्वो धावति' अर्थ लिये जाने से इस वाक्य में अजहल्लक्षणा है, क्योंकि यहाँ 'रक्त' के 'लाल' अर्थ की सङ्गति के लिए 'अश्व' इत्यादि

का ग्रहण करना होता है। इसी से इसे उपादान लक्षणा भी कहा जाता है। वेदान्त के 'तत्त्वमसि' महावाक्य में 'तत्' और 'त्वम्' पदों के 'शुद्ध चैतन्य' रूप अर्थ के लिए सर्वज्ञत्व-परोक्षत्वादि तथा अल्पज्ञत्व-अपरोक्षत्वादि का परित्याग, तथा चैतन्य-मात्र का ग्रहण होता है जिससे अंशतः त्याग (और अंशतः ग्रहण) होने के कारण इसे 'भागत्याग' या 'जहदजहत्' लक्षणा कहा जाता है।

समष्टि तथा व्यष्टि के भेद से अज्ञान के दोनों विभागों या प्रकारों का निरूपण कर लेने के अनन्तर उसके कार्यों का विवरण प्रस्तुत करने के लिए उसकी शक्तियों का निरूपण ग्रन्थकार सदानन्द इस प्रकार करते हैं–

अस्याज्ञानस्यावरणविक्षेपनामकमस्ति शक्तिद्वयम्। आवरणशक्तिस्तावदल्पोपि मेघोऽनेकयोजनायतमादित्यमण्डलमवलोकयितृनयनपथपिधायकतया यथाच्छादयतीव, तथाज्ञानं परिच्छिन्नमप्यात्मानमपरिच्छिन्नमसंसारिणमवलोकयितृबुद्धिपिधायकतयाच्छादयतीव, तादृशं सामर्थ्यम्। तदुक्तम्–

"घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नमर्कं यथा मन्यते निष्प्रभं चातिमूढः। तथा बद्धवद्भाति यो मूढदृष्टेः स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा।।"इति।।

अनयैवावरणशक्त्यावच्छिन्नस्यात्मनः कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखदुःखमोहात्मकतुच्छसंसारभावनापि सम्भाव्यते, यथा स्वाज्ञानेनावृतायां रज्ज्वां सर्पत्वसम्भावना।।१६।।

अथेदानीं स्वप्रकाशचिद्रूपस्यात्मनः कथं कुण्ठितप्रकाशत्वं कथं वासङ्गोदासीनस्यात्मन आकाशादिप्रपञ्चजनकत्वमित्येतन्महाविरोधपरिहारायाज्ञानस्य शक्तिद्वयं निरूप्यते अस्याज्ञानस्येति। ते एव नामतो निर्दिशति आवरणेति। सच्चिदानन्दस्वरूपमावृणोतीत्यावरणशक्तिः। ब्रह्मादिस्थावरान्तं जगज्जलबुद्बुदवन्नामरूपात्मकं विक्षिपति सृजतीति विक्षेपशक्तिरिति शक्तिद्वयमज्ञानस्येत्यर्थः। नन्वपरिच्छिन्नस्य प्रकाशचिद्रूपाखण्डपरिपूर्णस्वरूपस्यात्मनः परिच्छिन्नेनानित्येन जडतमोरूपेणाव्यापकेनाज्ञानशक्तिविशेषेण कथमावरणमित्याशङ्क्य वस्तुतोऽज्ञानस्यात्माच्छादकत्वाभावेऽपि प्रमातृबुद्धिमात्राच्छादकत्वेनाज्ञानस्यात्माच्छादकत्वमुपचारादुच्यत इत्याह आवरणेति। यथात्यल्पोऽपि मेघोऽनेकयोजनविस्तीर्णमादित्यमण्डलमवलोकयितृपुरुषदृष्टिमात्राच्छादकत्वेनाच्छादयतीत्युपचर्यते तथातितुच्छं परिच्छिन्नमप्यज्ञानं प्रमातृबुद्धिमात्राच्छादकत्वेनात्मानमाच्छादयतीत्युपचारादुच्यत इत्यर्थः। अस्मिन्नर्थे वृद्धसम्मतिमाह तदुक्तमिति। इयमेवावरणशक्ति-रात्मनो भेदबुद्धिजनकत्वेन संसारहेतुरितिभावः। अत्रानुरूपं दृष्टान्त-

माह यथेति।।१६।।

अर्थ—इस अज्ञान की आवरण एवं विक्षेप नामक दो शक्तियाँ हैं। इनमें पहले आवरण शक्ति ली जाय। जिस प्रकार छोटा भी बादल देखने वाले व्यक्ति के दृष्टिपथ को ढक लेने के कारण, अनेक योजनों तक विस्तीर्ण सूर्य-मण्डल को ढक सा लेता है, उसी प्रकार अज्ञान परिमित होते हुए भी प्रमाता की बुद्धि को ढक लेने के कारण अपरिमित (सर्वव्यापी) एवं असंसारी आत्मा को ढक-सा लेता है। (आपातत: ही, वस्तुत: नहीं)। (अज्ञान की आवरण-शक्ति) ऐसी ही शक्ति है। ऐसा कहा भी गया है—

'जिस प्रकार अत्यन्त मूढ़ व्यक्ति, बादल से अपनी दृष्टि-पथ के ढक जाने पर, सूर्य को बादल से ढका हुआ अतश्च निस्तेज या प्रकाश-हीन समझता है, उसी प्रकार मूढ़ पुरुष की दृष्टि से जो आत्मा बन्धन में पड़ा हुआ (अर्थात् ससारी) सा प्रतीत होता है, वह नित्य-ज्ञान स्वरूप आत्मा (ही) मैं हूँ।' (हस्तामलकस्तोत्र १०)।

जैसे अपने अज्ञान से ढकी हुई रस्सी में सर्प (की प्रतीति) की सम्भावना होती है, वैसे ही अज्ञान की इस आवरणशक्ति से आच्छन्न आत्मा में कर्त्ता होने, भोक्ता होने तथा सुख-दु:ख-मोह रूप तुच्छ संसार से युक्त होने की भावना भी सम्भव हो जाती है।

विशेष—(१) आवरण-शक्ति—आत्मा के वास्तविक अर्थात् सत्-चित्-आनन्द स्वरूप को ढक लेने के कारण, अज्ञान की इस शक्ति को आवरण-शक्ति कहते हैं। अंग्रेजी भाषा में इसका अनुवाद Concealing powrer किया जाता है। इस शक्ति से वस्तु के स्वरूप के ढक लिए जाने पर ही उसके स्थान में उससे भिन्न रूप की कल्पना सम्भव हो पाती है और जिस शक्ति से इस भिन्न रूप की सम्भावना होती है, वह अज्ञान की विक्षेप शक्ति कहलाती है, क्योंकि एक स्थान में दूसरे की कल्पना, दूसरे का रख दिया जाना ही तो विक्षेप है, और जिसके कारण यह विक्षेप हो, जो यह विक्षेप करे वह विक्षेप शक्ति है। संस्कृत की क्षिप् धातु का अर्थ रखना, स्थापित करना, फेंकना आदि होता है, इसलिए विक्षेप शक्ति को अंग्रेजी में Projecting power या Power of projection कहा जाता है।

(२) अज्ञानं परिच्छिन्नमपि—दृष्टान्त पक्ष में मेघ सूर्यमण्डल की अपेक्षा सर्वथा परिच्छिन्न अर्थात् परिमित या सीमित है। इसीलिए तो कहा गया कि मेघ सूर्य को ढकता हुआ सा लगता है, वस्तुत: ढक नहीं सकता, क्योंकि सूर्यमण्डल से बहुत ही छोटा, सीमित है। फिर मेघ के आ जाने पर सूर्यमण्डल दिखाई क्यों नहीं पड़ता? क्योंकि जिस दृष्टि से वह देखा जाता है, उसके एवं सूर्य के बीच रास्ते में वह आ जाता है। दार्ष्टान्तिक (प्रस्तुत या प्रकृत) पक्ष में भी नित्यज्योति-स्वरूप, सदैव प्रकाशमान आत्मा यदि जीव को दिखाई नहीं पड़ता तो क्यों? जीवगत आत्म-विषयक अज्ञान के कारण। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि चूँकि जीव के स्वरूप-भूत सर्वव्यापी-विभु आत्मा के विषय में उसकी दृष्टि

को अज्ञान आवृत-आच्छादित कर लेता है, इसीलिए सर्वप्रकाशक एवं स्वयं प्रकाश होने पर भी वह जीव को दिखाई नहीं पड़ता। एवं दृष्टान्त-गत मेघ के सादृश्य से तत्स्थानीय अज्ञान को भी सर्वव्यापी आत्मा की अपेक्षा से परिच्छिन्न परिमित कह दिया गया। अन्यथा तो वह अनिर्वचनीय होने से परिच्छिन्न-अपरिच्छिन्न, कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

(३) तुच्छ संसार—अद्वैत वेदान्त के अनुसार सुखदुःखमोहात्मक जगत् तात्त्विक दृष्टि से तुच्छ या निस्स्वभाव है। लौकिक दृष्टि से ही यह सत् प्रतीत होता है। किन्तु युक्तिपूर्वक विचार करने पर इसकी अनिर्वचनीयता प्रकट होती है।

विक्षेपशक्तिस्तु, यथा रज्ज्वज्ञानं स्वावृतरज्जौ स्वशक्त्या सर्पादिकमुद्भावयति एवमज्ञानमपि स्वावृतात्मनि विक्षेपशक्त्याकाशादिप्रपञ्चमुद्भावयति। तादृशं सामर्थ्यम्। तदुक्तम्—

'विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादिब्रह्माण्डान्तं जगत्सृजेत्' इति।।१७।।

यदुक्तमसङ्गोदासीनस्यात्मनः कथं जगत्कारणत्वमिति तन्निराकर्तुं विक्षेपशक्तिस्वरूपमाह विक्षेपेति। यथा रज्जुविषयकमज्ञानं सर्पमुत्पादयति तथात्मविषयकमज्ञानमपि स्वावच्छिन्न आत्मनि विक्षेपशक्तिप्रभावेणकाशादिप्रपञ्चमुद्भावयत्युत्पादयतीत्यर्थः। अस्मिन्नर्थे ग्रन्थान्तरसम्मतिं दर्शयति तदुक्तमिति।।१७।।

अर्थ—अज्ञान की विक्षेपशक्ति इस प्रकार की है—जैसे रज्जु के विषय में होने वाला (व्यक्ति का) अज्ञान, अपने द्वारा ढकी हुई रज्जु में, अपनी शक्ति से सर्प आदि की उद्भावना कर देता है, उसी प्रकार अज्ञान, अपने द्वारा ढके हुये आत्मा में अपनी विक्षेपशक्ति से आकाश आदि कार्य की उद्भावना कर देता है। विक्षेप शक्ति की ऐसी ही सामर्थ्य है। ऐसा कहा भी गया है—"विक्षेप-शक्ति सूक्ष्म शरीर से लेकर (स्थूल) ब्रह्माण्ड-पर्यन्त समस्त जगत् की सृष्टि कर देती है" (वाक्यसुधा, १३)।

आवरण तथा विक्षेप नामक शक्तियों से युक्त अज्ञान से उपहित ईश्वर जगत् का कारण है, यह कहा जा चुका। अब प्रश्न यह है कि ईश्वर जगत् का निमित्त कारण है, अथवा उपादान कारण है, अथवा दोनों ही। इसी के उत्तर में आगे कहा जा रहा है—

शक्तिद्वयवदज्ञानोपहितं चैतन्यं स्वप्रधानतया निमित्तं स्वोपाधिप्रधानतयोपादानं च भवति। यथा लूता तन्तुकार्यं प्रति स्वप्रधानतया निमित्तं स्वशरीरप्रधानतयोपादानं च भवति।।१८।।

ननु किमात्मा चराचरात्मकप्रपञ्चस्य निमित्तकारणमुपादानकारणं वा। नाद्यो, दण्डादिवत्स्वकार्यव्यापित्वं न स्यादात्मनः "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" इतिश्रुत्या स्वकार्यव्यापित्वश्रवणात्। न द्वितीयोऽचेतनस्य जडस्य प्रपञ्चस्य चैतन्योपादानकत्वासम्भवात्। उपादानत्वेन च कार्यकारणयोरभेदेन प्रपञ्चस्यापि चैतन्यरूपत्वप्रसङ्गादनित्यत्वं न

स्यादित्याशङ्क्य जडप्रपञ्चं प्रत्यात्मनश्चैतन्यप्राधान्येन निमित्तत्वं स्वाज्ञानप्राधान्येनोपादानत्वं च सम्भवतीत्याह शक्तिद्वयवदिति। यथायस्कान्तसन्निधाने जडमयं लोहं चेष्टते तथा चैतन्यसन्निधाने जडमयमज्ञानं चेष्टत इत्यज्ञानविकारं प्रति चैतन्यस्य निमित्तत्वम्। जडाकाशादिकार्यं प्रति मायाया: साक्षादुपादानत्वेन मायाविन ईश्वरस्यापि परम्परयोपचारादुपादानत्वं न विरुध्यत इत्यर्थ:। यदुक्तं चैतन्यस्य निमित्तकारणत्वे कार्यानुप्रवेशो न स्यादिति तन्न। कारणस्य कार्यानुप्रवेशनियमस्योपादानकारणविषयत्वेन निमित्तकारणविषयत्वाभावात्। "तत्सृष्ट्वा" इत्यादिश्रुतेरप्युपादानकारणपरत्वात्। यद्यप्युक्तमात्मन उपादानकारणत्वे प्रपञ्चस्यानित्यत्वं न स्यादिति तदपि न तस्य परिणामविषयत्वेन विवर्तविषयत्वाभावात्प्रपञ्चस्य ब्रह्मविवर्तत्वाद्विवर्तत्वं च स्वस्वरूपापरित्यागेन स्वरूपान्तरप्रदर्शकत्वम्। यथा रज्ज्ववच्छिन्नचैतन्यनिष्ठाज्ञानस्य रज्जुस्वरूपापरित्यागेन सर्पादिस्वरूपान्तरप्रदर्शकत्वं तथेश्वरचैतन्यनिष्ठाज्ञानशक्तेरपि चैतन्यस्वरूपापरित्यागेनाकाशादिस्वरूपान्तराकारेण प्रदर्शकत्वम्। एतावताकाशादिप्रपञ्चस्य नित्यत्वं न सम्भवत्यज्ञानस्य मिथ्यारूपत्वेन तज्जन्याकाशादिप्रपञ्चस्यापि मिथ्यात्वात्। न चैवमज्ञानस्य मिथ्यात्वे तत्प्रयुक्तबन्धमोक्षयोरपि मिथ्यात्वप्रसङ्ग इति वाच्यमिष्टापत्ते:। तदुक्तं भागवते–"बद्धो मुक्त इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुत:। गुणस्य मायामूलत्वान्न मे मोक्षो न बन्धनम्"।। इत्यलमतिविस्तरेण। एकस्यैवात्मनो निमित्तोपादानकारणत्वे दृष्टान्तमाह यथा लूतेति। यथा लूता स्वोत्पाद्यमानं तन्तुलक्षणं कार्यं प्रति स्वचैतन्यप्रधानतया निमित्तं चैतन्यसन्निधानव्यतिरेकेण जडस्य देहस्य मृतशरीरवत्तन्तुजनकत्वासम्भवात्स्वशरीरप्राधान्येनोपादानं च भवति। अशरीरस्य साक्षात्तन्तुजनकत्वासम्भवाच्छरीरस्य साक्षात्तन्तूपादानत्वेन तदवच्छिन्नचैतन्यस्याप्युपादानत्वेनोपचारात्। एवमीश्वरस्यापि स्वचैतन्यप्रधानतया निमित्तत्वं स्वोपाधिप्रधानतयोपादानत्वं च भवतीत्यर्थ:।।१८।।

अर्थ–आवरण एवं विक्षेप नामक दोनों शक्तियों से युक्त अज्ञान से उपहित चैतन्य (अर्थात् ईश्वर) अपनी (अर्थात् चैतन्य की) प्रधानता से जगत् का निमित्त कारण, एवं अपनी उपाधि (अज्ञान) की प्रधानता से उपादान कारण होता है। जैसे, मकड़ी अपने जाले के प्रति अपनी (अर्थात् चैतन्य की) प्रधानता से निमित्त कारण तथा अपने शरीर की प्रधानता से उपादान-कारण होती है।

विशेष–शाङ्कर वेदान्त जगत् की सृष्टि ईश्वर से मानता है। उसकी दृष्टि से वह जगत् का उपादान कारण तथा निमित्त कारण, दोनों ही है। अपनी उपाधि 'अज्ञान' की प्रधानता से उपादान कारण तथा अपनी (अर्थात् चैतन्य की) प्रधानता से निमित्त कारण है। अपने इस मत के लिए वह मकड़ी का दृष्टान्त देता है। मकड़ी जिस ताने-बाने से अपना जाला बुनती है, वह कहीं बाहर से नहीं अपितु अपने शरीर से ही प्रकट करती

है। भीतर से निकली लाला (लार) ही बाहर आकर सूखकर ताने-बाने के सूत की आकृति धारण करके जाल बन जाती है। लाला वह स्वयं ही निकालती है, अतः जाल के प्रति वह स्वयं निमित्त कारण है। मुण्डकोपनिषद् में लूता (मकड़ी) के इस दृष्टान्त से ईश्वर को जगत् का निमित्तोपादानोभय कारण मानने का सिद्धान्त इस प्रकार कथित है—

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च
यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि
तथाऽक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्।।—मुण्डक० १।१।७

इस मन्त्र में दिये गये तीन दृष्टान्तों में से केवल ऊर्णवाभि अर्थात् मकड़ी का दृष्टान्त उभयविध कारण होने में सटीक है, शेष पृथिवी तथा पुरुष उसका शरीर क्रमशः ओषधि और केश-लोम की उत्पत्ति में उपादान कारण होने के दृष्टान्त हैं। उत्पन्न करके फिर स्वेच्छया अपने भीतर समेट लेने में भी मकड़ी का ही दृष्टान्त सटीक है। ईश्वर भी मकड़ी की तरह अपने द्वारा की गई सृष्टि का निमित्त और उपादान दोनों ही प्रकार का कारण है, तथा स्वेच्छया उसे करके फिर अपने में विलीन कर लेता है। सृष्टि-प्रलय की क्रिया में ईश्वर स्वतन्त्र है, कुम्हार इत्यादि की तरह परतन्त्र और परापेक्षी नहीं। वेदान्त के इस मत के विरुद्ध न्याय-वैशेषिक और साङ्ख्य के सिद्धान्त हैं। न्याय-वैशेषिक के अनुसार ईश्वर जगत् का केवल निमत्त कारण है, उपादान कारण नहीं। उपादान कारण तो नित्य परमाणु हैं जो पृथिवी, जल इत्यादि पञ्चभूतों के सूक्ष्मतम अविनाशी अंश हैं। इसी प्रकार सांख्य मत में जगत् का उपादन कारण प्रकृति है और उसका निमित्त कारण प्रकृति तथा पुरुष का संयोग है। योगदर्शन में भी सांख्य जैसी ही मान्यता है। यद्यपि वह ईश्वरवादी दर्शन है, तथापि जगत् की सृष्टि में उसकी कोई उपयोगिता इस दर्शन में नहीं दिखाई पड़ती। हाँ, भक्तों के प्रणिधान (ध्यान) से उनकी चित्तवृत्तियों के निरोध में सहायक अवश्य होता है।[1]

शाङ्कर वेदान्त के अनुसार तो ब्रह्म के अतिरिक्त कोई वस्तु है ही नहीं, फिर वह किसकी सहायता लेगा अपने सृष्टि-प्रलय कार्य में। सच तो यह है कि जगत् की सृष्टि के लिए ब्रह्म में अज्ञान की भी कल्पना की जाती है, वह जगत् जो वेदान्त की दृष्टि से वस्तुतः ब्रह्म से-पृथक् कहीं है ही नहीं। सूर्य की किरणों के सम्पर्क से चमकती हुई सैकत (बलुही) भूमि में प्रतीयमान जल उस भूमि से पृथक् कहीं है क्या? रस्सी में प्रतीयमान सर्प की उससे पृथक् अपनी कोई सत्ता नहीं होती। इसी प्रकार ब्रह्म रूप अधिष्ठान में प्रतीयमान जगत् की उससे पृथक् कोई सत्ता नहीं है। एवं जगत् वास्तविक नहीं है। इसे

---

१ योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः। ईश्वरप्रणिधानाद्वा।—योग० १।२,१२,२३

ही वेदान्त 'विवर्त'–असत् या काल्पनिक परिणाम–की संज्ञा देता है। इसका कारण अज्ञान है, ऐसा मत वेदान्त का है। जिस अज्ञानी की दृष्टि से जगत् है, सृष्टि है, उसी के अनुरोध से वेदान्त-श्रुतियाँ उसके कारण रूप से ब्रह्म में अज्ञान की कल्पना करती हैं। उसकी दृष्टि से वस्तुतः न तो उत्पत्ति है, न प्रलय है, न कोई बन्धन में है, न कोई बन्धन से मुक्त होने की इच्छा से साधना करता है और न ही कोई मुक्त होता है। अधोलिखित माण्डूक्योपनिषत्कारिका इसमें प्रमाण है–

"न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता।।"–मा०का० २।३२

संक्षेप में ईश्वर की जगत्-कारणता का प्रतिपादन कर चुकने के अनन्तर उससे उत्पन्न होने वाले जगत् रूप कार्य की उत्पत्ति का क्रम बताते हुए ग्रन्थकार कहते हैं–

तमःप्रधानविक्षेपशक्तिमदज्ञानोपहितचैतन्यादाकाशः, आकाशाद्वायुर्वायोरग्निरग्नेरापोऽद्भ्यः पृथिवी चोत्पद्यते। 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत' इत्यादिश्रुतेः। तेषु जाड्याधिक्यदर्शनात्तमःप्राधान्यं तत्कारणस्य। तदानीं सत्त्वरजस्तमांसि कारणगुणप्रक्रमेण तेष्वाकाशादिषूत्पद्यन्ते। एतान्येव सूक्ष्मभूतानि तन्मात्राण्यपञ्चीकृतानि चोच्यन्ते। एतेभ्यः सूक्ष्मशरीराणि स्थूलभूतानि चोत्पद्यन्ते।।१६।।

इदानीं विक्षेपशक्तिकृत्यमाह तमःप्रधानेति। आकाशादेर्जडत्वात्तमोगुणप्रधानविक्षेपशक्तियुक्ताज्ञानावच्छिन्नचैतन्यस्यैवाकाशादिप्रपञ्चजनकत्वमिति भावः। अस्मिन्नर्थे श्रुतिं प्रमाणयति तस्मादिति। एतेनार्थात्सांख्यनैयायिकपक्षौ निरस्तौ, शक्तेरज्ञानस्य शक्तिमत्परतन्त्रत्वात्। स्वतन्त्रस्य तस्य केवलस्य जडस्याज्ञानस्य जगत्कारणत्वानुपपत्तेः। "ईक्षतेर्नाशब्दम्" "रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम्" इत्यादिन्यायनिरस्तत्वाच्च। परमाणोरप्युक्तदोषग्रासत्रासानपायात्। अभिन्ननिमित्तोपादानप्रतिपादकश्रुतिस्मृतिन्यायविरोधाच्च। "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति", "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्", "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च", "अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते", "बीजं मां सर्वभूतानाम्" इत्यादिश्रुतिस्मृतिभिरीश्वरस्यैव जगत्कारणत्वप्रतिपादनात्। नन्वाकाशादिप्रपञ्चोत्पादकचैतन्यावच्छेदकाज्ञाने कुतस्तमःप्राधान्यमित्याशङ्क्याह तेषु जाड्येति। "कारणगुणा हि कार्यगुणानारभन्त" इति न्यायादिति भावः। ननु त्रिगुणात्मकत्वादज्ञानस्य कथं तमोगुणमात्रप्राधान्येनाकाशादिजनकत्वमित्याशङ्क्याह तदानीमिति। तदानीमुत्पत्तिवेलायां सत्त्वादयस्त्रयोऽपि गुणास्तारतम्येन कारणगुणप्रक्रमन्यायेन तेष्वाकाशादिषु पञ्चभूतेषूत्तरोत्तराधिक्येन जायन्त इत्यर्थः। इमान्येव सूक्ष्मशरीरादिका-

रणभूतान्यपञ्चीकृतानि सूक्ष्मरूपपञ्चभूततन्मात्राणीत्युच्यन्त इत्याह एतानीति। तदुक्तम्—"पञ्चप्राणमनोबुद्धिदशेन्द्रियसमन्वितम्। अपञ्चीकृतभूतोत्थ सूक्ष्माङ्गं भोगसाधनम्"।। इति वचनादप्यपञ्चीकृतभूतेभ्योऽपञ्चीकृतसूक्ष्मशरीराणि पञ्चीकृतस्थूलभूतेभ्यः स्थूलशरीराणि चोत्पद्यन्त इत्याह एतेभ्य इति।।१६।।

अर्थ—तमः-प्रधान एवं विक्षेपशक्ति से युक्त अज्ञान से उपहित चैतन्य (ईश्वर) से आकाश उत्पन्न होता है, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल तथा जल से पृथिवी उत्पन्न होती है, उस अर्थात् सर्व-प्रसिद्ध इस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ" (तैत्तिरीय० २।१)—इत्यादि श्रुति से (यह बात प्रमाणित होती है)। उन आकाश इत्यादि में जड़ता की अधिकता दिखाई पड़ने से उसके कारण (अज्ञान) में तमोगुण की प्रधानता मानी जाती है। उस समय अर्थात् सृष्टि-काल में उन (कार्यभूत) आकाश इत्यादि में सत्त्व, रजस् तथा तमस् कारण (अज्ञान) में रहने वाले गुणों के न्यूनाधिक्य के अनुपात से उत्पन्न होते हैं (अर्थात् इनमें भी तमोगुण की अधिकता, तथा सत्त्व एवं रजोगुण की न्यूनता उत्पन्न हो जाती है)। ये आकाशादि ही सूक्ष्मभूत, तन्मात्र और अपञ्चीकृत (भूत) कहे जाते हैं। इनसे सूक्ष्म शरीर तथा स्थूल अर्थात् पञ्चीकृत महाभूत उत्पन्न होते हैं।

विशेष—(१) जाड्याधिक्यदर्शनात्—'आधिक्य' का भाव स्पष्ट करते हुए रामतीर्थ ने कहा है[1] कि 'आधिक्य' शब्द से भूतों और उनके कार्यों में चैतन्य की भी कुछ अनुवृत्ति या उपस्थिति सूचित होती है। "जगत् के समस्त पदार्थों में रहने वाले अस्तित्व, प्रकाशन या स्फुरण, प्रियत्व, रूप तथा नाम—इन पाँच धर्मों में से प्रथम तीन अर्थात् सत्ता, चैतन्य तथा आनन्द स्पष्ट ही ब्रह्म के तथा शेष दो अर्थात् नाम और रूप तमःप्रधान अज्ञान या माया के प्रतीक हैं।" (वाक्यसुधा, २०) ऐसा तत्त्वज्ञों का कथन है।

(२) आकाशः सम्भूतः—तैत्तिरीय श्रुति के इस वचन से पृथ्वी, जल इत्यादि अन्य चारों की तरह ही आकाश की भी उत्पत्ति का सिद्धान्त स्पष्ट होता है। इससे वैशेषिक को मान्य आकाश की अनुत्पत्ति का सिद्धान्त कट जाता है। अन्य सभी की अपेक्षा श्रुति का प्रामाण्य ही बलिष्ठ होता है। पृथ्वी, जल, तेजस् और वायु की उत्पत्ति तो वैशेषिक दर्शन को मान्य है, किन्तु इनके परमाणु अनुत्पन्न होने से नित्य माने जाते हैं। कल्पान्त अर्थात् प्रलय में चारों भूतों का विनाश परमाणु-पर्यन्त ही होता है और कल्पादि में इन्हीं परमाणुओं से द्वयणुक आदि के क्रम से पृथ्वी इत्यादि भूत उत्पन्न होते हैं।

(३) कारणगुणप्रक्रमेण—विद्वन्मनोरञ्जनी टीका में रामतीर्थ ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—'कारणस्याव्यक्तस्य ये गुणाः सत्त्वादयस्तेषां प्रक्रमेण तान् गुणानारभ्य

---

१. द्रष्टव्य, विद्वन्मनोरञ्जनी पृ० ६६—जाड्याधिक्यदर्शनादित्यत्राधिक्यशब्दं प्रयुञ्जानः सत्तास्फूर्तिप्रदत्वेन कार्येषु चैतन्यस्यापीषदनुवृत्तिं सूचयति। तथा चाहुस्तत्त्वदर्शिनः—"अस्ति, भाति, प्रियं, रूपं, नाम चेत्यंशपञ्चकम्। आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं, जगद्रूपं ततो द्वयम्।।" इति (वाक्यसुधा ३०)

यथाकार्यक्रमं सत्त्वादिगुणा: सहैव कार्यैस्तेषूत्पद्यन्त इत्यर्थ:'। अर्थात् अव्याकृत अवस्था में अज्ञान में सत्त्वादि गुणों का जो प्रक्रम अर्थात् न्यूनाधिक्य या तारतम्य होता है, उसी के अनुसार आकाशादि कार्यों में भी ये गुण उत्पन्न हो जाते हैं। जैसे-जैसे आकाश इत्यादि कार्य उत्पन्न होते हैं, वैसे-वैसे उन कार्यों के साथ उनके कारण-भूत अज्ञान में रहने वाले सत्त्वादि तीनों गुण भी न्यूनाधिकता के अनुपात से उत्पन्न हो जाते हैं। कहा जा चुका है कि अज्ञान में तमस् की प्रधानता तथा सत्त्व-रजस् की न्यूनता रहती है। इसी के अनुसार आकाश इत्यादि कार्यों में भी तमस् की अधिकता तथा सत्त्व-रजस् की न्यूनता रहती है। मूल के 'प्रक्रम' शब्द का वाच्यार्थ होता है—उत्पत्ति तथा अनुपात अर्थात् न्यूनाधिक्य। प्रस्तुत स्थल में यही द्वितीय अर्थ ग्राह्य है।

(४) सूक्ष्मभूतानि तन्मात्राणि अपञ्चीकृतानि—अव्याकृत अज्ञान से जिन आकाश आदि की उत्पत्ति कही गई है, वे सूक्ष्मभूत हैं जिन्हें अन्यत्र 'तन्मात्र' भी कहते हैं। ये भूत अपञ्चीकृत अवस्था के होने के कारण सूक्ष्म होते हैं, स्थूल नहीं। स्थूलता तो पञ्चीकृत अर्थात् पाँचों के परस्पर मिश्रण के अनन्तर ही आती है, तभी वे महाभूत कहे जाते हैं। यह मिश्रण या मेल किस अनुपात में और किस प्रकार से होता है, यह 'पञ्चीकरण' नामक प्रक्रिया आगे महाभूतों अर्थात् स्थूल भूतों की उत्पत्ति में ग्रन्थकार स्वयं कहेंगे।

सूक्ष्मभूतों की उत्पत्ति के अनन्तर उनके कार्यों का विवरण प्रस्तुत करते हुए पहले सूक्ष्म शरीर के अवयवों का निरूपण कर रहे हैं—

सूक्ष्मशरीराणि सप्तदशावयवानि लिङ्गशरीराणि। अवयवास्तु ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं, बुद्धिमनसी कर्मेन्द्रियपञ्चकं, वायुपञ्चकञ्चेति। ज्ञानेन्द्रियाणि श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणाख्यानि। एतान्याकाशादीनां सात्त्विकांशेभ्यो व्यस्तेभ्य: पृथक्-पृथक् क्रमेणोत्पद्यन्ते। बुद्धिर्नाम निश्चयात्मिकान्त:करणवृत्ति:। मनो नाम संकल्पविकल्पात्मिकाऽन्त:करणवृत्ति:। अनयोरेव चित्ताहङ्कारयोरन्तर्भाव:। एते पुनराकाशादिगतसात्त्विकांशेभ्यो मिलितेभ्य उत्पद्यन्ते। एतेषां प्रकाशात्मकत्वात्सात्त्विकांशकार्यत्वम्।।२०।।

सूक्ष्मशरीरस्वरूपभूतानवयवानाह अवयवास्त्विति। सात्त्विकांशादाकाशाच्छ्रोत्रमुत्पद्यते सात्त्विकांशाद्वायोस्त्वगिन्द्रियं सात्त्विकांशात्तेजसश्चक्षु: सात्त्विकांशाज्जलाज्जिह्वा सात्त्विकांशाया: पृथिव्या: सकाशाद् घ्राणेन्द्रियं चेति क्रमेणोत्पद्यन्त इत्याह एतानीति। बुद्धेर्लक्षणमाह बुद्धिर्नामेति। ब्रह्मैवाहमिति निश्चयात्मिकान्त:कारणवृत्तिरेव बुद्धिरित्यर्थ:। मनसो लक्षणमाह मनो नामेति। अहं चिद्रूपो देहो वेति संशयात्मिकान्त:करणवृत्तिरेव मन इत्यर्थ:।

स्मरणात्मकचित्तस्य गर्वात्मकाहङ्कारस्य च बुद्धिमनसोरन्तर्भाव इत्याह अनयोरेवेति। यद्यप्यन्त:करणत्वेन चतुर्णामेकत्वं तथाप्येकस्यैव पुरुषस्य पाचक: पाठक इत्यादिवृत्तिभेदाद्भेदवदेकस्याप्यन्त:करणस्य निश्चयसंशयस्मरणाहङ्कारविषयभेदैर्बुद्ध्यादिभेद इत्यर्थ:। बुद्ध्यादीनामुत्पत्तिप्रकारं दर्शयति एते पुनरिति। एतेषां चतुर्णां सात्त्विकांशेभ्यो भूतेभ्य उत्पत्तौ निमित्तमाह एतेषामिति। बुद्ध्यादीनां प्रकाशात्मकत्वात्सात्त्विकांशभूतकार्यत्वमित्यर्थ:।।२०।।

अर्थ—सूक्ष्मशरीर सत्रह अवयवों वाले लिङ्गशरीर हैं। ये अवयव हैं—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, बुद्धि और मन, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा पाँच वायु अर्थात् प्राण। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं—श्रोत्र, त्वक् (त्वचा), चक्षु (नेत्र), जिह्वा (रसना) और घ्राण (नासिका)। ये ज्ञानेन्द्रियाँ आकाश इत्यादि सूक्ष्म भूतों के सत्त्वांश से अलग-अलग क्रमानुसार उत्पन्न होती हैं, (अर्थात् आकाश के सत्त्वांश से श्रोत्र, वायु के सत्त्वांश से त्वक्, तेज के सत्त्वांश से चक्षु, जल के सत्त्वांश से रसना, और पृथ्वी के सत्त्वांश से घ्राण उत्पन्न होते हैं)। अन्त:करण की निश्चय करने वाली वृत्ति का नाम 'बुद्धि' है। अन्त:करण की सङ्कल्प-विकल्प अर्थात् ऊहापोह करने वाली संशयात्मिका वृत्ति का नाम 'मन' है। इन्हीं दोनों में चित्त तथा अहंकार का अन्तर्भाव हो जाता है। ये बुद्धि इत्यादि आकाश इत्यादि सूक्ष्म भूतों में रहने वाले सत्त्व गुण के सम्मिलित अंश से उत्पन्न होते हैं। स्वरूप से विषयों के प्रकाशक या ज्ञान-कारक होने से इन (पाँच ज्ञानेन्द्रियों, मन तथा बुद्धि) को सूक्ष्म भूतों के सत्त्व-अंश का कार्य कहा गया है।

विशेष—(१) लिङ्गशरीराणि—लिङ्ग्यते ज्ञाप्यते प्रत्यगात्मा एभिरिति लिङ्गानि। शरीर-प्रतिष्ठत्वात्, धर्मादिद्वारेण शरीरसाधनत्वाद् वा शरीराणि। लिङ्गानि च तानि शरीराणि चेति लिङ्गशरीराणि। अर्थात् जिसके द्वारा प्रत्यगात्मा के अस्तित्व का ज्ञापन हो, तथा धर्माधर्मादि के अर्जन से स्थूल शरीर की प्राप्ति हुई हो, उसे लिङ्गशरीर कहते हैं। दूसरे शब्दों में प्रत्यगात्मा की सत्ता का लिङ्ग अर्थात् ज्ञापक होने के कारण ही सूक्ष्म शरीर लिङ्गशरीर कहलाता है। यह सूक्ष्म शरीर प्रत्यागात्मा की सत्ता का ज्ञापक किस प्रकार से है, इसे विद्वन्मनोरञ्जनी में रामतीर्थ ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—"विमतानीन्द्रियाणि प्राणश्च स्वातिरिक्तस्वानुगतचैतन्याधिष्ठानपूर्वकप्रवृत्तयोऽचेतनात्वाद्रथादिवत्" इति। अर्थात् विवादास्पद इन्द्रियाँ और प्राण स्वयं अचेतन होने के कारण, अचेतन रथ इत्यादि की भाँति ही, स्वातिरिक्त किसी चेतन के द्वारा अधिष्ठित होकर ही प्रवृत्तिशील (क्रियाशील) होते हैं, अत: इनकी क्रिया या प्रवृत्ति इनसे भिन्न किसी चेतन तत्त्व का अनुमान कराते हैं। यह तत्त्व शरीरान्तर्गत स्थित होने से प्रत्यगात्मा कहा जाता है। अचेतन करण चेतन कर्त्ता के अभाव में क्रियाशील नहीं हो सकते। बढ़ई के द्वारा चलाये जाने पर ही बसूला, आरी इत्यादि औजारों से लकड़ी काटने का कार्य सम्पन्न होता है, उसके अभाव में नहीं।

साङ्ख्य दर्शन में भी सूक्ष्म शरीर का अस्तित्व स्वीकार किया गया है। परन्तु उसमें मन तथा बुद्धि के अतिरिक्त अहंकार को भी समाविष्ट करने से अवयवों की संख्या अठारह हो जाती है। एक भेद और भी है, वह यह है कि जहाँ वेदान्त के अनुसार पाँच वायु या प्राण लिङ्गशरीर के अवयवों में गृहीत हैं, वहाँ साख्य में पाँच तन्मात्र गृहीत हैं। ईश्वरकृष्ण-कृत चालीसवीं सांख्य-कारिका से यह बात ज्ञात होती है, जो इस प्रकार है–

"पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्।
संसरति निरूपभोगं, भावैरधिवासितं लिङ्गम्।।"

महदादि–सूक्ष्मपर्यन्तम् का अर्थ है–महत् अर्थात् बुद्धि से लेकर 'सूक्ष्म' अर्थात् तन्मात्र पर्यन्त। सांख्य की सृष्टि-प्रक्रिया के अनुसार महत् से अहंकार, सात्त्विक अहंकार से पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्च कर्मेन्द्रियाँ तथा मन, एवं अहंकार से पञ्च तन्मात्र उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार महत् से सूक्ष्म तन्मात्र पर्यन्त १८ तत्त्व होते हैं। इन्हीं से बना शरीर लिङ्गशरीर है।

(२) अन्तःकरण-वृत्ति–शब्दादि बाह्य विषयों का ज्ञान करने वाली श्रोत्रादि इन्द्रियाँ कहलाती हैं। ये ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। इसी प्रकार गमन, आदानादि क्रिया की साधन-भूत पाद, पाणि आदि इन्द्रियाँ कर्मेन्द्रियाँ हैं। ये भी बाह्य हैं। इनके विपरीत आन्तरिक सङ्कल्प-विकल्प, अहंकार, निश्चय आदि वृत्तियों (क्रियाओं) की करणभूत इन्द्रियों को अन्तरिन्द्रिय या अन्तःकरण कहते हैं। एक होने पर भी यह अन्तःकरण वृत्ति-भेद से बुद्धि और मन नाम से दो प्रकार का हो जाता है। इनमें निश्चय करने वाली वृत्ति बुद्धि तथा संकल्प-विकल्प अर्थात् संशय करने वाली वृत्ति मन है। इन दोनों से अभिमान को पृथक् मानकर, उसकी करण-भूत इन्द्रिय को 'अहंकार' कहते हैं। सांख्य-दर्शन अन्तःकरण को बुद्धि, अहंकार तथा मन के भेद से त्रिविध ही मानता है। अनुसन्धान या स्मरण को इन तीनों से पृथक् चतुर्थ वृत्ति मानने से वेदान्त में अन्तःकरण चार प्रकार का हो जाता है। अनुसंधान करने वाली अन्तःकरण-वृत्ति को 'चित्त' कहते हैं। इस प्रकार सांख्य-दर्शन के त्रिविध अन्तःकरण के स्थान में वेदान्त में अन्तःकरण-चतुष्टय की चर्चा है। परन्तु चित्त का बुद्धि में तथा अहंकार का मन में अन्तर्भाव करके वह अन्तःकरण को प्रायः द्विविध ही मानता है। दो मानने के कारण ही लिङ्गशरीर में केवल बुद्धि तथा मन की गणना करके उसे सत्रह अवयवों वाला कहा गया है।

पीछे निरूपित मन, बुद्धि एवं पञ्च ज्ञानेन्द्रियों से सूक्ष्म शरीर के अन्तर्गत विज्ञानमय तथा मनोमय, ये दो कोश बनते हैं। अतः अब इन दोनों का निरूपण क्रमशः किया जा रहा है। तीसरे प्राणमय कोश का विवरण इसके बाद किया जाएगा–

इयं बुद्धिर्ज्ञानेन्द्रियैः सहिता विज्ञानमयकोशो भवति। अयं कर्तृत्व-भोक्तृत्वसुखित्वदुःखित्वाद्यभिमानत्वेनेहलोकपरलोकगामी व्यावहारिको

जीव इत्युच्यते। मनस्तु ज्ञानेन्द्रियैः सहितं सन्मनोमयकोशो भवति।।२१।।

बुद्धेर्विज्ञानमयकोशत्वं दर्शयति इयं बुद्धिरिति। बुद्धेः सत्त्वकार्यत्वाज्ज्ञानेन्द्रियसाहित्येन प्रकाशाधिक्याद्विज्ञानमयत्वम्। आत्माच्छादकत्वाच्च कोशत्वमित्यर्थः। विशुद्धबुद्धिप्रतिबिम्बित-चिदात्मनो जीवत्वं दर्शयति अयं कर्तृत्वेति। तप्तायःपिण्डवद् बुध्यारोपितं चैतन्यं वस्तुतोऽकर्तृभोक्तृ नित्यानन्दापरिच्छिन्नमक्रियमपि भोक्तृत्वकर्तृत्वदुःखित्वपरिच्छिन्नत्वंक्रिया-वत्त्वाद्यभिमानेन स्वर्गादिलोकान्तरगामित्वं व्यावहारिक जीवत्वं च लभत इत्यर्थः। मनोमयकोशं निरूपयति मनस्त्विति। सत्त्वगुणप्रधानं मनः सत्त्वगुणांशेभ्यो जातं श्रोत्रादिज्ञानेन्द्रियैरेव सहितं सन्मनोमयकोश इत्यर्थः। अत्र तु मनसः सत्त्वोपहितरजो-विकारेच्छारूपत्वात्सङ्कल्पविकल्पात्मकत्वेन बुद्ध्यपेक्षया जाड्याधिक्यान्मनोमयत्वमात्मा-च्छादकत्वात्कोशत्वमिति भावः।।२१।।

अर्थ—यह बुद्धि ज्ञानेन्द्रियों के सहित विज्ञानमय कोश कहलाती है। यह कोश अर्थात् इससे अवच्छिन्न चिदात्मा ही,'मैं कर्त्ता हूँ, भोक्ता हूँ, सुखी हूँ, दुःखी हूँ, इत्यादि व्यवहार का अभिमान करने वाला 'जीव' कहा जाता है और इसी अभिमान करने के कारण यह इहलोक और परलोक में गमन करता है। मन ज्ञानेन्द्रियों के सहित मनोमय कोश कहलाता है।

विशेष—चिदात्मा तो स्वरूपतः कर्ता या भोक्ता नहीं है किन्तु विज्ञानमय कोश से आवृत्त या अवच्छिन्न होकर कर्त्ता हो जाता है, और जो कर्त्ता है, उसे स्वकर्मों का भोग भी भोगना पड़ेगा जिसके लिए उसे इहलोक तथा परलोक में संसरण करने वाला जीव बनना पड़ता है। बुरे कर्मों का भोग प्रतिकूल वेदनीय होने से दुःख रूप तथा भले कर्मों का भोग अनुकूल वेदनीय होने से सुख रूप होता है। इस प्रकार सुखित्व और दुःखित्व भोक्तृत्व के ही दो प्रकार हैं। सुबोधिनी में 'विशुद्धबुद्धि में प्रतिबिम्बित चैतन्यजीव है' ऐसा कहा गया है।

सूक्ष्मशरीरान्तर्गत तृतीय प्राणमय कोश का निरूपण करने के लिए ग्रन्थकार पहले कर्मेन्द्रियों एवं पञ्च प्राणों के स्वरूप का निरूपण करते हैं—

कर्मेन्द्रियाणि वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यानि। एतानि पुनरा-काशादीनां रजोंऽशेभ्यो व्यस्तेभ्यः पृथक्-पृथक् क्रमेणोत्पद्यन्ते। वायवः प्राणापानव्यानोदानसमानाः। प्राणो नाम प्राग्गमनवान्नासाग्रस्थानवर्ती। अपानो नामावाग्गमनवान् पाय्वादिस्थानवर्ती। व्यानो नाम विश्वग्ग-मनवानखिलशरीरवर्ती। उदानो नाम कण्ठस्थानीय ऊर्ध्वगमनवानुत्क्रमण-वायुः। समानो नाम शरीरमध्यगताशितपीतान्नादिसमीकरणकरः।।२२।।

कर्मेन्द्रियाण्युद्दिशति कर्मेन्द्रियाणीति। एतेषामुत्पत्तौ साधनापेक्षायामाह एतानीति। भूतानां त्रिगुणत्वेऽपि रजोगुणबहुलेभ्यो भूतेभ्यो वागादीनि पृथक्पृथक् क्रमेण जायन्ते। रजोगुणप्रधानादाकाशाद्वागुत्पद्यते रजोगुणप्रधानाद्वायोः पाणीन्द्रियं रजोगुणप्रधानादग्नेः पादेन्द्रियं रजोगुणप्रधानाज्जलात्पाय्विन्द्रियं रजोगुणप्रधानायाः पृथिव्या गुह्येन्द्रियमुत्पद्यत इत्यर्थः। वायूनुद्दिशति–वायव इति। यथोद्देशं प्राणस्य लक्षणमाह–प्राणो नामेति। ऊर्ध्वगमनशीलो नासाग्रस्थायी वायुः प्राण इत्यर्थः। अपानस्य लक्षणमाह–अपानो नामेति। अधोगमनशीलः पाय्वादिस्थायी वायुरपान इत्यर्थः। व्यानस्य लक्षणमाह–व्यानो नामेति। सर्वनाडीगमनशीलोऽखिलशरीरस्थायी वायुर्व्यान इत्यर्थः। उदानस्य लक्षणमाह–उदानो नामेति। ऊर्ध्वमुत्क्रमणशीलः कण्ठस्थायी वायुरुदान इत्यर्थः। समानस्य लक्षणमाह-समानो नामेति। शरीरमध्यगतान्नरसादिनेता वायुः समान इत्यर्थः। प्राणादीनां वायुत्वेन रूपेणैकत्वेऽपि क्रियाभेदेन भेद इत्यर्थ।।२२।।

अर्थ–कर्मेन्द्रियों के नाम हैं–वाक् (वाणी), पाणि (हाथ), पाद (पैर), पायु (गुदा) और उपस्थ (जननेन्द्रिय)। ये (कर्मेन्द्रियाँ) आकाश आदि सूक्ष्म भूतों के अमिलित रजोगुण के अंश से क्रमशः अलग-अलग उत्पन्न होती हैं। (अर्थात् आकाश-गत रजोगुण से वाक्, वायु-गत रजोगुण से पाणि, अग्नि-गत रजोगुण से पाद, जल-गत रजोगुण से पायु, तथा पृथिवी-गत रजोगुण से उपस्थ उत्पन्न होता है)। प्राण, अपान, व्यान, उदान तथा समान-ये पाँच वायु हैं। ऊर्ध्व (ऊपर की ओर) गमन करने वाले तथा नासिका के अग्रभाग में रहने वाले वायु का नाम प्राण है। नीचे की ओर गमन करने वाले और पायु आदि स्थानों में रहने वाले वायु का नाम 'अपान' है। चारों ओर गमन करने वाले तथा सारे शरीर में रहने वाले वायु का नाम 'व्यान' है। कण्ठ में रहने वाले, ऊर्ध्व गमन करने वाले, एवं (मृत्यु के समय) शरीर से उत्क्रमण करने वाले वायु का नाम 'उदान' है। शरीर के भीतर गये हुए खाये-पिये अन्न-जल आदि का समीकरण अर्थात् रस, रुधिर, शुक्र आदि के रूप में परिणमन या परिपाक करने वाले वायु का नाम 'समान' है।

विशेष–वागादि कर्मेन्द्रियों के विषय क्रमशः 'वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च' (सां० का० ३३) हैं। सांख्य कारिका में इन्हें 'वृत्ति' अर्थात् व्यापार कहा है। वाक् का विषय वचन अर्थात् बोलना है, हाथ का ग्रहण करना या लेना, पाद का विहार करना या चलना, पायु (गुदा) का मल का त्याग या निस्सारण करना और उपस्थ अर्थात् जननेन्द्रि का मैथुन द्वारा आनन्द अर्थात् विषय-सुख प्राप्त करना।

पञ्च वायुओं के सम्बन्ध में एक और मत ग्रन्थकार प्रस्तुत कर रहे हैं–

केचित्तु नागकूर्मकृकलदेवदत्तधनञ्जयाख्याः पञ्चान्ये वायवः सन्तीति वदन्ति। तत्र नाग उद्गिरणकरः। कूर्म उन्मीलनकरः। कृकलः क्षुत्करः। देवदत्तो जृम्भणकरः। धनञ्जयः पोषणकरः। एतेषां प्राणा-

दिष्वन्तर्भावात्प्राणादयः पञ्चैवेति केचित्।।२३।।

कापिलमतानुसारिणः क्रियाभेदेनान्येऽपि पञ्च वायवः सन्तीति वदन्तीत्याह केचित्त्विति। तान्येव नामानि निर्दिशति नाग इत्यादि। तथा चोक्तम्–"उद्गारे नाग आख्यातः कूर्म उन्मीलने स्मृतः। कृकलस्तु क्षुति ज्ञेयो देवदेत्तो विजृम्भणे। न जहाति मृतं चापि सर्वव्यापी धनंजय" इति। वेदान्तिनस्तु नागादीनां प्राणादिष्वन्तर्भावं वदन्तीत्याह एतेषामिति।।२३।।

अर्थ–कुछ लोग[1] नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय नामक पाँच अन्य अर्थात् अतिरिक्त वायु मानते हैं। उनमें डकार–वमन कराने वाले वायु का नाम 'नाग' है। उन्मीलन-निमीलन (पलकों का खुलना-मुँदना) उत्पन्न करने वाले वायु का नाम 'कूर्म' है। भूख उत्पन्न करने वाले वायु का नाम 'कृकल' है। जम्भाई उत्पन्न करने वाले वायु का नाम 'देवदत्त' है तथा शरीर की पुष्टि करने वाले वायु का नाम 'धनञ्जय' है। कुछ अन्य[2] लोगों के मत से इन पाँचों का पूर्वोक्त प्राणादि पञ्च वायुओं में ही अन्तर्भाव हो जाने से, प्राण आदि पाँच ही वायु हैं।

विशेष–"रामतीर्थ ने विद्वन्मनोरञ्जनी में नाग का उदान में 'कूर्म' का व्यान में, कृकल और धनञ्जय का समान में तथाा देवदत्त का अपान में अन्तर्भाव करके पृथक्त्व को श्रुतिविरुद्ध कहा है–" उद्गिरणं ह्यूर्ध्वमुखस्य वायोः क्रिया। तथा चोदानेनैवोद्गिरणस्यापि सिद्धौ नागस्य तत्कर्तुरुदानेऽन्तर्भावाचान्न ततः पृथक्त्वम्। उन्मीलनस्याङ्गचेष्टान्तर्गतत्वात्, तस्याश्च व्याननिमित्तकत्वादुन्मीलनकर्तुः कूर्मस्य व्यानेऽन्तर्भावः। समानेनाशितपीतादीनां पाकेन रसादिभावमापद्य सकलशरीरंदेशेषु तत्प्रवेशने कृते सत्येव क्षुधोत्पत्तेस्तत्कर्तुः कृकलस्य समानेऽन्तर्भावः। जृम्भणस्य निद्रालस्यादिहेतुकत्वात् निद्रालस्यादेश्च वातुलाद्यन्नोपजीवननिमित्तकत्वादन्नस्वीकरणस्य चापानकर्मत्वादपान एव परम्परया जृम्भणहेतो र्देवदत्तस्यान्तर्भावः।....रसलोहितमांसादिक्रमेण शरीरेऽन्नपरिणामे सत्येव पोषणापरपर्यायायाः पुष्टेः सम्भवात् रसादिनयनकर्तरि समाने धनञ्जयस्यान्तर्भाव इति। तथा च प्राणादीनामेव यथायथमुद्गारादिक्रियानिमित्ततया-वस्थान्तरमापद्यमानानां नागादिसंज्ञाया अप्युपपत्तौ तत्त्वान्तरकल्पनमप्रामाणिकम्। श्रुतौ च पञ्चानाम् एवं प्राणादीनां तत्र-तत्र श्रवणात् तद्विरुद्धा चेयं कल्पना (विद्वन्मनो०, १०४)।

अब प्राणादि की उत्पत्ति एवं प्राणमय-कोश का निरूपण करते हैं–

एतत्प्राणादिपञ्चकमाकाशादिगतरजोंऽशेभ्यो मिलितेभ्यः उत्पद्यते। इदं प्राणादिपञ्चकं कर्मेन्द्रियैः सहितं सत्प्राणमयकोशो भवति। अस्य

---

१. नृसिंह सरस्वती ने सुबोधिनी टीका में इसको कपिल मतानुयायियों अर्थात् साङ्ख्य दार्शनिकों का मत कहा है।

२. 'केचित्' से वेदान्तानुयायियों का ग्रहण है, ऐसा सुबोधिनी में नृसिंह सरस्वती ने कहा है।

क्रियात्मकत्वेन रजोंऽशकार्यत्वम्।।२४।।

प्राणादिवायूनामुत्पत्तौ कारणापेक्षायामाह एतत्प्राणादीति। अपञ्चीकृतपञ्चमहाभूतेभ्यो रज:प्रधानेभ्य: प्राणादयो जायन्त इत्यर्थ:। एतेषां प्राणादीनां प्राणप्रचुरत्वात्प्राणमयत्वमात्माच्छादकत्वात्कोशत्वं च भवतीत्याह इदं प्राणादीति। प्राणादीनां रज:प्रधानभूतकार्यत्वे निमित्तमाह अस्येति। प्राणादीनां क्रियात्मकत्वाद्रज:-कार्यत्वमित्यर्थ:।।२४।।

अर्थ—ये प्राणादि पञ्च वायु आकाश इत्यादि सूक्ष्म भूतों के सम्मिलित रजोगुणांश से उत्पन्न होते हैं। प्राणादि पञ्च वायुओं का यह समूह कर्मेन्द्रियों के साथ मिलकर प्राणमयकोश होता है। क्रियात्मक होने के कारण ही यह प्राणमयकोश सूक्ष्मभूतों के रजोगुणांश का कार्य माना जाता है (क्योंकि रजोगुण ही क्रियात्मक तत्त्व होता है—उपष्टम्भकं चलं च रज:—सां० का० १३)।

पूर्वोक्त विज्ञानमय, मनोमय एवं प्राणमय कोश ही मिलकर सूक्ष्म शरीर बनाते हैं, इसका निरूपण करते हैं—

एतेषु कोशेषु मध्ये विज्ञानमयो ज्ञानशक्तिमान् कर्तृरूप:। मनोमय इच्छाशक्तिमान् करणरूप:। प्राणमय: क्रियाशक्तिमान् कार्यरूप:। योग्यंत्वादेवमेतेषां विभाग इति वर्णयन्ति। एतत्कोशत्रयं मिलितं सत् सूक्ष्मशरीरमित्युच्यते।।२५।।

एतेषु पञ्चसु कोशेषु मध्ये विज्ञानमयमनोमयप्राणमयकोशानां क्रमेण ज्ञानेच्छाक्रियाशक्तिभेदेन कर्तृकरणक्रियारूपत्वं दर्शयति एतेष्विति। तत्र हेतुमाह योग्यत्वादिति। इदमेव कोशत्रयं सूक्ष्मशरीरमिति व्यवह्रियत इत्याह एतत्कोशेति।।२५।।

अर्थ—इन कोशों के मध्य विज्ञानमय कोश ज्ञानशक्ति से युक्त और कर्त्तारूप है। मनोमयकोश इच्छाशक्ति से युक्त और करणरूप है। प्राणमय कोश क्रिया-शक्ति से युक्त और कार्यरूप है। इनका यह विभाजन इनकी अपनी-अपनी योग्यता के कारण है, ऐसा शास्त्र वर्णन करते हैं। ये तीनों कोश मिल कर सूक्ष्म शरीर कहलाते हैं।

विशेष—(१) ज्ञानशक्तिमान्—'योऽयं विज्ञानमय: प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योति: पुरुष:' (बृहदा० ४।३।७) इत्यादि श्रुति में विज्ञानमयकोश को प्राणों में हृदय के भीतर रहने वाला ज्योति:स्वरूप पुरुष कहने से उसकी चैतन्य से निकटता सुसिद्ध है। इसी से इसे कर्त्ता-रूप अर्थात् व्यावहारिक जीव कहा गया है।

(२) इच्छाशक्तिमान्—काम या इच्छा मन की प्रधान वृत्ति होने से, उसके सर्वाधिक सन्निकट होती है। इसी से मनोमयकोश को इच्छाशक्तिमान् कहा गया है। मन ही ज्ञान

का साधन है, अतः मनोमयकोश की कारणरूपता सुस्पष्ट है। मन के न रहने पर आत्मा तथा विषयेन्द्रियसंयोग रहने पर भी विषय का ज्ञान नहीं होता, उसके रहने पर ही होता है। इससे स्पष्ट है कि मन ज्ञान में आवश्यक करण है।

(३) क्रियाशक्तिमान् कार्यरूपः–प्राणमयकोश का क्रियाशक्ति से युक्त होना तो अभी थोड़ा पीछे ही कहा जा चुका है। इसी बात को स्पष्ट करने के लिए इसकी उत्पत्ति सूक्ष्मभूतों के मिलित रजोंऽश से बताई गई थीं। जव रजस् क्रियाशील होता है, प्रवृत्तिशील होता है, तब उससे उत्पन्न प्राण भला क्रियाशक्ति से विमुक्त कैसे हो सकते हैं। श्रुतियों में वाक् और मन के संयोग से उत्पन्न होने से इसकी कार्यरूपता सिद्ध है, स्पष्ट है। रामतीर्थ ने अपनी टीका में वृहदा॰ श्रुति (१।५।१२) उद्धृत करके इसकी कार्यरूपता की पुष्टि इस प्रकार की है–"तौं मिथुनौ समैतां, ततः प्राणोऽजायत" इति श्रुतेः प्राणस्य वाङ्मनसयोर्मिथुनीभूतयोरुत्पत्तिश्रवणात् प्राणमयस्य कार्यरूपत्वं युक्तमिति–पृ॰ १०५।

श्रुतियों में अज्ञान रूप कारण-शरीर के एकत्व और बहुत्व के समान ही लिङ्ग-शरीर के भी एकत्व और बहुत्व का वर्णन मिलता है, अतः तदनुसार इसका निरूपण ग्रन्थकार करते हैं–

अत्राप्यखिलसूक्ष्मशरीरमेकबुद्धिविषयतया वनवज्जलाशयवद्वा समष्टिरनेकबुद्धिविषयतया वृक्षवज्जलवद्वा व्यष्टिरपि भवति। एतत्समष्ट्युपहितं चैतन्यं सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भः, प्राणश्चेत्युच्यते सर्वत्रानुस्यूतत्वाज्ज्ञानेच्छाक्रियाशक्तिमदुपहितत्वाच्च। अस्यैषा समष्टिः स्थूलप्रपञ्चापेक्षया सूक्ष्मत्वात्सूक्ष्मशरीरं विज्ञानमयादिकोशत्रयं जाग्रद्वासनामयत्वात् स्वप्नोऽतएव स्थूलप्रपञ्चलयस्थानमिति चोच्यते।।२६।।

अस्य समष्टित्वे हेतुमाह–अत्रापीति। एकबुद्धीति। चराचरप्राणिमात्रस्य यावन्त्यनन्तानि सूक्ष्मशरीराणि तेषां सर्वेषां सूक्ष्मशरीराणां सूत्रात्मना हिरण्यगर्भाख्येन स्वीयैकबुद्धया विषयीकृतत्वात्समष्टित्वमित्यर्थः। तत्र दृष्टान्तमाह वनवदित्यादि। अस्यैव सूक्ष्मशरीरस्य व्यष्टित्वं दर्शयति अनेकेति। अनेकेषां जीवानां प्रत्येकं स्वस्वलिङ्गशरीरस्य स्वस्व-बुद्धिविषयत्वेनानेकबुद्धिविषयतया व्यष्टित्वमित्यर्थः। तत्र दृष्टान्तमाह वृक्षवदित्यादि। उक्तसमष्ट्यवच्छिन्नचैतन्यस्य सूत्रात्मत्वादिसंज्ञां दर्शयति एतत्समष्टीति। तत्र हेतुमाह सर्वत्रेति। हेत्वन्तरमाह ज्ञानेति। ज्ञानेच्छाक्रियाशक्तिमत्कोशत्रयोपाध्यवच्छिन्नत्वादित्यर्थः। विज्ञानमयादिकोशत्रयस्य सूक्ष्मशरीरतां दर्शयति अस्यैषेति। अस्य सूत्रात्मकहिरण्यगर्भाख्यस्य विज्ञानमयादिकोशत्रयं सूक्ष्मशरीरमस्य स्थूलप्रपञ्चापेक्षया सूक्ष्मत्वादित्यर्थः। अस्यैव

विज्ञानमयादिकोशत्रयस्य स्वप्नत्वे युक्तिमाह जाग्रदिति। [illegible]रूपेणानुभूतस्थूलप्रपञ्चविषय-कवासनामयत्वात्स्वप्नत्वमस्येत्यर्थः। अत एवेति। यतः स्वप्नत्वं सूक्ष्मत्वं चात एव स्थूलप्रपञ्चलयस्थानमित्युच्यत इत्यर्थः।।२६।।

अर्थ—यहाँ पर भी समस्त सूक्ष्म शरीर एकत्व-ज्ञान के विषय होने से वन या जलाशय के समान समष्टि होते हैं, और अनेकत्व-ज्ञान के विषय होने से वृक्ष या जलबिन्दु के समान व्यष्टि भी होते हैं। इन सूक्ष्म शरीरों की समष्टि से उपहित चैतन्य सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भ और प्राण कहा जाता है। सर्वत्र अर्थात् समस्त लिङ्ग-शरीरों में सूत्र के समान अनुस्यूत होने के कारण 'सूत्रात्मा', ज्ञानशक्ति से युक्त होने के कारण 'हिरण्यगर्भ' तथा इच्छा एवं क्रियाशक्ति से युक्त होने के कारण 'प्राण' कहा जाता है। सूत्रात्मा की उपाधिभूत यह सूक्ष्मशरीर-समष्टि (आगे उत्पन्न होने वली) स्थूल सृष्टि की अपेक्षा सूक्ष्म होने से 'सूक्ष्म-शरीर', 'विज्ञानमय-मनोमय-प्राणमय कोश', जागरण-काल की वासनाओं से युक्त होने के कारण 'स्वप्न' एवं इसी कारण से 'स्थूल सृष्टि का लयस्थान' भी कही जाती है।

विशेष—(१) हिरण्यगर्भः—हिरण्यस्य (हिरण्मयस्याण्डस्य) गर्भः। हैम अण्ड से उत्पन्न होने के कारण ही ब्रह्मा जी का एक नाम हिरण्यगर्भ भी है। वह अण्ड भी इसी कारण से ब्रह्माण्ड कहा जाता है। भागवत, मनुस्मृति आदि के अनुसार परम पुरुष भगवान् नारायण के ध्यान या सङ्कल्पमात्र से जल की उत्पत्ति हुई जिसमें उन्होंने शक्तिरूप बीज डाल दिया। यही बीज सुवर्णमय अण्ड बन गया जिसमें से समस्त लोकों के पितामह ब्रह्मा जी उत्पन्न हुए। ज्ञानशक्ति से युक्त विज्ञानमय कोश ही हिरण्मय अण्ड है, उससे अवच्छिन्न या उपहित चैतन्य ही हिरण्यगर्भ है। 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे' (ऋक्० १०।१२१), 'हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम्' (श्वेताश्व० ३।४) इत्यादि वेदमन्त्र इसमें प्रमाण हैं। इसके 'प्राण' होने में प्रमाण हैं—'कतम एको देव इति, प्राण इति' (बृहदा० ३।८।८), 'स ईक्षाञ्चक्रे.....स प्राणमसृजत.....'[१] (प्रश्न० ६।३-४), 'तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नम-भिजायते। अन्नात् प्राणः.....'[२] (मुण्डक० १।१।८) इत्यादि उपनिषच्छ्रुतियाँ।

(२) जाग्रद्वासनामयत्वात् स्वप्नः—जागरण-काल में अनुभूत विषयों की जो वासनायें चित्त में प्रबल रूप से स्थान बना लेती हैं, वे ही स्वप्न को जन्म देती हैं। सूक्ष्मशरीर जागरणावस्था की वासनाओं से उत्पन्न होने के कारण 'स्वप्न' कहा गया है।

सूक्ष्म शरीरों की समष्टि एवं उससे अवच्छिन्न चैतन्य के हिरण्यगर्भ, प्राण इत्यादि

---

१. 'ईश्वरेणैव सर्वाधिकारी प्राणः पुरुषेण सृज्यते। कथम्? स पुरुष उक्तप्रकारेणेक्षित्वा प्राणं हिरण्यगर्भाख्यं सर्वप्राणिकरणाधारमन्तरात्मानमसृजत।—शां०भा०

२. अव्याकृतादन्नात् (संसारिणां साधारणकारणात्) प्राणो हिरण्यगर्भो ब्रह्मणो ज्ञानक्रियाशक्त्यधिष्ठितो जगत्साधारणोऽविद्याकामकर्मभूतसमुदायबीजाङ्कुरो जगदात्माभिजायते।—शां०भा०

नामो के निरूपण के अनन्तर, व्यष्टि सूक्ष्म-शरीर और उससे अवच्छिन्न चैतन्य के नामों का निरूपण करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं–

एतद्व्यष्ट्युपहितं चैतन्यं तैजसो भवति, तेजोमयान्तःकरणोपहितत्वात्। अस्यापीयं व्यष्टिः स्थूलशरीरापेक्षया सूक्ष्मत्वादिति हेतोरेव सूक्ष्मशरीरं विज्ञानमयादिकोशत्रयं जाग्रद्वासनामयत्वात् स्वप्नोऽत एव स्थूलशरीरलयस्थानमिति चोच्यते।।२७।।

विज्ञानमयादिसमष्ट्युपाध्यवच्छिन्नचैतन्यस्य हिरण्यगर्भत्वं प्रतिपाद्यदानीं तद्व्यष्ट्युपलक्षितचैतन्यस्य तैजसत्वं निरूपयति एतद्व्यष्टीति। व्यष्टिरूपं विज्ञानमयादिकोशत्रयं तैजसस्यापि सूक्ष्मशरीरमिति दर्शयति अस्यापीति। सूक्ष्मशरीरत्वे हेतुमाह स्थूलेति। अस्यापि स्वप्नत्वे हेतुमाह जाग्रदिति। विश्वचैतन्येनानुभूतस्थूलशरीरविषयकवासनामयत्वात्स्वप्नत्वमित्यर्थः। अस्यैव सूक्ष्मशरीरस्य स्थूलशरीरलयस्थानत्वे युक्तिमाह अत एवेति।।२७।।

अर्थ–इनकी व्यष्टि अर्थात् एक-एक सूक्ष्म शरीर से उपहित चैतन्य तेजोमय अन्तःकरण की उपाधि से विशिष्ट होने के कारण 'तैजस' कहलाता है। इस 'तैजस' की उपाधिभूत यह व्यष्टि स्थूल शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म होने के कारण ही 'सूक्ष्मशरीर', विज्ञानमय-मनोमय-प्राणमय से युक्त होने से कोशत्रय, जाग्रदवस्था की वासनाओं से युक्त होने से 'स्वप्न', और इसी स्वप्नरूपता के कारण 'स्थूल शरीर का लयस्थान' कही जाती है।

विशेष–(१) एतद्व्यष्ट्युपहितं चैतन्यम्–इन सूक्ष्म शरीरों की व्यष्टि अर्थात् पृथक्-पृथक् एक-एक शरीर से उपहित अर्थात् अवच्छिन्न चैतन्य।

(२) **तेजोमयान्तःकरणोपहित्वात्**–ज्ञान का साधन होने के कारण अन्तःकरण तेजोमय कहा गया है। यद्यपि इसमें पाँच तत्त्व रहते हैं, तथापि अपने 'ज्ञान' कार्य की अपेक्षा से तेजस् की प्रधानता होने के कारण 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इस न्याय से यह 'तेजोमय' कहा गया है।

अब सूत्रात्मा और तैजस के भोग दोनों की एकता तथा दोनों की उपाधियों की एकता का निरूपण कर रहे हैं–

एतौ सूत्रात्मतैजसौ तदानीं मनोवृत्तिभिः सूक्ष्मविषयाननुभवतः 'प्रविविक्तभुक्तैजस' इत्यादिश्रुतेः। अत्रापि समष्टिव्यष्ट्योस्तदुपहितसूत्रात्मतैजसयोर्वनवृक्षवत्तदवच्छिंन्नाकाशवच्च जलाशयजलवत्तद्गतप्रतिबिम्बाकाशवच्चाभेदः। एवं सूक्ष्मशरीरोत्पत्तिः।।२८।।

यथा पूर्वं प्राज्ञेश्वरावज्ञानवृत्तिभिः सुषुप्त्यवस्थायामानन्दमनुभवतस्तथा हिरण्यगर्भतैजसावपि स्वप्नावस्थायां मनोवृत्तिभिर्वासनामयान् शब्दादिविषयाननुभवत इति दर्शयति एताविति। अस्मिन्नर्थे श्रुतिमुदाहरति प्रविविक्तेति। इहापि विज्ञानमयादिकोशत्रयस्य समष्टिरूपस्य तदवच्छिन्नसूत्रात्मनश्च व्यष्टिरूपविज्ञानमयादिकोशत्रयस्य तदवच्छिन्नतैजसचैतन्यस्य च वनवृक्षादितदवच्छिन्नाकाशादिदृष्टान्तमुखेनाभेदं दर्शयति अत्रापीति। समष्टिव्यष्ट्युपाध्योर्वनवृक्षवज्जलाशयजलवच्चाभेद उपाधिद्वयावच्छिन्नचैतन्ययोः सूत्रात्मतैजसयोरपि वनवृक्षावच्छिन्नाकाशवज्जलाशयजलगतप्रतिबिम्बाकाशवच्चाभेद इत्यर्थः। सूक्ष्मशरीरोत्पत्तिप्रकरणमुपसंहरति एवं सूक्ष्मेति।।२८।।

अर्थ—उस समय (अर्थात् स्वप्नावस्था में) ये दोनों सूत्रात्मा एवं तैजस, मन अर्थात् अन्तःकरण की वृत्तियों के द्वारा सूक्ष्म अर्थात् वासना द्वारा उपस्थित विषयों का अनुभव करते हैं, "तैजस सूक्ष्म विषयों का भोग करने वाला है" (माण्डूक्य० ४) इस श्रुति-वचन से (यह बात समर्थित-प्रमाणित होती है)। यहाँ भी (सूक्ष्म शरीरों की) समष्टि और व्यष्टि में, तथा उनसे उपहित सूत्रात्मा और तैजस में उसी तरह अभेद अर्थात् ऐक्य है, जैसे वन और (वन के) वृक्षों में, तथा वनावच्छिन्न और वृक्षावच्छिन्न आकाशों में अभेद होता है, अथवा जलाशय और (उसके) जलबिन्दुओं में, तथा जलाशय और जलबिन्दुओं में प्रतिबिम्बित आकाशों में अभेद होता है। इस प्रकार सूक्ष्म शरीर की उत्पत्ति होती है।

विशेष—(१) 'तदानीम्' का अर्थ है उस समय अर्थात् स्वप्नावस्था में। सूत्रात्मा की स्वप्नावस्था प्रलय के अनन्तर तथा स्थूल जगत् की उत्पत्ति के पूर्व की मध्यावस्था है। इसी प्रकार तैजस की स्वप्नावस्था सुषुप्ति एवं जागरण की मध्यावस्था है।

(२) **मनोवृत्तिभिःसूक्ष्मविषयाननुभवतः**—निद्रादि से प्रभावित अन्तःकरण में अदृष्ट के द्वारा जागरित संस्कारों की सहायता से जो तदनुरूप वृत्तियाँ उठती हैं, वे ही अविद्या या अज्ञान के कारण विषयाकार हो जाती हैं। उन्हीं विषयों का उन वृत्तियों के द्वारा सूत्रात्मा और तैजस भोग का अनुभव प्राप्त करते हैं।

सूक्ष्म शरीर की उत्पत्ति का निरूपण समाप्त हुआ। अब स्थूल सृष्टि का निरूपण करने के लिए पहले पञ्चीकरण प्रक्रिया के द्वारा स्थूल भूतों की उत्पत्ति का निरूपण करते हैं, क्योंकि स्थूलभूतों से ही उत्पन्न होने वाले ब्रह्माण्ड के सात ऊर्ध्व-लोकों, सात अधो-लोकों तथा उनमें स्थूल शरीर वाले प्राणियों एवं उनके भोगों का वर्णन तभी सम्भव होगा जब पहले इनका वर्णन हो जाए।

स्थूलभूतानि तु पञ्चीकृतानि। पञ्चीकरणं त्वाकाशादिपञ्चस्वेकैकं

द्विधा समं विभज्य तेषु दशसु भागेषु प्राथमिकान् पञ्च भागान् प्रत्येकं चतुर्धा समं विभज्य तेषां चतुर्णा भागानां स्वस्वद्वितीयार्धभागपरित्यागेन भागान्तरेषु संयोजनम्। तदुक्तम्–

'द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः।
स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात्पञ्च पञ्च ते'।।इति।।२६।।

अथेदानीं स्थूलशरीरोत्पत्तिं निरूपयितुमुपक्रमते स्थूलेति। तुशव्दः पूर्वस्माद्वैषम्यं द्योतयति पञ्चीकृतानीति। अपञ्चीकृतसूक्ष्मभूतापेक्षया स्थूलभूतानि पञ्चीकृतानीत्यर्थः। पञ्चीकरणमेव प्रतिपादयितुं प्रतिजानीते पञ्चीकरणं त्विति। पञ्चीकरणप्रकारमेवाह आकाशेति। अयमर्थः। सृष्टिकाले सकलप्राण्यदृष्टवशादीश्वरप्रेरणयाकाशवायुतेजोऽबन्नान्य-विद्यासहायभूतात्परमात्मनः सकाशादनुक्रमजातानि तान्यपञ्चीकृतानि सूक्ष्माणि व्यवहारा-समर्थानीति कृत्वा तदीयस्थौल्यापेक्षायां व्यवहर्तृप्राणिजातधर्माधर्मापेक्षयैव तान्येव भूतानि पञ्चीकृतानि भवन्ति। तानि च प्रत्येकं द्वैविध्यमापद्यन्ते। तेष्वाकाशादिषु दशसु भागेषु प्राथमिकान्पञ्चभागान्प्रत्येकं चतुर्धा समं विभज्य स्वार्धपरित्यागेन चतुर्णां प्रत्येकं भागान्तरेषु सन्निवेशेन पञ्चीकृतानि स्थूलानि भवन्तीति। अस्मिन्नर्थे वृद्धसम्मतिमाह–तदुक्तमिति।।२६।।

अर्थ–पञ्चीकृत आकाशादि भूत ही स्थूलभूत (महाभूत) हैं। आकाशादि पाँच सूक्ष्म भूतों में से प्रत्येक को दो समान भागों में विभक्त करके (प्राप्त) दस भागों में से प्रथम पाँच भागों में से प्रत्येक के चार-चार समान भाग करके, उन्हें अपने-अपने द्वितीय भागों को छोड़कर अन्य भूतों के द्वितीय अर्ध भागों में जोड़ देना ही पञ्चीकरण है। ऐसा कहा गया है–

"प्रत्येक भूत को दो भागों में विभक्त करके, फिर प्रथम आधे भाग को चार भागों में विभक्त करके, अपने से भिन्न चार भूतों के द्वितीय भागों में जोड़ देने से वे आकाशादि पञ्च सूक्ष्म भूत 'पञ्च' अर्थात् पञ्चात्मक हो जाते हैं।" (पञ्चदशी १।२७)। अर्थात् पाँचों में १/२ भाग अपना तथा शेष १/२ (१/८ + १/८ + १/८ + १/८ = ४/८ = १/२) भाग अन्य चारों भूतों का होता है जिससे १/२ + १/२ = १ महाभूत उत्पन्न होता है। आधे भाग को चार में विभाजित करने पर चार १/८ भाग होंगे।

विशेष–पञ्चीकरण की प्रक्रिया से उत्पन्न महाभूत आकाश, वायु, तेजस्, जल और पथिवी में प्रत्येक का भाग इस प्रकार होगा–

आकाश = १/२ आकाश + १/८ वायु + १/८ तेजस् + १/८ जल + १/८ पृथिवी।
वायु = १/२ वायु + १/८ आकाश + १/८ तेजस् + १/८ जल + १/८ पृथिवी।
तेजस् = १/२ तेजस् + १/८ आकाश + १/८ वायु + १/८ जल + १/८ पृथिवी।
जल = १/२ जल + १/८ आकाश + १/८ वायु + १/८ तेजस् + १/८ पृथिवी।

पृथिवी = १/२ पृथिवी + १/८ आकाश + १/८ वायु + १/८ तेजस् + १/८ जल।

शङ्कराचार्य ने 'पञ्चीकरणम्' प्रकरण में, तथा सुरेश्वराचार्य ने उस पर लिखे अपने पञ्चीकरणवार्तिक में इस प्रक्रिया पर प्रकाश डाला है। उनमें भी इस प्रक्रिया का यही स्वरूप प्रस्तुत किया गया है।

श्रुतियों में पञ्चीकरण का उल्लेख न होने के कारण उसकी प्रामाणिकता के विषय में उत्पन्न सन्देह का निवारण ग्रन्थकार इस प्रकार करते हैं—

अस्याप्रामाण्यं नाशङ्कनीयं, त्रिवृत्करणश्रुतेः पञ्चीकरणस्याप्युपलक्षणत्वात्। पञ्चानां पञ्चात्मकत्वे समानेऽपि तेषु च 'वैशेष्यात्तद्वादस्तद्वादः' इति न्यायेनाकाशादिव्यपदेशः सम्भवति। तदानीमाकाशे शब्दोऽभिव्यज्यते वायौ शब्दस्पर्शावग्नौ शब्दस्पर्शरूपाण्यप्सु शब्दस्पर्शरूपरसाः पृथिव्यां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाश्च।।३०।।

पञ्चीकरणस्य त्रिवृत्करणप्रतिपादकश्रुत्यन्तरविरोधमाशङ्क्य परिहरति—अस्येति। भूतत्रयसृष्टिश्रुतौ सृष्टिपरिपूर्त्यर्थमन्यत्राश्रुतमपि भूतद्वयमाश्रित्य भूतपञ्चकाभिप्रायेण भूतत्रयसृष्टिप्रतिपादनादविरोध इत्यर्थः। आकाशादिपञ्चभूतेषु चतुर्धा विभक्तानामन्येषां पञ्चभूतानां प्रत्येकानुप्रवेशेन पञ्चीकृतानामाकाशादीनां पञ्चात्मकत्वाविशेषादाकाशादिव्यपदेशो न स्यादित्याशङ्क्य परिहरति पञ्चानामिति। आकाशादीनां पञ्चानां पञ्चात्मकत्वे समानेऽपि तेषु पञ्चभूतेषु तद्विशेषानुप्रवेशात्तन्नामभिर्व्यवहारः सम्भवतीत्यर्थः। तदानीमिति। यदा पञ्चीकृतान्याकाशादीनि, तदानीं स्थूलत्वेन स्वस्वकार्योत्पादनसमर्थत्वादाकाशेऽव्यक्तरूपेण स्थितः शब्दोऽभिव्यज्यते व्यक्तो भवतीत्यर्थः।।३०।।

अर्थ—इस पञ्चीकरण की अप्रामाणिकता की आशङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि त्रिवृत्करण की श्रुति (छा० ६।३।२) पञ्चीकरण की भी उपलक्षण या सूचक है। पाँचों महाभूतों में पाँचों के ही समान भाग रहने पर भी, उनमें (अपने-अपने भाग का) "आधिक्य या भूयस्त्व होने के कारण उस-उस नाम से व्यवहार होता है" (ब्रह्मसूत्र २।४।२२) इस नियम से उनका 'आकाश' इत्यादि नाम सम्भव होता है। उस समय अर्थात् पञ्चीकरण के बाद आकाश में उसका गुण शब्द प्रकट होता है, वायु में शब्द और स्पर्श; तेजस् में शब्द, स्पर्श और रूप; जल में शब्द, स्पर्श, रूप और रस, तथा पृथिवी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध (प्रकट होते हैं)।

विशेष—(१) त्रिवृत्करण—छान्दोग्य० के ६।३।२-३ सन्दर्भों में त्रिवृत्करण की चर्चा हुई है, जो इस प्रकार है—"सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति।।२।।

तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणीति। सेयं देवता इमास्तिस्रो देवता अनेनैव जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत्''।।३।।

प्रस्तुत प्रकरण में इस सन्दर्भ का तात्पर्य यह है कि 'सत् नामक परम देवता ने ईक्षण (सङ्कल्प या अभिध्यान) किया कि मैं जीवात्मा रूप से तीनों तेज, जल तथा अन्न (पृथिवी) नामक देवताओं में अनुप्रविष्ट होकर नाम और रूप की अभिव्यक्ति करूँ, उनमें से एक-एक देवता को त्रिवृत्-त्रिवृत् (त्र्यात्मक, त्रिरूप) करूँ। उस परम देवता ने इन तीनों (पश्चाद्वर्ती) देवताओं में जीव-रूप से प्रवेश करके नाम और रूप की अभिव्यक्ति की।' इस त्रिवृत्करण-श्रुति से पञ्चीकरण रूप लक्षित या ज्ञापित होता है। चूँकि छान्दोग्य के उक्त प्रकरण में केवल तेजस्, जल एवं पृथिवी–इन तीन की ही चर्चा हुई है, इसलिए तीन की अपेक्षा से त्रिवृत्करण का वर्णन या प्रतिपादन हुआ है। ऐसी वस्तु-स्थिति में जहाँ पाँचों का वर्णन हुआ है जैसे, तैत्तिरीय आदि में, वहाँ पर पञ्चीकरण को तर्क-सङ्गत रूप से श्रुति का अभिप्रेत या अभीष्ट समझना चाहिए।

(२) पञ्चीकरण–वार्तिक सुरेश्वराचार्य की प्रसिद्ध कृति है, इससे 'पञ्चीकरण' का शङ्कराचार्य-कृत होना सुनिश्चित है। शङ्करकृत बृहदारण्यकभाष्य तथा तैत्तिरीयभाष्य पर भी उनके वार्तिक सुप्रसिद्ध हैं। ऐसी वस्तुस्थिति में प्रो० हिरियन्ना का यह कथन कि "शङ्कर ने पञ्चीकरण का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है और इसकी प्राप्ति आनन्दज्ञान प्रभृति परवर्ती टीकाकारों की टीका में होती है", उनका प्रमाद ही कहा जायगा।

अब ग्रन्थकार पञ्चीकरण के अनन्तर होने वाली स्थूल सृष्टि का वर्णन प्रस्तुत कर रहे हैं–

एतेभ्यः पञ्चीकृतेभ्यो भूतेभ्यो भूर्भुवःस्वर्महर्जनस्तपःसत्यमित्येतन्नामकानामुपर्युपरि विद्यमानानामतलवितलसुतल-रसातलतलातलमहातलपातालनामकानामधोऽधो विद्यमानानां लोकानां, ब्रह्माण्डस्य, तदन्तर्वर्तिचतचुर्विधस्थूलशरीराणां, तदुचितानामन्नपानादीनाञ्चोत्पत्तिर्भवति। चतुर्विधशरीराणि तु जरायुजाण्डजोद्भिज्जस्वेदजा-ख्यानि। जरायुजानि जरायुभ्यो जातानि मनुष्यपश्वादीनि। अण्डजान्यण्डेभ्यो जातानि पक्षिपन्नगादीनि। उद्भिज्जानि भूमिमुद्भिद्य जातानि कक्षवृक्षादीनि। स्वेदजानि स्वेदेभ्यो जातानि यूकामशकादीनि।।३१।।

उक्तेभ्यो भूतेभ्यश्चतुर्दशभुवनोत्पत्तिप्रकारं दर्शयति एतेभ्य इति। एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्पन्नब्रह्माण्डस्य चतुर्विधशरीराणां च तद्योग्यान्नपानादीनां चोत्पत्तिर्भवतीत्यर्थः। चतुर्विधशरीराण्युद्दिशति। चतुर्विधेति। तानि च यथोद्देशं विवृणोति जारयुजानीति।।३१।।

अर्थ—इन पञ्चीकृत भूतों से क्रमशः ऊपर-ऊपर विद्यमान (स्थित) भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः तथा सत्यम् नामों वाले सात लोक, एवं क्रमशः नीचे-नीचे विद्यमान (स्थित) अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, महातल, तथा पाताल नामों वाले सात लोक, समस्त ब्रह्माण्ड, उसके भीतर रहने वाले चतुर्विधस्थूल शरीर एवं उनके योग्य अन्न-पानादि उत्पन्न होते हैं। चतुर्विध शरीर जरायुज, अण्डज उद्भिज्ज और स्वेदज हैं। 'जरायु' अर्थात् गर्भाशय को ऊपर से आवृत करने वाली झिल्ली से (निकलकर) उत्पन्न होने वाले मनुष्य, पशु आदि 'जरायुज' हैं। अण्डों से उत्पन्न होने वाले पक्षी, सरीसृप (सर्प, छिपकली, गिरगिट) आदि 'अण्डज' हैं। धरती को भेद या फोड़ कर निकलने वाले ओषधि, वनस्पति आदि 'उद्भिज्ज' हैं। स्वेद अर्थात् पसीने, गन्दे पानी इत्यादि से उत्पन्न होने वाले जुएँ और मच्छर इत्यादि 'स्वदेज' हैं।

विशेष—(१) ब्रह्माण्डस्य—इसका स्वरूप विद्वन्मनोरञ्जनी में रामतीर्थ ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—"एत एव स्वावरणभूतलोकालोकपर्वत-तद्वाह्यपृथिवी-तद्वाह्यसमुद्रैः सहिता ब्रह्माण्डमित्युच्यते।" (पृ० ११०) अर्थात् ये ही चौदह लोक स्वावरंण-भूत लोकालोक पर्वत, उसकी आवरणभूत सुवर्णमयी पृथिवी, उसके भी आवरणभूत बाह्य समुद्रों के सहित 'ब्रह्माण्ड' कहलाते हैं। इसके परिमाण के सम्बन्ध में वे बृहदारण्यक ३।३।२ भी उद्धृत करते हैं जो इस प्रकार है—द्वात्रिंशतं वै देवरथाह्न्यान्ययं लोकस्तं समन्तं पृथिवी द्विस्तावत्पर्येति, तां समन्तं पृथिवीं द्विस्तावत् समुद्रः पर्येति"। इसका अर्थ स्पष्ट करते हुए शङ्कराचार्य ने बृहदारण्यक-भाष्य में इस प्रकार लिखा है—"द्वात्रिशंतं द्वे अधिके त्रिंशद् द्वात्रिशतं वै देवरथाह्न्यानि। देवआदित्यस्तस्य रथो देवरथस्तस्य रथस्य गत्या अह्न्या यावत् परिच्छिद्यते देशपरिमाणं तावद् देवरथाह्न्यम्। तद् द्वात्रिंशद्-गुणितं देवरथाह्न्यानि, तावत्परिमाणोऽयं लोको लोकालोकगिरिणा परिक्षिप्तः। यत्र वैराजं शरीरं यत्र च कर्मफल भोगः प्राणिनां, स एव लोकः। तं लोकं समन्तं समन्ततो लोकविस्ताराद् द्विगुण-विस्तारेण परिमाणेन... पर्येति पृथिवी। तां...समुद्रः पर्येति।"

कारण एवं सूक्ष्म शरीरों के समान ही स्थूल शरीरों की भी समष्टि और व्यष्टि दिखलाते हुए ग्रन्थकार कहते हैं—

अत्रापि चतुर्विधसकलस्थूलशरीरमेकानेकबुद्धिविषयतया वनवज्ज-लाशयवद्वा समष्टिः, वृक्षवज्जलवद्वा व्यष्टिरपि भवति। एतत्समष्ट्यु-पहितं चैतन्यं वैश्वानरो विराडित्युच्यते सर्वनरभिमानित्वाद् विविधं राजमानत्वाच्च। अस्यैषा समष्टिः स्थूलशरीरमन्नविकारत्वादन्नमयकोशः, स्थूलभोगायतनत्वाच्च स्थूलशरीरं, जाग्रदिति च व्यपदिश्यते।।३२।।

पूर्ववदत्रापि समष्टिव्यष्टि भेदं दर्शयति–अत्रापीति। चतुर्विधशरीरजातमपि शरीरमित्येकबुद्धिविषयतया वनवत्समष्टित्वं प्रत्येकं तच्छरीरविषयतयानेकबुद्धिविषयत्वाद् व्यष्टित्वं च लभत इत्यर्थः। अधुना भूरादिचतुर्दशभुवनान्तर्गतचतुर्विधस्थूल-शरीरसमष्ट्युपहितचैतन्यस्य वैश्वानरत्वापरपर्यायं वैराजत्वं दर्शयति एतत्समष्टीति। तत्र युक्तिमाह सर्वेति। सर्वप्राणिनिकायेष्वहमित्यभिमानवत्त्वाद्वैश्वानरत्वं विविधं नानाप्रकारेण प्रकाशमानत्वाच्च वैराजत्वं लभत इत्यर्थः। अस्यैषेति। अस्य विराट्चैतन्यस्यैषा पूर्वोक्ता ब्रह्माण्डान्तर्गतचतुर्विधस्थूलशरीरसमष्टिरेव स्थूलशरीरमित्यर्थः। अन्नविकारेति। अन्नविकार-बाहुल्यादन्नमयत्वमात्माच्छादकत्वात्कोशत्वं स्थूलशरीरादिविषयप्रयुक्तसुखदुःख-भोगायतनत्वाच्च स्थूलशरीरत्वमिन्द्रियैरर्थोपलब्धेश्च जाग्रदवस्थात्वं च घटत इत्यर्थः।।३२।।

अर्थ–यहाँ भी चार प्रकार के सारे स्थूल शरीर क्रमशः एकत्व तथा अनेकत्व की बुद्धि के विषय होने से, वन या जलाशय के समान समष्टि, एवं वृक्ष या जलबिन्दु के समान व्यष्टि भी होते हैं। इन स्थूल शरीरों की समष्टि से उपहित चैतन्य सभी नरों (प्राणियों) का अभिमानी (अधिष्ठाता) होने से 'वैश्वानर' और (देव असुर, मनुष्य, पशु, वन, नदी, समुद्र, पर्वतादि) विविध रूपों से विराजमान होने से 'विराट्' कहा जाता है। यह (स्थूल शरीरों की) समष्टि इस वैश्वानर या विराट् का स्थूल शरीर है। अन्न का विकार (कार्य) होने तथा कोश (म्यान) की तरह आत्मा का आच्छादक होने से यह 'अन्नमय कोश' और स्थूल भोगों का आयतन होने से 'स्थूलशरीर' तथा 'जाग्रत्' कहा जाता है।

विशेष–(१) वैश्वानरः–विश्वानर + अण् प्रत्यय (ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च–अष्टा० ४।१।११४ सूत्र से)। 'विश्व' शब्द 'सर्व' का पर्याय है। इसकी व्याख्या सुबोधिनीकार नृसिंह सरस्वती ने इस प्रकार की है–"सर्वप्राणिनिकायेष्वहमित्यभिमानवत्त्वाद् वैश्वानरत्वम्" अर्थात् समस्त प्राणियों के शरीरों में 'मैं हूँ' इस प्रकार अभिमान करने के कारण वह वैस्वानर है।

(२) राजमानत्वाच्च–यहाँ प्रयुक्त 'च' से 'पुरुष' शब्द का संग्रह भी अभिप्रेत है। 'वैश्वानर' तथा 'विराट्' के साथ ही वह 'पुरुष' भी कहा जाता है, क्योंकि उसने समस्त ब्रह्माण्ड को परिपूर्ण अथवा व्याप्त कर रखा है–"पूर्णत्वात् पुरुषः'। 'विराड्' की व्युत्पत्ति है–विविधं राजते इति (वि + राज् + क्विप् कर्तरि' प्र० एक०)।

(३) जाग्रत्–इन्द्रियों के द्वारा भोगों की उपलब्धि होने से इसे जाग्रत् कहा जाता है। जाग्रदवस्था में ही इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों को ग्रहण करने में समर्थ होती हैं।

स्थूल शरीरों की समष्टि और उससे उपहित चैतन्य के नामों का निरूपण करके, व्यष्टि स्थूल शरीर और उससे उपहित चैतन्य का निरूपण करते हैं–

एतद्व्यष्ट्युपहितं चैतन्यं विश्व इत्युच्यते सूक्ष्मशरीराभिमान-

मपरित्यज्य स्थूलशरीरादिप्रविष्टत्वात्। "अस्याप्येषा व्यष्टिः स्थूलशरीरमन्नविकारात्वादेव हेतोरन्नमयकोशो जाग्रदिति चोच्यते।।३३।।

चतुर्विधस्थूलशरीरसमष्ट्युपहितं चैतन्यं सप्रपञ्चमभिधायेदानीं तद्व्यष्ट्युपहितं चैतन्यमभिधत्ते एतद्व्यष्टीति। एतेषां चतुर्विधशरीराणां या व्यष्टिस्तत्तच्छरीरव्यक्तिस्तदुपहितं चैतन्यं विश्व इत्युच्यत इत्यर्थः। तत्र हेतुमाह सूक्ष्मेति। सूक्ष्मलिङ्गशरीराभिमानमपरित्यज्य स्थूलशरीरेषु प्रविश्य तत्तत्स्थूलशरीरेषु सर्वेषु प्रत्येकमहमहमित्यभिमानवत्त्वाद्विश्वत्वमित्यर्थः। अस्यापीति। अस्य चैतन्यस्याप्येषा तत्तच्छरीरव्यक्तिविशेषलक्षणा व्यष्टिः सैव स्थूलशरीरमित्यर्थः। अत्राप्यन्नविकारबाहुल्यादन्नमयत्वं चैतन्याच्छादकत्वात्कोशत्वमिन्द्रियैरर्थोपलम्भाज्जाग्रत्त्वं च क्रमेण दर्शयति अन्नविकारेति।।३३।।

अर्थ–इन स्थूल शरीरों की व्यष्टि अर्थात् एक-एक स्थूल शरीर में उपहित चैतन्य सूक्ष्म शरीर के अभिमान का बिना परित्याग किये स्थूल शरीर आदि में प्रविष्ट होने के कारण 'विश्व' कहा जाता है। इस विश्व की भी उपाधिभूत यह व्यष्टि 'स्थूल शरीर', अन्न का विकार होने के कारण (तथा कोश के समान आत्मा का आच्छादक होने के कारण) 'अन्नमय कोश' और (स्थूल भोगों का आयतन या आधार होने के कारण) 'जाग्रत्' कहा जाता है।

विशेष–(१) **स्थूलशरीरादिप्रविष्टत्वात्**–इसमें प्रयुक्त 'आदि' शब्द निरर्थक प्रतीत होता है, क्योंकि सभी की अपेक्षा बाहरी एवं अन्तिम उपाधि होने के कारण तथा उसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी अवशिष्ट न रहने के कारण 'आदि' पद से किसका बोध होगा? प्रो॰ हिरियन्ना का ऐसा ही अभिमत है। किन्तु इससे 'विश्व' शब्द के प्रयोग की सार्थकता अस्पष्ट या सन्दिग्ध रह जाती है। व्यष्टि स्थूल शरीर से उपहित चैतन्य, स्थूल शरीर में प्रविष्ट होने के कारण, 'विश्व' कहलाता है, यह बात कुछ बहुत जमती नहीं है। प्रो॰ हिरियन्ना का प्रविष्टत्व–प्रविष्ट होने अथवा प्रवेश करने–को 'विश्व' संज्ञा में हेतु मानने का आधार दोनों में विद्यमान विश् धातु को मानना बहुत ठीक नहीं लगता। किन्तु इतनी बात तो सत्य है ही कि ग्रन्थकार ने 'स्थूलशरीरादि-प्रविष्टत्व' को ही 'विश्वत्व' का हेतु कहा है, इसी से इस समस्त पद में हेतु को प्रकट करने वाली पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग किया गया है। तब फिर इस हेतु की सार्थकता के लिए 'आदि' के प्रयोग की सार्थकता ढूँढनी चाहिए। हो न हो, 'विश्व' नाम का रहस्य उसी में छिपा हो। विद्वन्मनोरञ्जनीकार ने तो इस नाम का रहस्य इसी 'आदि' के अर्थ में ढूँढा है। "सूक्ष्मशरीराभिमानमपरित्यज्य स्थूलशरीरादिप्रविष्टत्वात्" पंक्ति का अर्थ उन्होंने इस प्रकार किया है–

"व्यष्टिस्थूलशरीरोपहितस्यं विश्ववाच्यत्वे हेतुमाह–सूक्ष्म॰ इति। सूक्ष्मशरीरं

कारणशरीरं तदपरित्यज्य, स्थूलशरीरादौ तदपेक्षया स्थूलशरीरं लिङ्गशरीरं तदादिर्यस्य परमस्थूलशरीरस्येति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः तस्मिन् प्रवेष्टृत्वात्। तथाहि जीवस्य त्रय उपाधयः। सुषुप्त्यादौ बुद्ध्यादिसंस्कारोपरञ्जितमज्ञानमात्रमुपाधिः। स्वप्ने जाग्रद्वासनामयं लिङ्गशरीरमुपाधि। जाग्रदवस्थायां तु सूक्ष्मशरीसंसृष्टस्थूलशरीरमुपाधिः। तथा च पूर्वपूर्वोपाधिविशिष्टस्यैवोत्तरोत्तरोपाधिप्रवेशात् सर्वशरीरप्रवेष्टृत्वेन स्थूलभोगायतना-भिमानिनो विश्व इति संज्ञेति।"

इस लम्बे सन्दर्भ का सारांश यह है कि प्रस्तुत स्थल में 'सूक्ष्मशरीर' का अर्थ है–कारणशरीर और 'स्थूलशरीर' का अर्थ है लिङ्गशरीर, क्योंकि वह कारणशरीर की अपेक्षा स्थूल है। वह लिङ्गशरीर है आदि में जिस परम स्थूल (बाह्य) शरीर के, उस (लिङ्गशरीर-सहित) परम स्थूल अन्नमय (बाह्य) शरीर में प्रवेश करने वाला होने से इस अवस्था के चेतन की 'विश्व' संज्ञा है जो इस कारण से सार्थक है। क्योंकि 'विश्व' संज्ञा तो तभी सार्थक होगी जब चेतन आत्मा कारण, सूक्ष्म एवं स्थूल–सभी शरीरों का अभिमान करने वाला हो। विद्वन्मनोरञ्जनी से उद्धृत सन्दर्भ की 'सर्वशरीरप्रवेष्टृत्वेन स्थूल-भोगायतनाभिमानिनो विश्व इति संज्ञा' इस अन्तिम पंक्ति में यही बात स्पष्ट रूप से कथित है। इस प्रकार 'विश्व' शब्द का प्रस्तुत सन्दर्भ में 'सर्व' और 'प्रवेष्टा'–दोनों ही अर्थ गृहीत होने से व्यष्टि-स्थूलशरीरोपहित चैतन्य की 'विश्व' संज्ञा सर्वथा सङ्गत हो जाती है।

अब ग्रन्थकार विश्व और वैश्वानर को जाग्रदवस्था में प्राप्त होने वाले भोगों का विवरण प्रस्तुत करते हैं–

तदानीमेतौ विश्ववैश्वानरौ दिग्वातार्कवरुणाश्विभिः क्रमान्नियन्त्रितेन श्रोत्रादीन्द्रियपञ्चकेन क्रमाच्छब्दस्पर्शरूपरसगन्धान्, अग्नीन्द्रोपेन्द्रयमप्रजापतिभिः क्रमान्नियन्त्रितेन वागादीन्द्रियपञ्चकेन, क्रमाद्वचनादानगमनविसर्गानन्दांश्चन्द्रचतुर्मुखशङ्करच्युतैः क्रमान्नियन्त्रितेन मनोबुद्ध्यहङ्कारचित्ताख्येनान्तरिन्द्रियचतुष्केण क्रमात्सङ्कल्पनिश्चयाहङ्कार्यचैत्तांश्च सर्वानेतान् स्थूलविषयाननुभवतः 'जागरितस्थानो बहिः प्रज्ञः' इत्यादिश्रुतेः। अत्राप्यनयोः स्थूलव्यष्टिसमष्ट्योस्तदुपहितविश्ववैश्वानरयोश्च वनवृक्षवत्तदवच्छिन्नाकाशवच्च जलाशयजलवत्तद्गतप्रतिबिम्बाकाशवच्च पूर्ववदभेदः। एवं पञ्चीकृतपञ्चभूतेभ्यः स्थूलप्रपञ्चोत्पत्तिः।।३४।।

अधुना जाग्रदवस्थायां विश्ववैश्वानरयोस्तत्तद्देवताधिष्ठितश्रोत्रादिभिश्चतुर्दशभिः करणैः शब्दादिविषयग्रहणप्रकारं दर्शयति–तदानीमेताविति। अस्मिन्नर्थे श्रुतिं संवादयति जागरितेति। अनयोर्विश्ववैश्वानरयोर्वनवृक्षावच्छिन्नाकाशदृष्टान्तेन जलाशयजलगत-

प्रतिबिम्बाकाशदृष्टान्तेन च पूर्ववद्भेदं साधयति अत्राप्यनयोरिति। स्थूल-प्रपञ्चोत्पत्तिमुपसंहरति—एवं पञ्चीकृतेति।।३४।।

अर्थ—उस जाग्रत्काल में ये दोनों विश्व और वैश्वानर दिक्-वायु-सूर्य-वरुण-अश्विनी-कुमारों के द्वारा क्रमशः नियन्त्रित श्रोत्र-त्वक्-चक्षु-रसना-घ्राण नामक पाँच इन्द्रियों से क्रमशः शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध, इन पाँच स्थूल विषयों का अनुभव करते हैं। ये दोनों अग्नि-इन्द्र-विष्णु-यम-प्रजापति के द्वारा क्रमशः नियन्त्रित वाक्-पाणि-पाद-पायु-उपस्थ नामक पाँच इन्द्रियों से क्रमशः वचन-ग्रहण-गमन-मलत्याग-भोगसुख (मैथुनजन्य), इन स्थूल-विषयों का अनुभव करते हैं। तथा ये दोनों चन्द्र-चतुर्मुख-शङ्कर-अच्युत नामक देवों से नियन्त्रित मन-बुद्धि-अहंकार-चित्त नामक चार अन्तरिन्द्रियों से क्रमशः सङ्कल्प-निश्चय-गर्व-स्मरण, इन सभी स्थूल विषयों का अनुभव करते हैं। 'जाग्रदवस्था जिसका स्थान है और जो बाह्य (स्थूल) विषयों का ज्ञान या प्रकाश करने वाला है' (वह वैश्वानर स्थूल विषयों का भोक्ता है) (माण्डूक्य० ३) इत्यादि श्रुति से यह बात प्रमाणित होती है।

यहाँ पर भी स्थूल शरीरों की व्यष्टि और समष्टि में, तथा उनसे उपहित विश्व और वैश्वानर में, पूर्ववत् वैसे ही अभेद है जैसे, वन एवं वृक्ष तथा उनसे अवच्छिन्न आकाशों अथवा जलाशय और जलबिन्दु तथा उनमें प्रतिबिम्बित आकाशों में। इस प्रकार पञ्चीकृत पाँच भूतों से स्थूल प्रपञ्च की उत्पत्ति होती है।

विशेष—(१) अहंकार्य-चैत्तान्—अहंकार का कार्य गर्व या अभिमान करना तथा चित्त का कार्य स्मरण या अनुसन्धान है। ये ही कार्य 'अहङ्कार्य' तथा 'चैत्त' पदों से क्रमशः गृहीत हैं। 'अहंकार्य' शब्द अहं + कृ से ण्यत् प्रत्यय तथा 'चैत्त' शब्द चित्त से अण् प्रत्यय लगने से बना है।

(२) उपेन्द्र—भगवान् विष्णु वामन रूप से इन्द्र के छोटे भाई के रूप में माता अदिति में पिता प्रजापति कश्यप से उत्पन्न होने के कारण 'उपेन्द्र' नाम से विख्यात हुए।

(३) "जागरितस्थानो बहिष्प्रज्ञः"—यह माण्डूक्योपनिषद् का तृतीय मंत्र है। पूरा मंत्र इस प्रकार है—"जागरितस्थानो बहिष्प्रज्ञः सप्ताङ्गः एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग् वैश्वानरः"। इसका अर्थ इस प्रकार है—वैश्वानर का स्थान जाग्रदवस्था है। यह बाह्य विषयों का ज्ञान करने वाला है। यह सात (द्युलोक, सूर्य, वायु, आकाश, अन्न, पृथिवी और आहवनीय अग्नि) अंगों वाला है। यह उन्नीस मुखों वाला है। 'मुख' का अर्थ है द्वार जिनसे इसे विषयों की उपलब्धि होती है। ये द्वार हैं—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण तथा मन, बुद्धि अहंकार और चित्त, ये चार अन्तरिन्द्रिय या अन्तःकरण।

इस प्रकार क्रमशः कारण सृष्टि, सूक्ष्म सृष्टि, और स्थूल सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन करने के अनन्तर अब तीनों की समष्टि का निरूपण करते हैं—

एतेषां स्थूलसूक्ष्मकारणप्रपञ्चानामपि समष्टिरेको महान् प्रपञ्चो भवति यथावान्तरवनानां समष्टिरेकं महद्वनं भवति, यथा वाऽवान्तर-जलाशयानां समष्टिरेको महान् जलाशयः। एतदुपहितं वैश्वानरादीश्वरपर्यन्तं चैतन्यमप्यवान्तरवनावच्छिन्नाकाशवदवान्तरजलाशयगतप्रतिबिम्बाकाशवच्चैकमेव।।३५।।

स्थूलसूक्ष्मकारणप्रपञ्चानां व्यष्टिभूतानां प्रत्येकविवक्षयावान्तरप्रपञ्चत्वमभिधायेदानीं तेषां समष्टेरेव महाप्रपञ्चत्वं दर्शयति एतेषामिति। तत्र दृष्टान्तमाह यथावान्तरेति। यथा धवखदिरपलाशाद्यवान्तरवनानां समष्टिः समुदायविवक्षयैकं महद्वनं भवति यथा च वापीकूपतडागाद्यावान्तरजलाशयानां समुदायविवक्षयैको महान् जलाशयो भवति, तथा स्थूलसूक्ष्मकारणावान्तरप्रपञ्चनां समुदाय एको महान्प्रपञ्चो भवतीत्यर्थः। एतदेवावान्तर-महाप्रपञ्चोपहितानां विश्वतैजसप्राज्ञानां वैश्वानरहिरण्यगर्भाव्याकृतानां चावान्तरवनावच्छिन्नाकाशवदवान्तरजलाशयगतप्रतिबिम्बाकाशवच्चाभेद इत्याह एतदुपहितमिति।।३५।।

अर्थ—जिस प्रकार विभिन्न वनों की समष्टि एक महान् वन हो जाता है, अथवा जैसे विभिन्न जलाशयों की समष्टि एक महान् जलाशय हो जाता है, उसी प्रकार इन स्थूल, सूक्ष्म और कारण सृष्टियों की भी समष्टि एक महती सृष्टि बन जाती है। इन तीनों प्रकार की सृष्टियों से उपहित होने वाले चैतन्य—वैश्वानर, हिरण्यगर्भ और ईश्वर—भी वस्तुतः एक ही हैं, जैसे भिन्न-भिन्न वनों से अवच्छिन्न होने वाला आकाश वस्तुतः एक ही है, अथवा जैसे भिन्न-भिन्न जलाशयों में प्रतिबिम्बित होने वाला आकाश वस्तुतः एक ही है।

अब प्रपञ्च (सृष्टि) और उससे उपहित चैतन्य में भेद की आशंका दूर करते हुए, दोनों का अभेद बताते हैं जो कि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' अर्थात् यह सब दृश्यमान प्रपञ्च ब्रह्म ही है, उससे भिन्न नहीं, इत्यादि श्रुति-वचन का तात्पर्य है—

आभ्यां महाप्रपञ्चतदुपहितचैतन्याभ्यां तप्तायःपिण्डवदविविक्तं सदनुपहितं चैतन्यं 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इति वाक्यस्य वाच्यं भवति विविक्तं सल्लक्ष्यमपि भवति। एवं वस्तुन्यवस्त्वारोपोऽध्यारोपः सामान्येन प्रदर्शितः।।३६।।

चैतन्यप्रपञ्चयोर्भेदे "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इति श्रुत्या विरोधमाशङ्क्य परिहरति आभ्यामिति। उक्तमहत्प्रपञ्च-तदवच्छिन्नचैतन्याभ्यां तप्तायःपिण्डवदन्योन्यतादात्म्याध्यासापेन्नं यद्वस्तु श्रुतं तदवच्छिन्नं चैतन्यं सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति वाक्यस्य वाच्यं भवत्यन्योन्यतादात्म्याध्यासेन विविक्तं सल्लक्ष्यं भवतीत्यर्थः। अध्यारोपप्रकरणमुपसंहरति एवं वस्तुनीति।।३६।।

अर्थ—इस महाप्रपञ्च और उससे उपहित चैतन्य से, तप्त लौह-पिण्ड के समान,

अलग न प्रतीत होता हुआ अनुपहित चैतन्य 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' अर्थात् यह सारा प्रपञ्च ब्रह्म ही है (छा० ३।१४।१) इस श्रुति-वाक्य का वाच्यार्थ होता है और अलग प्रतीत होता हुआ लक्ष्यार्थ होता है। इस प्रकार वस्तु (सच्चिदानन्द-अनन्त-अद्वय ब्रह्म) में अवस्तु (अज्ञान और उसके कार्यभूत समस्त जड़-समूह) का आरोप-रूप अध्यारोप सामान्य रूप से प्रदर्शित किया गया।

विशेष–(१) तप्तायः पिण्डवदविविक्तं सद् अनुपहितं चैतन्यं 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इति वाक्यस्य वाच्यम्–जब लोहा अग्नि में तपकर लाल हो जाता है, तब उसके स्पर्श से जल जाने पर 'अयो दहति' अर्थात् लोहा जला रहा है ऐसा कहा जाता है। स्पष्ट है कि ऐसा कहने वाला लोहे में अग्नि का अध्यास या आरोप करके ही, लोहे से अग्नि को अलग (विविक्त) ग्रहण न करके ही, ऐसा कथन करता है। अलग ग्रहण न करने में हेतु या उपाधि है– लोहे में अग्नि के लौहित्य (लालिमा) तथा औष्ण्य (दाहकत्व) की संक्रान्ति। दूसरे शब्दों में यह व्यवहार तभी बन सकता है जब अग्नि और लोहे में तादात्म्य माना जाय जो वस्तुतः अनुपस्थित होने से तादात्म्याध्यास ही कहा जायेगा। इसी प्रकार यह सब (अर्थात् महाप्रपञ्च रूप उपाधि तथा उससे उपहित चैतन्य) ब्रह्म (अर्थात् अनुपहित या शुद्ध तुरीय चैतन्य) ही है, ऐसा कथन तभी सम्भव है जब महाप्रपञ्चसहित तदुपहित चैतन्य एवं अनुपहित चैतन्य में अभेद या तादात्म्य (जो वस्तुतः तादात्म्य न होकर तादात्म्याध्यास होता है) ग्रहण किया जाय। महाप्रपञ्च के साथ संसर्गाध्यास तथा तदुपहित चैतन्य के साथ तादात्म्याध्यास होने के कारण शुद्ध (अनुपहित) चैतन्य उन दोनों से अभिन्न प्रतीत होता है। अभिन्न या अविविक्त ग्रहीत होने की अवस्था में ही 'अयो दहति' तथा 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' वाक्यों का वाच्यार्थ गृहीत होता है।

(२) विविक्तं सल्लक्ष्यमपि भवति–परन्तु जब महाप्रपञ्च रूप उपाधि तथा उससे उपहित चैतन्य से अनुपहित चैतन्य को अलग मानते हैं, पृथक् या विविक्त रूप से ग्रहण करते हैं, तब वह अनुपहित चैतन्य 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का लक्ष्य अर्थ होता है। अर्थात् लोहा नहीं जलाता या जलाना लोहे का धर्म नहीं है, इस प्रकार का ज्ञान मन में उदित होने पर जब 'अयो दहति' वाक्य के मुख्यार्थ या वाच्यार्थ का बाध हो जाता है, तब 'अयः' पद की अयः- सम्बद्ध अग्नि में लक्षणा होने पर 'लोहे में स्थित अग्नि जलाता है' यह लक्ष्यार्थ गृहीत होता है। लक्षणा से लोहे के जलाने के विषय में उत्पन्न विरोध या असङ्गति दूर हो जाती है, क्योंकि 'अयः' से 'अयः-सम्बद्ध अग्नि' अर्थ गृहीत होने पर अग्नि के द्वारा जलाये जाने के सम्बन्ध में कोई विरोध, कोई असंगति नहीं रह जाती। जलाना तो अग्नि का धर्म है ही। इसी प्रकार 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का वाक्यार्थ भी असंगत या अनुपपन्न है, क्योंकि महाप्रपञ्च जड़ है और उससे उपहित चैतन्य सोपाधिक होने से ससीम है, जब

कि शुद्ध चैतन्य रूप निरुपाधिक ब्रह्म वैसा नहीं है, सर्वथा असीम-अपरिमित चिदानन्दरूप है। अतः इन दोनों की निरुपाधिक विशुद्ध चैतन्य-स्वरूप ब्रह्म के साथ एकता नहीं हो सकती, अभेद नहीं हो सकता। तब इस वाक्य का वाच्य अर्थात् मुख्यार्थ बाधित हो जाता है। ऐसी स्थिति में लक्ष्य का आश्रय लेकर अज्ञान-जन्य महाप्रपञ्च का परित्याग करके उसके अधिष्ठान-भूत अनुपहित चैतन्य का ग्रहण करने से विरोध या असंगति की निवृत्ति हो जाती है। तब लक्षणा से 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का अर्थ होगा—इन सब अर्थात् महाप्रपञ्च तथा एतदुपहित चैतन्य का आधारभूत अनुपहित चैतन्य ब्रह्म ही है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि चूँकि महाप्रपञ्च अज्ञान-जन्य होने से मिथ्या है, इसलिए उसके साथ तथा तदुपहित चैतन्य के साथ अनुपहित चैतन्य की एकता नहीं हो सकती, अभेद नहीं हो सकता। अभेद होगा तो केवल अज्ञान-जन्य मिथ्या महाप्रपञ्च को त्याग कर अनुपहित चैतन्य-मात्र को ग्रहण करने से, और इसके लिए 'जहदजहद्' या 'भागत्याग' लक्षणा का आश्रय ही एकमात्र उपाय है।

अब तक 'तत्'-पदार्थ ब्रह्म पर होने वाले अध्यारोप का सामान्य रूप से वर्णन किया गया। अब 'त्वम्'-पदार्थ प्रत्यगात्मा पर किये जाने वाले कुछ अध्यारोपों का विशेष रूप से वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है, जैसा कि ग्रन्थकार का स्वयं कथन है—

इदानीं प्रत्यगात्मनीदमिदमयमयमारोपयतीति विशेषत उच्यते।।३७।।

ईश्वरचैतन्ये सामान्यतो महाप्रपञ्चाध्यारोपप्रकारं सप्रपञ्चमभिधायेदानीं प्रत्यगात्मनि विशेषाध्यारोपप्रकारं दर्शययितुमुपक्रमते इदानीमित्यादिना। अध्यारोपमेवाह इदमिति। प्रत्यक्षादिसन्निहितस्यापत्यादिधर्मिण इदमिदमिति निर्देशः क्रियते। इदमिदमित्यादेर्वीप्सा। अतिस्थूलबुद्धिस्तु इदमपत्यादिकमेवाहमयं पुत्र एवाहमित्यत्यन्तबाह्य-धर्मानविशेषेणात्मन्यध्यारोपयतीत्यर्थः।।३७।।

अर्थ—अब यह बात विशेष रूप से बताई जा रही है कि अमुक-अमुक मतावलम्बी प्रत्यगात्मा (वस्तु) पर अमुक-अमुक अनात्मा (अवस्तु) का आरोप करते हैं।

अतिप्राकृतस्तु—'आत्मा वै जायते पुत्रः' इत्यादिश्रुतेः, स्वस्मिन्निव स्वपुत्रेऽपि प्रेमदर्शनात्, पुत्रे पुष्टे नष्टे चाहमेव पुष्टो नष्टश्चेत्याद्यनु-भवाच्च पुत्र आत्मेति वदति।।३८।।

अत्र श्रुतिमाह आत्मेति। तत्र युक्तिमाह स्वस्मिन्निवेति। यथा स्वशरीरे प्रेमदर्शना-दात्मत्वभ्रम एवं स्वपुत्रादिशरीरेऽपि प्रेमदर्शनादात्मत्वभ्रम इत्यर्थः। अत्रानुरूपमनुभवमाचष्टे पुत्र इति।।३८।।

अर्थ–अत्यन्त स्थूल बुद्धि वालों का कहना है कि "आत्मा ही पुत्र के रूप में जन्म लेती है" इत्यादि श्रुति से, अपने ही समान अपने पुत्र पर प्रेम देखे जाने से, और पुत्र के पुष्ट होने अथवा नष्ट होने पर 'मैं ही पुष्ट हुआ अथवा नष्ट हुआ'–इस प्रकार की अनुभूति होने से पुत्र ही आत्मा है।

विशेष–अन्यान्य मतावलम्बियों द्वारा प्रत्यगात्मा को ठीक-ठीक न समझने की स्थिति में उस पर विभिन्न प्रत्यगात्मभिन्न वस्तुओं का आरोप किया जाता है। प्रस्तुत प्रकरण में अत्यन्त प्राकृतों, चार्वाकों, विज्ञानवादी बौद्धों, प्राभाकरमीमांसकों, नैयायिकों, भाट्टमीमांसकों और शून्यवादी बौद्धों के मतों का श्रुति-वाक्यों युक्तियों एवं अनुभव का प्रमाणसहित उल्लेख किया जा रहा है। मतों को सुसंगत ढंग से प्रस्तुत करने की दृष्टि से कुछ को श्रुति में आस्था न होने के बावजूद भी श्रुति-वाक्यों का उल्लेख किया गया है। प्रस्तुत विवेचन, आत्म-विषयक मान्यताओं को नहीं अपितु उन के स्थूल-सूक्ष्म-सूक्ष्मतर-सूक्ष्मतम क्रम को ध्यान में रखकर, किया गया है। इस पद्धति से पूर्वपक्षी के मत स्वयं क्रमशः आगामी मत से असिद्ध होते चले जायेंगे। सम्प्रति कौन-कौन से मतावलम्बी किसे प्रत्यगात्मा कहते हैं, इसका क्रमशः विवेचन प्रस्तुत है।

बुद्धि के नीचे-ऊँचे विकास-स्तर के कारण कभी पुत्र स्थूल शरीर, कभी इन्द्रिय, कभी प्राण, कभी मन, कभी बुद्धि और कभी जगत् का साक्षी चैतन्य ही (इनकी अपेक्षा आन्तरिक या प्रत्यग् होने से) प्रत्यगात्मा कहा जाता है। वस्तुतः ये मत विभिन्न बौद्धिक स्तरों के परिचायक हैं। इसी प्रत्यगात्मा को स्थूल मति वाले पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ मानते हैं। औरस पुत्र के प्रति पिता का अनन्य स्नेह होने से तथा उसके सुख-दुःख में पिता की उसके समान ही अनुभूति (पुत्र के सुखी होने पर सुखी तथा पुत्र के दुःखी होने पर दुःखी) होने से, पुत्रादि अनात्म वस्तु को ही आत्मा मानना प्रस्तुत प्रकरण का आदि एवं सबसे स्थूल मत है। इसमें 'आत्मा वै जायते पुत्रः' श्रुति, 'स्वस्मिन्निव...प्रेमदर्शनात्' युक्ति (हेतु) तथा पुत्रे पुष्टे नष्टे...नुभवाच्च' प्रत्यक्ष अनुभव के दृष्टान्त रूप में प्रस्तुत किए गये हैं। इसी प्रकार अन्य मंत्रों के विवेचन में भी तीनों क्रमशः दिये गये हैं। तैत्तिरीय इत्यादि उपनिषदों में तत्तद् मतों को प्रस्तुत करने का प्रयोजन अरुन्धती-न्याय से सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व प्रत्यगात्मा के स्वरूप का ज्ञान करना है। स्थूल से सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम का क्रमिक ज्ञान सर्वथा मनोवैज्ञानिक है। जीवन और जगत् के स्थूल भौतिक पदार्थों में आसक्त मानव-मन एक बारगी ही सूक्ष्मतम (अणोरणीयान्) तत्त्व को ग्रहण नहीं कर सकता। विशिष्ट सन्दर्भों की चिन्ता बिना किये ही तत्तत् मतों के समर्थन में उद्धृत करने का प्रयोजन उनका मजाक बनाना या मखौल उड़ाना रहा होगा।

अब विभिन्न स्तरीय चार्वाकों के चार मतों में से प्रथम 'स्थूलशरीर ही' आत्मा है, को ग्रन्थकार प्रस्तुत कर रहे हैं–

चार्वाकस्तु–'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमय' इत्यादिश्रुतेः, प्रदीप्तगृहात्स्वपुत्रं परित्यज्यापि स्वस्य निर्गमदर्शनात्, स्थूलोऽहं कृशोऽहमित्याद्यनुभवाच्च स्थूलशरीरमात्मेति वदति।।३९।।

एतत्दपेक्षया विशिष्टबुद्धिरन्यः कश्चिदधिकारी स्वदेहमेवात्मानं मन्यत इत्याह चार्वाक इति। अत्रापि श्रुतिमाह स वा इति। पुत्रादिशरीरस्यात्मत्वाभावे युक्तिं दर्शयन्पूर्वोक्ताधिकारिणः सकाशात्स्वस्य वैलक्षण्यं दर्शयति प्रदीप्तेति। देहस्यात्मत्वेऽनुभवं च प्रमाणयति–स्थूलोऽहमिति।।३९।।

अर्थ–चार्वाक तो–'अन्न के रस का विकार (परिणाम) यह (प्रत्यक्षग्राह्य) पुरुष ही वह (आत्मा) है' (तै० उप० २।१।१) इस श्रुति से, (आग लगने पर) जलते हुये घर से अपने पुत्र को भी छोड़कर स्वयं का निकलना देखे जाने से तथा शरीर के मोटे या पतले होने पर स्वयं को "मैं मोटा हूँ" या "मैं पतला हूँ" इत्यादि अनुभव करने से भी 'यह स्थूल शरीर ही आत्मा है', यह बात सिद्ध होती है।

विशेष–(१) चार्वाक–यह विशुद्ध भौतिकतावादी का भारतीय नाम है। चार्वाक मत केवल चार भूतों–पृथ्वी, जल, तेजस् और वायु–की सत्ता मानता है, क्योंकि ये ही चार प्रत्यक्ष के विषय होते हैं, और प्रत्यक्ष के अतिरिक्त कोई प्रमाण–प्रमेयों का जानने का साधन–चार्वाक सम्प्रदाय मानता ही नहीं। आत्मा तो वह प्रत्यक्ष दृश्यमान स्थूल शरीर को ही मानता है जो कि नश्वर है। अतएव चार्वाक दर्शन अनित्यात्मवादी होने से नास्तिक दर्शन के रूप में प्रसिद्ध है। चार्वाक नित्यात्मवाद का प्रतिपादन करने वाले वेदों और उनका अनुसरण करने वाले स्मृति, पुराणादि का प्रामाण्य मानने से इनकार करता है। उसके मत से वेदादि में वर्णित कर्मकाण्ड, श्राद्धादि पुरोहितों की जीविका के साधन-मात्र हैं।

(२) उक्त खण्ड में श्रुति के समर्थन के साथ स्थूलदेहात्मवादी चार्वाकों के मत का उल्लेख किया गया है। इनके अनुसार लोक में 'पुरुष' शब्द से व्यवहृत, माता-पिता द्वारा खाये गये अन्न के रस (वीर्यादि) से उत्पन्न एवं स्वभुक्त अन्न के रस से संवर्द्धित भौतिक शरीर ही आत्मा है। यह बात दूसरे ढंग से भी प्रमाणित होती है कि जलते हुए घर से व्यक्ति अपनी सुरक्षा हेतु पुत्रादि को संकट में पड़ा हुआ भी छोड़कर सुरक्षित स्थान पर भाग जाता है। इससे पुत्र के प्रति स्नेह के कारण पुत्र को ही आत्मा मानने वाला सिद्धान्त स्वतः खण्डित हो जाता है और यह स्पष्ट होता है कि चूँकि पुत्र से भी प्रियतर स्थूल दृश्यमान शरीर है, अतः वही आत्मा है। इसके अतिरिक्त यह भी बात है कि सभी वादियों का इस विषय में ऐकमत्य है कि 'मैं हूँ' यह प्रतीति आत्मविषयक ही होती है, और यह बात तो स्पष्ट ही है कि 'मैं मोटा हूँ, मैं दुबला हूँ' इत्यादि प्रतीति का आधार शरीर ही है। अतः स्वानुभव से भी स्थूलदेहात्मवाद सिद्ध होता है।

अब ग्रन्थकार चार्वाकों के इन्द्रियात्मवाद का कथन इस प्रकार कर रहे हैं–

अपरश्चार्वाकः–'ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्योचुः' इत्यादिश्रुतेरिन्द्रियाणामभावे शरीरचलनाभावात्काणोऽहं बधिरोऽहमित्याद्यनुभवाच्चेन्द्रियाण्यात्मेति वदति।।४०।।

ततोऽप्युत्कृष्टः कोऽप्यधिकारी श्रुतियुक्त्यनुभवेभ्य इन्द्रियाण्यात्मेति वदतीत्याह अपर इति।।४०।।

अर्थ–दूसरा चार्वाक कहता है कि–'वे प्राण (इन्द्रियाँ), (अपनी श्रेष्ठता के लिए परस्पर विवाद करते हुए) पिता प्रजापति के पास आकर बोले' (भगवन्! हम सभी में कौन-श्रेष्ठ है), (छान्दोग्य० ५।१।७) इस श्रुति से, (सुषुप्ति और मूर्च्छा आदि में) इन्द्रियों का अभाव होने से शारीरिक क्रियाओं का अभाव हो जाता है–इस युक्ति से, तथा 'मैं काना हूँ', 'मैं बहरा हूँ' इस प्रकार का अनुभव होने से भी इन्द्रियाँ ही आत्मा हैं।

विशेष–देहात्मवादी चार्वाक का सिद्धान्त इन्द्रियात्मवादी चार्वाक के इस सिद्धान्त से असिद्ध हो जाता है। प्रजापति के पास इन्द्रियों का जाना इनके चेतनत्व को द्योतित करता है। जब मूर्च्छा सुषुप्ति आदि में इन्द्रियों का अभाव हो जाता है, तब शरीर की क्रियाओं का भी अभाव हो जाता है, और मूर्च्छा हटने या सुषुप्ति के समाप्त होने पर जब इन्द्रियां अपना कार्य करने लगतीं हैं तब शरीर भी क्रियावान हो जाता है। अतएव इन्द्रियाँ ही चेतन हैं और यह तथ्य अन्वय-व्यतिरेक से स्पष्ट होता है। काणत्व एवं बधिरत्व की स्वयं के धर्म के रूप में अनुभूति होती है, और यह तो स्पष्ट ही है कि काणत्वादि धर्म इन्द्रियों के ही हैं। इस प्रकार जब इन्द्रियों के धर्म को 'मैं' (आत्मा) का धर्म कहा जाता है। तब निस्सन्देह इन्द्रियाँ ही आत्मा हैं।

अब ग्रन्थकार चार्वाकों के प्राणात्मवाद की चार्चा करते हुए कहते हैं–

अपरश्चार्वाकः–'अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमय' इत्यादिश्रुतेः, प्राणाभावे इन्द्रियादिचलनायोगादहमशनायावानहं पिपासावानित्याद्यनुभवाच्च प्राण आत्मेति वदति।।४१।।

ततोऽप्युत्तमोऽधिकारीकश्चिच्छ्रुतिप्रमाणानुभवबलात्प्राण एवात्मेत्याह–अपर इति।।४१।।

अर्थ–एक अन्य चार्वाक कहता है कि "इस अन्नरसमय शरीर से भिन्न इसके भीतर रहने वाला आत्मा प्राणमय है" (तैत्ति० २।२।१) इस श्रुति से, (सुषुप्ति काल में) प्राण के अभाव में इन्द्रियादि की प्रवृत्ति न होने से, तथा 'मैं भूखा हूँ', 'मैं प्यासा हूँ' इत्यादि अनुभव होने से भी प्राण ही आत्मा है।

विशेष–प्रस्तुत चार्वाक-मत से पूर्वोक्त इन्द्रियात्मवादी चार्वाकों का मत खण्डित हो

जाता है। इस सन्दर्भ में 'प्राण' शब्द मुख्य प्राण के लिए प्रयुक्त हुआ है जब कि पूर्व सन्दर्भ का 'प्राणाः' इन्द्रियों के लिए। इन्द्रियाँ प्राण के अधीन होती हैं। अन्न-जल के अभाव में प्राण के क्षीण होने पर इन्द्रियाँ अस्तित्व में होने पर भी अपने-अपने विषयों को ग्रहण करने में असमर्थ हो जाती हैं। साथ ही अगर इन्द्रियों को आत्मा माना जायेगा तो इन्द्रियों के अनेकत्व की तरह आत्मा के अनेकत्व का भी प्रश्न उठता है, जो अनिष्ट है। इसका कोई समाधान मान भी लिया जाय तो भी इन्द्रियों को अलग-अलग आत्मा मानने से यह विसंगति उत्पन्न होगी कि दर्शनादि अनुभव का स्मरण नहीं हो सकता, जबकि ऐसा होता है। अतः यह स्पष्ट है कि इन्द्रियों से भिन्न वस्तु ही आत्मा है जिसे स्मरण होता है।

भूख-प्यास प्राण के धर्म हैं, अन्न-जल के अभाव में प्राणों का वियोग होता है और अन्न-जल से प्राण स्वस्थ रहते हैं। चूँकि प्राण के ये धर्म ही 'अहम्' के धर्म के रूप में प्रतीत होते हैं, इस लिए भी प्राण ही आत्मा माना गया है।

अब चार्वाकों के 'मन-आत्मवाद' की चर्चा करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं–

अन्यस्तु चार्वाकः–'अन्योऽन्तर आत्मा मनोमय' इत्यादिश्रुतेर्मनसि सुप्ते प्राणादेरभावादहं सङ्कल्पवानहं विकल्पवानित्याद्यनुभवाच्च मन आत्मेति वदति।।४२।।

ततो विशिष्टोऽधिकारी कश्चित्स्वमतानुकूलश्रुत्यादिबलान्मन एवात्मेत्याह–अन्यस्त्विति।।४२।।

अर्थ–(एक) अन्य चार्वाक "इस प्राणमय आत्मा से भिन्न इसके भीतर रहने वाला आत्मा मनोमय है" (तैत्ति० उप० २।३।१) इस श्रुति से, (मूर्च्छादि में) मन के सो जाने पर प्राण आदि का अभाव हो जाने से, तथा "मैं संकल्प वाला हूँ", "मैं विकल्प वाला हूँ" इत्यादि अनुभव होने से भी "मन ही आत्मा है", यह कहता है।

विशेष–उक्त खण्ड में प्राणादि का आत्मत्व खण्डित करके 'मन-आत्मवाद' की स्थापना की जा रही है। मन के जागरूक रहने पर ही प्राणादि का अस्तित्व रहता है तथा मन के सो जाने पर इसका अभाव हो जाता है। सोते समय श्वसन आदि क्रिया का ज्ञान सोने वाले को नहीं अपितु उससे इतर किसी द्रष्टा को होता है। इसके अलावा स्वप्नादि में इन्द्रियाभाव होने पर भी मन में सम्पूर्ण क्रियाएँ होती रहती हैं। इस प्रकार मन का आत्मत्व सिद्ध होता है। फिर इच्छा, संशय आदि मानस धर्मों का 'अहम्' के धर्म के रूप में अनुभव होने से भी सिद्ध होता है कि मन ही आत्मा है। इससे पूर्वोक्त प्राणात्मवाद का खण्डन हो जाता है।

अब चार्वाकों के अन्तिम मत 'मन-आत्मवाद' का खण्डन करते हुए ग्रन्थकार विज्ञानवादी बौद्धों का आत्मविषयक सिद्धान्त बता रहे हैं–

बौद्धस्तु–'अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमय' इत्यादिश्रुतेः कर्तुरभावे करणस्य शक्त्यभावादहं कर्त्ताऽहं भोक्तेत्याद्यनुभवाच्च बुद्धिरात्मेति वदति।।४३।।

उक्तेभ्य: पञ्चभ्यो विलक्षण: कश्चिद्विज्ञानवादी श्रुत्यादिभिर्विज्ञानमात्मेत्याह–बौद्धस्त्विति।।४३।।

अर्थ–(विज्ञानवादी) बौद्ध कहता है कि "इस मनोमय आत्मा से भिन्न इसके भीतर रहने वाला आत्मा विज्ञानमय है" (तैत्ति० २।४।१) इस श्रुति से, कर्त्ता के न होने पर करण में (कार्य करने की) शक्ति का अभाव हो जाता है इस युक्ति से तथा "मैं कर्त्ता हूँ", "मैं भोक्ता हूँ" इत्यादि अनुभवों से भी "बुद्धि ही आत्मा है।"

विशेष–उक्त खण्ड में मन आत्मवादी चार्वाक के मत का खण्डन है। यह मत बौद्धों का है। वौद्ध दर्शन के प्रथम तो हीनयान और महायान ये दो धड़ या भाग हो गये। आगे प्रत्येक के फिर दो-दो भाग, (१) वैभाषिक या सर्वास्तिवादी (२) सौत्रान्तिक या बाह्यानुमेयवादी, तथा (१) योगाचार या विज्ञानवादी (२) माध्यमिक या शून्यवादी–इस प्रकार कुल चार मत प्रचलित हुए। यहाँ पर योगाचार या विज्ञानवादी बौद्धों का मत स्थापित किया जा रहा है। श्रुति-वाक्य में जो 'विज्ञानमय' शब्द आया है, वह विज्ञान-मय कोश के लिए है, किन्तु विज्ञानवादी बौद्ध इसे क्षणिक विज्ञान या बुद्धि का बोधक मानता है। विज्ञानवादियों की मान्यता है कि विज्ञान का रूप क्षणिक है। प्रथम क्षण का विज्ञान दूसरे क्षण के विज्ञान को तथा दूसरे क्षण का विज्ञान तीसरे क्षण के विज्ञान को उत्पन्न करता है। इसी प्रकार एक क्षण का विज्ञान स्वयं नष्ट होता हुआ आगामी दूसरे क्षण के विज्ञान को उत्पन्न करता है। जैसे, दीपक में प्रतिक्षण दूसरी ही बत्ती और तेल जलते हैं, उसी प्रकार इसकी भी प्रक्रिया प्रतिक्षण परिवर्तित होती हुई जीवन भर (आलय अर्थात् मृत्यु के पूर्व तक) चलती रहती है। जैसे दीपक की ज्योति प्रतिक्षण बदलती हुई भी वही प्रतीत होती है, उसी प्रकार विज्ञान भी प्रतिक्षण परिवर्तित (भिन्न) होता हुआ भी वही प्रतीत होता है।

अपने मत के समर्थन मे विज्ञानवादी 'कर्तुरभावे करणस्य शक्त्यभावाद्' यह युक्ति भी प्रस्तुत करता है। इसका अर्थ यह है कि कर्त्ता के अभाव में करणादि की प्रवृत्ति सम्भव नहीं है। जैसे, बुनकर (कर्त्ता) के अभाव में तुरी-वेमादि (करण) पटनिर्माण की क्रिया में प्रवृत्त नहीं हो सकते, उसी प्रकार प्रयोक्ता या कर्त्ता 'विज्ञान' के अभाव में मन-सहित इन्द्रियाँ प्रवृत्त नहीं हो सकतीं, क्योंकि विज्ञान (बुद्धि) ही इन सब का प्रयोक्ता या अधिष्ठाता है। इसी कारण से कर्त्ता तथा भोक्ता आदि का अनुभव बुद्धि को ही होता है। अतएव

इस विवेचन से स्पष्ट है कि बुद्धि ही आत्मा है।

प्रभाकरतार्किकौ तु–'अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमय' इत्यादि-श्रुतेर्बुद्ध्यादीनामज्ञाने लयदर्शनादहमज्ञोऽहम ज्ञानीत्याद्यनुभवाच्चा-ज्ञानमात्मेति वदतः।।४४।।

उक्तेभ्योऽतिरिक्तौ प्राभाकरतार्किकौ स्वमतोपयोगिश्रुत्यादिबलादज्ञानमात्मेति वदत इत्याहप्रभाकरेति।।४४।।

अर्थ–प्रभाकर (मीमांसक) और नैयायिक तो 'इस विज्ञानमय आत्मा से भिन्न इसके भीतर रहने वाला आत्मा आन्दमय है (तैत्तिरी० २।५।१) इस श्रुति से, (सुषुप्ति में) बुद्धि आदि का अज्ञान में लय देखे जाने से तथा "मैं अज्ञ हूँ", "मैं ज्ञानी हूँ" इत्यादि अनुभव से 'अज्ञान' को ही आत्मा कहते हैं।

विशेष–(१) अन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमय इत्यादिश्रुतेः–प्रभाकरमतानुयायी मीमांसक तथा नैयायिक आत्मा को द्रव्य एवं च जड अर्थात् चैतन्य या ज्ञान से भिन्न 'अज्ञान' रूप मानते हैं। यह मत विज्ञानवादी बौद्धों के 'विज्ञानमात्मा' का विरोधी है। किन्तु प्रश्न है कि इस मत के आधार रूप से उद्धृत श्रुति तो आत्मा की आनन्द-रूपता का कथन करती है न कि अज्ञान-रूपता का। फिर इससे उसकी अज्ञानरूपता कैसे सिद्ध हो सकती है। इसका समाधान इस प्रकार है–"आनन्दमय" का अर्थ है आनन्द या सुख से परिपूर्ण, उससे युक्त। इस प्रकार आनन्द अर्थात् सुख का कोई आश्रय होगा और आश्रय तो कोई स्थायी कर्त्ता ही हो सकता है, क्योंकि वह सत्कर्म का, शुभ कर्म का ही उत्तरकालिक फल होता है। अतः अस्थायी 'क्षणिक' विज्ञान से उसका भिन्न होना अनिवार्य है।

फिर यह तो विदित ही है कि अन्नमय, प्राणमय, मनोमय तथा विज्ञानमय कोश क्रमशः अधिक आन्तरिक हैं। आनन्दमय सर्वाधिक आन्तरिक एवं सभी का अधिष्ठान-भूत है। जागरितावस्था में पाँचों अस्तित्व में रहते हैं तथा स्वप्नावस्था में अन्नमय कोश का अपने कारणभूत चार कोशों में विलय होता है तथा सुषुप्ति में अन्य तीन कोश अपने कारण-भूत आनन्दमय कोश में विलीन हो जाते हैं। अन्ततः आनन्दमय कोश ही शेष रहता है। उस समय किसी भी वस्तु का ज्ञान न होने की स्थिति में समस्त विश्व का ज्ञान, अज्ञान में विलीन हो जाता है जिससे आनन्दमय कोश अज्ञान-रूप सिद्ध होता है। अतः स्पष्ट है कि अज्ञान ही आत्मा है।

भाट्टस्तु–'प्रज्ञानघन एवानन्दमय' इत्यादिश्रुतेः, सुषुप्तौ प्रकाशा-प्रकाशसद्भावान्मामहं न जानामीत्याद्यनुभवाच्चाज्ञानोपहितं चैतन्य-मात्मेति वदति।।४५।।

अज्ञानावच्छिन्नं चैतन्यमात्मेत्याह–प्रज्ञानघन इति।।४५।।

अर्थ—भाट्ट (कुमारिल भट्ट के अनुयायी) मीमांसकों का कथन है कि "(आत्मा) प्रज्ञानघन होने से ही आनन्दप्रचुर होता है" (माण्डूक्य०५) इस श्रुति से, 'सुषुप्ति में प्रकाश (ज्ञान) और अप्रकाश (अज्ञान) दोनों का अस्तित्व रहता है' इस युक्ति से, तथा 'मैं अपने आप को नहीं जानता हूँ' इत्यादि अनुभव से, अज्ञानोपहित चैतन्य ही आत्मा है।

विशेष—कुमारिल भट्ट के अनुयायी मीमांसक, प्रभाकर के अनुयायियों के विपरीत अज्ञान के बजाय अज्ञानोपहित चैतन्य को आत्मा मानते हैं। उनके अनुसार आत्मा न जड़ है और न शुद्ध चैतन्य। भाट्टों के इस मत के समर्थन में जो माण्डूक्य श्रुति उद्धृत है, उसका तात्पर्य यह है कि जो प्रज्ञानघन है, वही आत्मा है। 'प्रज्ञानघन' का अर्थ है—वृत्त्यात्मक ज्ञान का घनीभूत होना। प्रज्ञान की घनता है—चैतन्य का प्रमाण-व्यापार से जन्य बुद्धियों से मुक्त होकर शुद्ध चैतन्य के रूप में प्रतिष्ठित होना। प्रज्ञान की यह घनता मनुष्य के सुषुप्ति-काल में सम्पन्न होती है, जब सभी प्रमाण-व्यापार विरत हो जाते हैं। जागरण की अपेक्षा स्वप्न में भी ज्ञान की घनता होती है, क्योंकि उस समय केवल मनोव्यापर-जन्य ज्ञान का उदय होता है। इन्द्रियादि-जन्य व्यापारों से होने वाले ज्ञानों से उस समय भी मुक्त रहता है चैतन्य रूप आत्मा।

इस प्रकार सुषुप्ति, प्रज्ञान की घनीभूत अवस्था है। स्वप्न और जागरण काल में होने वाले मन के स्फुरण को 'प्रज्ञान' कहते हैं। जिस प्रकार से रात्रि के घनान्धकार में सम्पूर्ण वस्तुएँ घनीभूत होकर अपृथक् जान पड़ती हैं। ठीक वैसी ही अवस्था सुषुप्ति के प्रज्ञानघन की है। मन का जो विषय और विषयी रूप से स्फुरित होने के आयास का दुःख है, उसका सुषुप्ति में अभाव हो जाने से यह प्राज्ञ आनन्दप्रचुर है। इससे दुःख का अल्पत्व ही स्पष्ट होता है, अभाव नहीं, क्योंकि दुःख का कारण अज्ञान तो विद्यमान ही रहता है। अतः यह स्पष्ट है कि प्रज्ञान-युक्त सुषुप्तावस्था में प्रज्ञान के घनीभूत हो जाने से यद्यपि किसी वस्तु का विषय या विषयी रूप से ज्ञान तो नहीं होता तथापि चैतन्यात्मक स्वरूप तो रहता ही है। मूल में दी गई 'सुषुप्तौ प्रकाशाप्रकाशसद्भावात्' युक्ति का तात्पर्य वस्तुतः यही है कि सुषुप्ति में ज्ञान तथा अज्ञान दोनों की सत्ता रहती है। यह सामान्य व्यवहार से भी स्पष्ट है। कोई भी नींद से जगा व्यक्ति 'मैं सुखपूर्वक सोया', 'मुझे कुछ भी पता नहीं था' ऐसा अनुभव करता है। एक सुषुप्ति में ज्ञान की सत्ता के बिना सम्भव नहीं है तथा दूसरे अनुभव-वाक्य कि 'मुझको कुछ भी पता नहीं था' से स्पष्ट होता है कि सुषुप्ति में ज्ञान (प्रकाश) की ही भाँति अज्ञान (अप्रकाश, ज्ञानाभाव) की भी सत्ता रहती है। एवं इस युक्ति का निष्कर्ष यही है कि अज्ञान अर्थात् वृत्त्यात्मक या बोधात्मक ज्ञान के अभाव से संवलित चैतन्यात्मक ज्ञान ही आत्मा है।

ज्ञानाज्ञान की यह अवस्था सुषुप्तिभिन्न जागरित और स्वप्न की अवस्थाओं में भी

रहती है। व्याख्येय खण्ड में उल्लिखित वाक्य 'मामहं न जानामि', 'अर्थात् मैं अपने को नहीं जानता हूँ' में व्यक्त अनुभव से भी प्रमाणित होता है कि प्रत्येक अवस्था में आत्मा ज्ञानाज्ञान रूप ही है। 'मैं नहीं जानता हूँ' इसमें क्रिया का कर्त्ता 'अहं' पद से वाच्य आत्मा यद्यपि सामान्य रूप से भासित हो रहा है, फिर भी माम् पद का वाच्य उसका विशिष्ट रूप ज्ञात नहीं हो रहा है। ऐसा अनुभव होने से जागरण तथा सुषुप्ति दोनों ही अवस्थाओं में आत्मा ज्ञानाज्ञानात्मक ही है। इस प्रकार अज्ञानोपहित चैतन्य ही आत्मा है, यह सिद्ध होता है। नृसिंह सरस्वती के "अज्ञानावच्छिन्नं चैतन्यमात्मेत्याह प्रज्ञानघन इति" इस वाक्य से यह निष्कर्ष समर्थित होता है।

अब शून्यवादी माध्यमिकों के आत्मविषयक मत को प्रस्तुत करते हुए ग्रन्थकार का कथन है कि–

अपरो बौद्धः–'असदेवेदमग्र आसीद्' इत्यादिश्रुतेः, सुषुप्तौ सर्वाभावादहं सुषुप्तौ नासमित्युत्थितस्य स्वाभावपरामर्शविषयानुभवाच्च शून्यमात्मेति वदति।।४६।।

बौद्धैकदेशी कश्चिच्छ्रुत्यादिभिः शून्यमात्मेति वदति अपरो बौद्ध इति।।४६।।

अर्थ–दूसरा (शून्यवादी) बौद्ध कहता है कि–"पूर्व में (नाम-रूपात्मक इस सृष्टि के पहले) यह जगत् असत् (शून्य) ही था" (छान्दोग्य० ६।२।१) इस श्रुति से, सुषुप्ति में (द्रष्टा और दृश्य) सबके अभाव हो जाने से, तथा "सो कर उठे हुए व्यक्ति का सुषुप्ति में मैं नहीं था" इस प्रकार अपने ही अभाव के परामर्श को विषय बनाने वाली अनुभूति के होने से, आत्मा शून्य सिद्ध होता है।

विशेष–(१) शून्यमात्मेति वदति–माध्यमिक सम्प्रदाय के बौद्ध दार्शनिक शून्यवादी हैं। 'शून्य' से उनका अभिप्राय सर्वथा सर्वाभाव से है। वे द्रष्टा, दृश्यादि सभी का अभाव मानते हैं। एवं उनकी दृष्टि से आत्मा जैसी भी कोई वस्तु या पदार्थ नहीं है। न वह द्रव्यरूप है, न बोधरूप और न ही द्रव्यबोध रूप। एवं वह अभावरूप है शून्य है। माध्यमिकों को अपने इस सिद्धान्त या मत का समर्थक "असदेवेदमग्र आसीत्" (छा० ६।२।१) इत्यादि श्रुतिवाक्य भी मिल गया। यद्यपि छान्दोग्य-उपनिषद् में यह वाक्य पूर्व पक्ष के रूप में आया है, क्योंकि इसके ठीक बाद ही इसका खण्डनात्मक वाक्य "कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्यादिति होवाच, कथमसतः सज्जायेतेति।" आया है। इसका अर्थ है–सोम्य! ऐसा कैसे हो सकता है? असत् से सत् की उत्पत्ति भला कैसे हो सकती है? यह और बात है कि अपने मत का समर्थक दिखाई पड़ने से शून्यवादी बौद्ध इसे अपना पक्ष या मत सिद्ध करने के लिए उद्धृत करते हैं। वस्तुतः तो श्रुति में यह पूर्व पक्ष के रूप में गृहीत है और इसी से अगले वाक्य में इसका निषेध या प्रत्याख्यान भी उपलब्ध है।

यह तो स्पष्ट ही हो चुका है कि माध्यमिक आत्मा को न द्रव्यरूप मानते हैं, न बौधरूप और न ही द्रव्यबोधात्मक अपितु सर्वाभावरूप मानते हैं, क्योंकि जिस श्रुति-वाक्य का उल्लेख यहाँ किया गया है, उसके अनुसार सृष्टि से पहले यह जगत् सर्वथा असत् था। अतः असत

से ही सत् की उत्पत्ति हुई है, यह उनका दृढ़ मत है। लेकिन असत् से सत् की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? यह बात तो इसी श्रुति के अगले वाक्य में निराकृत है। किन्तु बौद्धों ने अपनी सुविधा से इसका सहारा लिया है, जबकि श्रुति को यह पक्ष स्वयं भी अभीष्ट नहीं है।

(२) अहं सुषुप्तौ नासम्—सुषुप्त्यावस्था में किसी प्रकार का अनुभव व्यक्ति को नहीं होता। सोकर उठे व्यक्ति को कत्तई यह ज्ञान नहीं होता कि मैं सुषुप्ति में था। प्रत्युत यही ज्ञान होता है कि तब मैं नहीं था। इस अभाव-परामर्शक अनुभव से शून्यवादी अभाव या शून्य को ही आत्मा सिद्ध करते हैं। सुषुप्ति-काल में सर्वाभाव को शून्यवादी बौद्ध अपने मत की स्थापना में युक्ति रूप में प्रयुक्त करते हैं।

पुत्र से लेकर शून्य तक पूर्वोक्त समस्त मत वेदान्त के आत्म-विषयक मत के पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। इनका निराकरण (विशेष रूप से अन्तिम मत का, क्योंकि इससे पहले के मत तो बाद वाले मत से स्वयमेव खण्डित हो गये हैं)। अगामी खण्डों में किया जा रहा है—

एतेषां पुत्रादीनामनात्मत्वमुच्यते। एतैरतिप्राकृतादिवादिभिरुक्तेषु श्रुतियुक्त्यनुभवाभासेषु पूर्वपूर्वोक्तश्रुतियुक्त्यनुभवाभासानामुत्त-रोत्तर-श्रुतियुक्त्यनुभवाभासैरात्मत्वबाधदर्शनात्पुत्रादीनामनात्मत्वं स्पष्ट-मेव।।४७।।

अधुना पुत्रादिशून्यपर्यन्तानामात्मत्वप्रतिपादकश्रुत्यादेराभासत्वात्पूर्वंपूर्वमतस्योत्तरोत्तर-मतबाध्यत्वाच्च दृश्यत्वजडत्वादिहेतुकदम्बकैश्चानात्मत्वं प्रसिद्धमेवेति प्रतिपादयितुं प्रतिजानीते-एतेषामिति। पुत्राद्यात्मत्ववादिनामतिमन्दाधिकारित्वात्तत्प्रतिपादितश्रुत्यादेरपि पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरबाध्यत्वाच्च पुत्रादिशून्यान्तानामनात्मत्वं प्रसिद्धमेवेति प्रतिज्ञातमेवार्थं प्रकटयति—एतैरिति।।४७।।

अर्थ—अब इन पुत्रादि का अनात्मत्व (आत्मा न होना) बताया जा रहा है। इन अत्यन्त प्राकृतादि मतों की स्थापना करने वालों के द्वारा जो श्रुत्याभास, युक्त्याभास तथा अनुभवाभास प्रस्तुत किये गये हैं, उनमें पूर्व-पूर्व वादी के द्वारा उपन्यस्त श्रुतियों युक्तियों तथा अनुभवों के आभासों का उत्तरोत्तरवादी के श्रुति-वचनों, युक्तियों और अनुभवों के आभासों से निषेध (बाध) दिखलाई पड़ने से पुत्रादि का अनात्मत्व स्पष्ट ही है।

विशेष—पूर्वोक्त आत्म-विषयक नौ मत वस्तुतः आत्मा का प्रतिपादन करने में समर्थ नहीं हो सके। जो कुछ भी आत्मा के विषय में कहा गया, वह सब अनात्मत्व ही है। सारे मतों की स्थिति यह रही कि हर पहले वाला मत अपने उत्तरवर्ती मत से खण्डित हो गया और उत्तरवर्ती मत आगामी मत से (खण्डित हो गया)। अन्त में बचा हुआ शून्यात्मवाद भी अगले खण्ड में वेदान्तमत के कथन से समाप्त हों जाएगा।

इन वादियों के पारस्परिक निराकरण से तो पुत्रादि की अनात्मता सिद्ध होती ही है। इसके अतिरिक्त आत्मा के वास्तविक (पारमार्थिक) स्वरूप का बोध कराने वाली कथमपि बाधित न होने वाली प्रबल श्रुतियों, युक्तियों एवं अनुभूतियों के साथ उनका विरोध होने से भी पुत्रादि की अनात्मता सिद्ध होती है, इसका कथन अब किया जा रहा है—

किञ्च, प्रत्यगस्थूलोऽचक्षुरप्राणोऽमना अकर्ता चैतन्यं चिन्मात्रं सदित्यादिप्रबलश्रुतिविरोधादस्य पुत्रादिशून्यपर्यन्तस्य जडस्य चैतन्यभास्यत्वेन घटादिवदनित्यत्वादहं ब्रह्मेति विद्वदनुभवप्राबल्याच्च तत्तच्छ्रुतियुक्त्यनुभवाभासानां बाधितत्वादपि पुत्रादिशून्यपर्यन्तमखिलमनात्मैव। अतस्तत्तद्भासकं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यस्वभावं प्रत्यक्चैतन्यमेवात्मवस्तु इति वेदान्तविद्वदनुभवः। एवमध्यारोपः।।४८।।

ननु पुत्रादिशून्यपर्यन्तानामनात्मत्वे सिद्धे कस्तर्ह्यहम्प्रत्ययविषय आत्मेत्याशङ्क्यास्थूलादिनिषेधवाक्यजातबोधितं "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादिविधिवाक्यकोटिबोधितं यत्सत्यज्ञानानन्तानन्दाद्वयं ब्रह्म तदेवाहमालम्बनमिति प्रबलश्रुतियुक्त्यनुभवैः प्रतिपादयितुमाह किञ्चेति। अस्थूलादिप्रबलश्रुतिवाक्यैः पुत्रादिशून्यपर्यन्तात्मातिरिक्तात्मस्वरूपप्रतिपादनात् पुत्रादीनां जडत्वादिहेतुभिरनात्मत्वमित्यर्थः। अस्मिन्नर्थे प्रबलविद्वदनुभवं प्रमाणयति अहं ब्रह्मेति। पुत्रादिश्रुत्यादीनां दौर्बल्यं दर्शयति तत्तदिति। यतः पुत्रादीनां जडत्वादिहेतुभिरनात्मत्वमतः पुत्रादिभासकं नित्यशुद्धत्वादिस्वरूपमेवात्मवस्त्वित्यर्थः। नन्विदं विरुद्धं यत्पुत्रादीनामात्मत्वप्रतिपादकश्रुतीनामप्रामाण्यमस्थूलादिश्रुतीनां प्रामाण्यमिति। न हि वेदवाक्येषु केषाञ्चिदप्रामाण्यं केषाञ्चित्प्रामाण्यमिति वा शक्यं प्रतिपादयितुम्। एवं चेत्पुत्रादिश्रुतीनां प्रामाण्यमस्थूलादिवाक्यानामप्रामाण्यमिति वैपरीत्यं किं न स्याद्वेदवाक्याविशेषात्। किं केषाञ्चिद्वेदान्तवाक्यानामप्रामाण्यप्रतिपादनार्थमिदं प्रकरणमारब्धमतः कथं निर्णय इति चेदत्रोच्यते। पुत्रादिश्रुतीनां सर्वथैव प्रामाण्यं नास्तीति न निषिध्यते। किन्त्वस्थूलादिप्रबलश्रुतिस्मृतिन्यायविरोधात्स्वार्थे तात्पर्याभावात्तेषां स्थूलारुन्धतीन्यायेन पूर्वपूर्वनिराकरणद्वारा सूक्ष्मसूक्ष्मवस्तूपदेशे तात्पर्यमित्येतावदेव प्रतिपाद्यते। तथाहि "ध्रुवमरुन्धतीं च दर्शयति" इति विधिबलाद्वरवध्वोररुन्धतीदर्शने प्राप्ते परमसूक्ष्माया अरुन्धत्याः प्रथमकक्षायामेव प्रतिपत्तुमशक्यत्वात्प्रथमं चन्द्रज्योतीरूपारुन्धतीत्युच्यते ततश्चन्द्रभिन्ना तारकारुन्धतीत्युच्यते ततश्चेतरतारकाभिन्ना सप्ततारकात्मिकारुन्धतीत्युच्यते तदनन्तरमितरतारकाचतुष्टयभिन्ना तारकात्रितयात्मिकेत्युच्यते ततस्तन्मध्यतारकेत्युच्यते ततस्तत्समीपवर्तिनी परमसूक्ष्मारुन्धतीत्युच्यते। न चैतावतैतेषां पञ्चानां वाक्यानां परस्परविरुद्धार्थप्रतिपादकत्वेनाप्रामाण्यं शक्यं प्रतिपादयितुं किन्तु प्रतिपत्तृबुद्ध्यनुसारेण सोपानक्रमवत्पूर्वपूर्वनिराकरणद्वारा सूक्ष्मारुन्धतीप्रतिपादने तात्पर्यात्। तद्वदत्राप्यन्नमयः

प्राणमयो मनोमयो विज्ञानमय आनन्दमय आत्मा "ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा" इति पुच्छब्रह्म-पर्यवसितानां पञ्चकोशवाक्यानामपि परस्परविरुद्धार्थप्रतिपादकत्वेऽपि प्रतिपत्तृबुद्ध्यनुसारेण सोपानक्रमवत्पूर्वपूर्वनिराकरणद्वारा परमसूक्ष्मपुच्छब्रह्मप्रतिपादेन तात्पर्यात्। तस्मात्सर्वेषां वेदवाक्यानां साक्षात्परम्परया वाद्वितीयवस्तुप्रतिपादने तात्पर्यात्प्रामाण्यविरोध इति संक्षेप:। विशेषाध्यारोपप्रकरणमुपसंहरति—एवमिति।।४८।।

अर्थ—और भी—'प्रत्यक्' (कठ० २।१।१) 'अस्थूल' (बृह० ३।८।८) 'अचक्षु' (मुण्डक० १।१।६) 'अप्राण' (मुण्डक० २।१।२) 'अमना' (मुण्डक० २।१।२) 'अकर्त्ता' (श्वेता० १।६) 'चैतन्य' (कैवल्य २१) 'चिन्मात्र' (कैवल्य १८) और 'सत्' (छान्दोग्य० ६।२।१) इत्यादि प्रबल श्रुतियों के साथ विरोध होने से, पुत्र से लेकर शून्य-पर्यन्त सभी वस्तुएँ चैतन्य के द्वारा प्रकाश्य होने से घटादि के समान जड़ एवं अनित्य हैं—इस युक्ति से, आत्मविद् के 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार के अनुभव के प्रबल होने से, और उन-उन (पूर्वोक्त) श्रुत्याभासों युक्त्याभासों तथा अनुभवाभासों के (उत्तरवर्ती श्रुतियुक्त्यानुभवाभासों द्वारा) बाधित हो जाने से भी पुत्र से लेकर शून्यपर्यन्त सभी आत्मा से भिन्न ही हैं। अत: उन-उन (पुत्र से लेकर शून्यपर्यन्त) को प्रकाशित करने वाला, नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त तथा सत्य स्वभाव वाला प्रत्यक् (सर्वाधिक आन्तरिक) चैतन्य ही आत्म-तत्त्व है—ऐसा वेदान्त के विद्वानों का अनुभव है। इस प्रकार (विशेष) अध्यारोप कहा गया है।

विशेष—(१) किञ्च प्रत्यगस्थूलोऽ...श्रुतिविरोधात्—पिछले खण्ड में यह कहा जा चुका है कि विभिन्न मतावलम्बियों द्वारा प्रस्तुत श्रुतियुक्त्यानुभव आभास-मात्र है जो स्वयं (शून्यात्मवाद को छोड़कर) उत्तरोत्तर 'प्रस्तुत मतों के श्रुतियुक्त्यानुभवाभास से ही क्रमश खण्डित हो गये। प्रस्तुत सन्दर्भ में प्रत्येक मत के खण्डनार्थ ऐसी प्रबल श्रुतियाँ प्रस्तुत की जा रही हैं जो पूर्वोक्त मतों को क्रमश: पूर्णतया बाधित करती हुई आत्मा के स्वरूप को प्रकाशित करती हैं। ये श्रुतियाँ मूल में 'प्रत्यक्', 'अस्थूल:', 'अचक्षु:', 'अप्राण:', 'अमना:', 'अकर्त्ता', 'चैतन्यम्', 'चिन्मात्रम्' और 'सत्'—इस प्रकार अत्यन्त संक्षिप्त रूप से ही कथित हैं। इनका साकल्येनं पद-विन्यास एवं विवेचन क्रमश: इस प्रकार है—

१. प्रत्यक्—'कश्चिद्धीर: प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्' (कठोपनिषद २।१।१)। इस श्रुति से स्थूल (अति प्राकृत) मतावलम्बियों की श्रुति 'आत्मा वै जायते पुत्र:' का विरोध है। जैसा कि प्रारम्भ में ही कहा जा चुका है कि आत्मा, मन, बुद्धि, इन्द्रिय एवं पुत्र-शरीरादि समस्त दृश्यमान वस्तुओं की अपेक्षा आन्तरिक है इसीलिए इसे प्रत्यक् (सर्वान्तर) कहा है, जबकि अतिप्राकृत मत वाले पुत्रादि 'पराक्' अर्थात् बाह्य वस्तु को आत्मा बता रहे हैं। अत: स्पष्ट है कि पुत्रादि आत्मा नहीं हो सकते।

२. अस्थूलम्—अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम् (बृहदारण्यकोपनिषद ३।८।८)। इस श्रुति से स्थूलदेहात्मवादी चार्वाकों के मत के समर्थन में उल्लिखित श्रुति 'स वा एष

पुरुषोऽन्नरसमय:' इस श्रुति का पूर्णतया बाध हो जाता है। श्रुति का 'अस्थूलम्' शब्द ही स्थूल शरीर के आत्मत्व का बाध करता है।

३. अचक्षुः—'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्।' (मुण्डक० १।१।६)। इस श्रुति के 'अचक्षुःश्रोत्रम्' पद से इन्द्रियात्मवादी चार्वाकों के समर्थन में उल्लिखित श्रुति 'ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्योचुः' में कथित प्राण (इन्द्रिय) रूप आत्मा का बाध हो जाता है। सिद्धान्त पक्ष की उक्त श्रुति से चक्षु आदि इन्द्रियों का अनात्मत्व सिद्ध होता है।

४. व ५. अप्राणः और अमनाः—

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः।।—मुण्डकोपनिषद् २।१।२

इस श्रुति से प्राणात्मवादी और मन-आत्मवादी चार्वाकों का मत खण्डित हो जाता है, क्योंकि इससे उनकी समर्थक श्रुतियों "अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमय:" एवं "अन्योऽन्तर आत्मा मनोमय:" का स्पष्ट विरोध है जिससे उक्त दोनों मत स्वतः ध्वस्त हो जाते हैं।

६. अकर्त्ता—"अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्त्ता" (श्वेतांश्वतरोपनिषद् १।९)। इस श्रुति के 'अकर्त्ता' पद से "अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमय:" श्रुति से विज्ञानवादी बौद्धों द्वारा गृहीत क्षणिकविज्ञान के आत्मत्व का खण्डन हो जाता है।

७. चैतन्यम्—न चास्ति वेत्ता मम चित्सदाहम् (कैवल्य० २१)। इस श्रुति के 'चित्' पद से प्राभाकर मीमांसकों एवं नैयायिकों द्वारा 'अन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमय:' श्रुति से गृहीत जड़ अर्थात् अचित् 'अज्ञान' के आत्मत्व का खण्डन हो जाता है।

८. चिन्मात्रम्—"चिन्मात्रोऽहं सदाशिव:" (कैवल्य० १८)। इस श्रुति के 'चिन्मात्र' शब्द से 'प्रज्ञानघन एवानन्दमय:' इस श्रुति में माध्यम से भाट्ट मीमांसकों द्वारा प्रतिपादित 'अज्ञानोपहित चैतन्य' के आत्मत्व का निषेध हो जाता है।

९. सत्—"सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" (छान्दोग्योपनिषद् ६।२।१)। इस श्रुति के 'सदेव' पद से "असदेवेदमग्र आसीत्" श्रुति में आये 'असदेव' पद से शून्यवादी बौद्धों द्वारा गृहीत शून्यात्मवाद का निषेध हो जाता है। ज्ञातव्य है कि शून्यवादी बौद्धों द्वारा स्थापित शून्यात्मवाद का खण्डन इसके पूर्व कहीं नहीं हो सका था, क्योंकि पूर्वपक्षी मतों में सूक्ष्मतम होने से यह अन्त में गृहीत हुआ था।

(२) पुत्रादिशून्यपर्यन्तस्य...विद्वदनुभवप्राबल्याच्च—जिस प्रकार पुत्रादि से लेकर शून्य-पर्यन्त आत्म-विषयक मतों की स्थापना, खण्डन इत्यादि श्रुति, युक्ति और अनुभव या प्रत्यक्ष (प्रमाण) के माध्यम से किया गया, उसी प्रकार पूर्वपक्षी के मतों का खण्डन एवं वेदान्तमत की स्थापना भी श्रुतियुक्त्यानुभव प्रमाणों के माध्यम से की जा रही है। इस विषय में श्रुतियों का उल्लेख तो अभी-अभी कर दिया गया है, अब युक्ति और अनुभव के द्वारा वेदान्तमत को प्रमाणित किया जा रहा है।

आत्म-विषयक मतों में आत्मरूप से प्रतिपादित पुत्र से लेकर शून्य-पर्यन्त सभी जड़ हैं, क्योंकि ये सभी चैतन्य के द्वारा प्रकाशित हैं। जो जड़ होता है वह अनित्य होता है, जैसे घर जड़ है और अनित्य भी है। इस अनुमान से पुत्रादि सभी जड़ होने के कारण अनित्य हुए। इसके विपरीत आत्मा नित्य चैतन्य-रूप होने से स्वयंप्रकाश होकर अन्य सभी का प्रकाशक है। आत्मा को नित्य न मानकर यदि पूर्वपक्षियों को अभिमत इन्द्रिय-मन-प्राण-बुद्ध्यादि में से किसी को आत्मा मान लें तो उसके अनित्य होने के कारण कृतप्रणाश और अकृताभ्यागम–ये दो दोष उत्पन्न होगें। कर्म करने वाला अनित्य है तो कृत कर्म बिना फल दिये ही नष्ट हो जायेंगे। यह बात इस सर्वमान्य तथ्य के विरुद्ध होगी कि कृत कर्मों का भोग हुए विना नाश नहीं हो सकता अन्यथा नैतिकता के सर्वथा लुप्त होने का प्रसंग उठेगा। इसके अतिरिक्त अकृत कर्मों की भोगार्थ प्राप्ति भी होगी। यह बात भी समीचीन या ठीक नहीं है।

(३) अहं ब्रह्मेति विद्वदनुभवप्राबल्यात्–आत्मवेत्ता को 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार का साक्षात् अनुभव होता है, और सन्दिग्ध विषय में अनुभव से बढ़कर तो कोई भी ज्ञान नहीं होता। अन्य की अपेक्षा उसका प्रामाण्य प्रबलतर होता है। यह बात ठीक है कि 'मैं बोलता हूँ, सुनता हूँ, देखता हूँ, सोचता हूँ, निश्चय करता हूँ' इत्यादि अनुभव के कारण प्रत्यगात्मा का इन्द्रिय, मन, बुद्धि इत्यादि के रूप में ग्रहण होता है किन्तु यह सब अनुभव तो उसे तत्तत् करण से तत्तत् कर्म करने के कारण होते हैं। वस्तुतः तो प्रत्यगात्मा न चक्षुरादि इन्द्रिय है, न प्राण, न मन और न बुद्धि ही। प्रत्यगात्मा इन सब करणों को चलाने वाला वास्तविक कर्ता है, इन सब का प्रेरक है। इसी से इसका चेतन होना भी अनिवार्य है, क्योंकि अचेतन तो प्रेरक या चालक हो ही नहीं सकता। वह तो प्रेर्य ही होता है। यही चेतन प्रत्यगात्मा 'अहम्' रूप में ज्ञात होता है। इसी में सभी इन्द्रिय, प्राण, मन इत्यादि एकीभाव को प्राप्त होते हैं। अतः चिदात्मा ही उपास्य है। उसके स्वरूप पर मन को केन्द्रित करने पर क्रमशः उसका स्वरूप प्रत्यक्ष होने लगता है। चिर काल तक ऐसा होते रहने से वह–महतोमहीयान्–रूप से अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति में प्रकट हो जाता है। यही ब्रह्मानुभव है। कालान्तर में इस वृत्ति के भी समाप्त हो जाने पर प्रत्यगात्मा ब्रह्मरूप ही हो जाता है। यह विषय आगे समाधि के प्रसंग में सविशेष विवेचित होगा।

ब्रह्मनिष्ठ विद्वान् गुरु-शरण में आये हुए अधिकारी शिष्य को कृपापूर्वक अध्यारोप और अपवाद के न्याय से उपदेश देता है, यह बात ग्रन्थ के पूर्व भाग में कही जा चुकी है। सामान्य अध्यारोप का विस्तार से निरूपण करके, प्रत्यगात्मा में होने वाले कुछ विशिष्ट अध्यारोपों का भी निरूपण यद्यपि किया जा चुका है तथापि इसको सर्वथा सुबोध एवं ग्राह्य बनाने की दृष्टि से आगे एक चार्ट दिया जा रहा है जिसमें तत्तन्मत के अनुयायी का विवरण, अपने मत का समर्थक श्रुतिवाक्य, उस मत की समर्थक युक्ति, उसमें प्रमाणभूत स्वानुभव तथा अन्त में निष्कर्ष दिया गया है। इससे एक ही दृष्टि में सारा विषय मस्तिष्क के समक्ष उपस्थित हो जायेगा।

विभिन्न मतानुयायियों (पूर्व पक्षी) के आत्म-विषयक मत

क्रमांक	मतानुयायी	श्रुतिवाक्य प्रमाण	युक्ति प्रमाण	अनुभव प्रमाण	निष्कर्ष
१.	अतिप्राकृत	आत्मा वै जायते पुत्रः।	अपने ही समान पुत्र के प्रति प्रेम होना।	पुत्र के सुख-दुःख में, उसके समान ही स्वयं की अनुभूति।	पुत्र ही आत्मा है।
२.	स्थूल शरीरात्मवादी चार्वाक	स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः।	जलते हुए घर से अपने पुत्र को छोड़कर आत्म-रक्षार्थ स्वयं भागना।	मैं मोटा हूँ। मैं दुबला हूँ।	स्थूल शरीर ही आत्मा है।
३.	इन्द्रियात्मवादी चार्वाक	ते ह प्राणाः प्रजापतिं-पितरमेत्योचुः।	मूर्च्छा आदि से इन्द्रियों का अभाव होने पर शारीरिक क्रियायों का अभाव हो जाना।	मैं काना हूँ। मैं बहरा हूँ।	इन्द्रियाँ ही आत्मा हैं।
४.	प्राणात्मवादी चार्वाक	अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः।	प्राण के अभाव में इन्द्रियों का कार्यों में प्रवृत्त न होना।	मैं भूखा हूँ। मैं प्यासा हूँ।	प्राण ही आत्मा है।
५.	मनात्मवादी चार्वाक	अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः।	मन के सो जाने या विलीन हो जाने पर प्राणादि का अभाव हो जाना।	मैं संकल्प (इच्छा) करता हूँ। मैं विकल्प (संशय) करता हूँ।	मन ही आत्मा है।
६.	विज्ञानवादी बौद्ध	अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः।	कर्त्ता के न होने पर करण में कार्य करने की शक्ति का अभाव हो जाना।	मैं कर्त्ता हूँ। मैं भोक्ता हूँ।	बुद्धि (क्षणिक विज्ञान) ही आत्मा है।
७.	प्राभाकर मीमांसक एवं नैयायिक	अन्योऽन्तर आत्मानन्द-मयः।	सुषुप्ति-काल में बुद्धि आदि का अज्ञान में लय देखा जाना।	मैं अज्ञ हूँ। मैं अज्ञानी हूँ।	अज्ञान ही आत्मा है।
८.	भाट्ट मीमांसक	प्रज्ञानघन एवानन्दमयः।	सुषुप्ति में प्रकाश (ज्ञान) और अप्रकाश (अज्ञान) दोनों का अस्तित्व होना।	मैं अपने को नहीं जानता।	अज्ञानोपहित चैतन्य ही आत्मा है।
९.	माध्यमिक मतावलम्बी शून्यवादी बौद्ध	असदेवेदमग्र-आसीत्।	सुषुप्ति में (द्रष्टा एवं दृश्य) सबका अभाव हो जाता है।	सुषुप्ति में मैं नहीं था।	शून्य ही आत्मा है।

अब उस अध्यारोप के अपवाद का निरूपण आरम्भ करते हुए आचार्य पहले अपवाद का लक्षण बता रहे हैं।

अपवादो नाम रज्जुविवर्तस्य सर्पस्य रज्जुमात्रत्ववद्वस्तुविवर्तस्यावस्तुनोऽज्ञानादेः प्रपञ्चस्य वस्तुमात्रत्वम्। तदुक्तम्–

'सतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विकार इत्युदीरितः।
अतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विवर्त इत्युदाहृतः'।।इति।।४९।।

आत्मवस्तुनि मिथ्याप्रपञ्चस्य सामान्यतो विशेषतश्चाध्यारोपप्रकारं सप्रपञ्चमभिधायेदानीं तदपवादप्रकारं वक्तुमारभते अपवाद इति। असङ्गोदासीने परमात्मवस्तुनि तद्विवर्तभूताज्ञानादिमिथ्याप्रपञ्चस्य चिद्वस्तुमात्रावशेषतयावस्थानमेवापवाद इति वक्तुं प्रथमं लौकिकं दृष्टान्तमाह रज्जुविवर्तस्येति। रज्जुस्वरूपापरित्यागेन सर्पाकारेण भासमानस्य रज्जुविवर्तस्यापवादो नाशो नामाधिष्ठानरज्जुमात्रतयावस्थानवच्चिद्विवर्तस्याज्ञानादिप्रपञ्चस्य नाशो नाम चिन्मात्रत्वेनावस्थानमित्यर्थः। अत्र यथास्वरूपेणावस्थितस्य वस्तुनोऽन्यथाभावो द्विधा भवति–परिणामभावो विवर्तभावश्चेति। तत्र परिणामभावो नाम वस्तुनो यथार्थतः स्वस्वरूपं परित्यज्य स्वरूपान्तरापत्तिर्यथा दुग्धमेव स्वस्वरूपं परित्यज्य दध्याकारेण परिणमते। विवर्तभावस्तु वस्तुनः स्वस्वरूपापरित्यागेन स्वरूपान्तरेण मिथ्याप्रतीतिर्यथा रज्जुः स्वस्वरूपापरित्यागेन सर्पाकारेण मिथ्या प्रतिभासते। अत्र वेदान्ते ब्रह्मणि प्रपञ्चभानस्य परिणामभावो नाङ्गीक्रियते दुग्धादिवद् ब्रह्मणो विकारित्वप्रसङ्गादनित्यत्वादिदोषापत्तेः। विवर्तभावाङ्गीकारे तु नायं दोषो, ब्रह्मणि प्रपञ्चभानस्य मिथ्यात्वेन विकारित्वाभावात्। तदुक्तम्–"अधिष्ठानावशेषो हि नाशः कल्पितवस्तुन" इति। तस्माच्चिद्विवर्तस्य प्रपञ्चस्य चिन्मात्रावस्थानमेवापवाद इति भावः। अस्मिन्नर्थे ग्रन्थान्तरसंवादं दर्शयति–तदुक्तमिति।।४९।।

अर्थ–जैसे रस्सी का विवर्त (अर्थात् भ्रान्ति से रस्सी के स्थान में प्रतीत होने वाला) सर्प केवल रस्सी ही होता है, उससे भिन्न कुछ नहीं, वैसे ही ब्रह्मरूप वस्तु के विवर्त अर्थात् (अज्ञान और उसके कारण ब्रह्म में प्रतीत होने वाले) अवस्तुभूत समस्त प्रपञ्च का केवल वस्तु रूप में रह जाना ही 'अपवाद' है। वैसा कहा भी गया है–

"किसी वस्तु का तत्त्वतः (वस्तुतः) अन्यथा अर्थात् दूसरे रूप में प्रकट होना 'विकार' कहा गया है, और मिथ्या रूप से अर्थात् ऊपर-ऊपर से (तत्त्वतः नहीं) दूसरे रूप में प्रतीत होना 'विवर्त' कहा गया है।"

विशेष–(१) अपवाद–लोक-व्यवहार में अपकीर्ति या अपयश, निन्दा आदि के अर्थ में अपवाद शब्द का प्रयोग होता है। व्याकरण इत्यादि शास्त्रों में व्यापक नियम के विरुद्ध विशेष नियम को अपवाद (Exception) कहा जाता है। किन्तु वेदान्त शास्त्र में

अध्यारोप के निराकरण को अपवाद कहा जाता है। इसी को शास्त्रीय भाषा में 'अवस्तुभूतस्य वस्त्वात्मना निर्देशः' (आपदेव-कृत बालबोधिनी) अर्थात् अध्यारोप का वस्तु अर्थात् अधिष्ठान रूप से (गुरु आदि के द्वारा) निर्दिष्ट होना 'अपवाद' है। जैसे, अँधेरी रात में रास्ते में पड़ी हुई रस्सी को साँप समझ कर कोई व्यक्ति चौंक कर दूर भागे तो रस्सी में झूठ-मूठ प्रतीत होने वाला साँप तो 'अध्यारोप' हुआ और दीप के प्रकाश से उसे रस्सी देखने वाला कोई दूसरा इस प्रतीयमान साँप को मिथ्या बताकर रस्सी होने का ज्ञान करा दे तो यही मिथ्या सर्प के खण्डन के साथ रस्सी का प्रतिष्ठापन 'अपवाद' है। प्रतीयमान मिथ्या वस्तु का खण्डन या प्रत्याख्यान ही वस्तुतः अपवाद है। वस्तु का ख्यापन या प्रतिष्ठापन तो मिथ्या अध्यारोप के प्रत्याख्यान का तर्क-संगत परिणाम होने से, अपवाद की कल्पना को पूर्णता प्रदान करता है।अपवाद (अप् + वद् + घञ्) का शाब्दिक या व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ अपलाप या प्रत्याख्यान ही है, ख्यापन या प्रतिष्ठापन नहीं। मिथ्या आरोपित वस्तु का खण्डन-प्रत्याख्यान तो तर्कसङ्गत है ही। अतः दोनों ही प्रकार से मिथ्या आरोपित वस्तु का प्रत्याख्यान 'अपवाद' का मुख्यार्थ सिद्ध होता है। उसके अनन्तर उसकी परिणति के रूप में यथार्थ वस्तु का अवशिष्ट रहना या पुनः प्रतिष्ठापित होना भी उसके अर्थ में सहज ही समाविष्ट हो जाता है।

(२) विकार-विर्वत–किसी बात का अन्यथा प्रथन दो प्रकार का होता है। एक 'विकार' कहलाता है, दूसरा 'विवर्त'। विकार का अर्थ परिणाम अर्थात् तात्त्विक परिवर्तन है। जब कोई वस्तु अपने स्वरूप को छोड़कर यथार्थतः या तत्त्वतः दूसरे स्वरूप को प्राप्त हो जाती है, तो उसे ही विकार या परिणाम कहा जाता है। जैसे, दंही दूध का विकार है, क्योंकि दूध का आकार, स्वाद, गुण–सभी कुछ बदल जाता है। जब कोई वस्तु अपने स्वरूप का बिना यर्थाथतः त्याग किये दूसरे रूप में प्रतीत होने लगती हैं, तो उसे मूल वस्तु का विर्वत कहा जाता है। जैसे, रस्सी में झूंठ-मूंठ प्रतीत होने वाला सर्प रस्सी का विकार नहीं, विंवर्त है। रस्सी का स्वरूप तो अपरिवर्तित-अपरित्यक्त ही रहा, केवल अज्ञानी द्रष्टा को वह सर्प रूप में दिखाई पड़ी। उसमें तत्त्व कुछ भी नहीं है, तत्त्व तो केवल रस्सी है जिसके अभाव में सर्प की प्रतीति हो ही नहीं सकती थी। सर्प की मिथ्या प्रतीति अर्थात् प्रतीयमान सर्प का अधिष्ठान, उसका आधार, रस्सी ही है। इस प्रकार सर्प की प्रतीति के लिए उसका आधार बनने वाली रस्सी का होना आवश्यक है।

(३) सतत्त्वतः–'सतत्त्व' शब्द प्रस्तुत स्थल में 'तत्त्व' का ही पर्याय है। तभी 'तत्त्वपूर्वक' इस अर्थ में उसमें तस् प्रत्यय जुड़ने से 'सतत्त्वतः' शब्द बन सका। अन्यथा 'तत्त्वेन सहेति सतत्त्वम्' इस प्रकार 'सतत्त्व' में तुल्ययोग बहुव्रीहि मानने पर तो यह शब्द विशेषण हो जायेगा और विशेषण में तस् जुड़ ही नहीं सकता। अपवाद के लक्षण के अनन्तर उसकी प्रक्रिया के सम्बन्ध में सहज रूप से जिज्ञासा उत्पन्न होती है। 'विपर्ययेण तु क्रमोऽत

उपपद्यते' च (ब्रह्मसूत्र २।३।१४) न्याय से अध्यारोप रूप उत्पत्ति के उलटे क्रम से अपवाद की प्रक्रिया को सविस्तर बताते हुए ग्रन्थकार कहते हैं—

तथाहि—एतद्भोगायतनं चतुर्विधसकलस्थूलशरीरजातं एतद्भोग्यरूपान्नपानादिकमेतदायतनभूतभूरादिचतुर्दशभुवनान्येतदायतनभूतं ब्रह्माण्डं चैतत्सर्वमेतेषां कारणरूपं पञ्चीकृतभूतमात्रं भवति। एतानि शब्दादिविषयसहितानि पञ्चीकृतानि भूतानि सूक्ष्मशरीरजातं चैतत्सर्वमेतेषां कारणरूपापञ्चीकृतभूतमात्रं भवति। एतानि सत्त्वादिगुणसहितान्यपञ्चीकृतान्युत्पत्तिव्युत्क्रमेणैतत्कारणभूताज्ञानोपहितचैतन्यमात्रं भवति। एतदज्ञानमज्ञानोपहितं चैतन्यं चेश्वरादिकमेतदाधारभूतानुपहितचैतन्यरूपं तुरीयं ब्रह्ममात्रं भवति।।५०।।

सामान्यतो दर्शितामपवादप्रक्रियां विस्तरेण प्रतिपादयितुं प्रतिजानीते—तथाहीति। स्थूलसूक्ष्मकारणप्रपञ्चानामुत्पत्तिवैपरीत्येन तत्तत्कारणरूपेणावस्थानमेवापवाद इत्याह एतद्भोगायतनमिति। एतत्स्थूलशरीरं स्वाश्रयब्रह्माण्डसहितं स्वकारणभूतपञ्चीकृतेषु पञ्चमहाभूतेषु लीनं सत्तन्मात्रतयावतिष्ठते। तानि च पञ्चीकृतानि भूतानि शब्दादिसहकृतानि सप्तदशावयवात्मकलिङ्गशरीराणि स्वकारणेष्वपञ्चीकृतभूतेषु लीनानि भवन्ति। तान्यपञ्चीकृतानि सत्त्वादिगुणसहितानि स्वकारणाज्ञानोपहितचैतन्ये लीनानि भवन्ति। तच्चाज्ञानं तदुपहितचैतन्यं सर्वज्ञत्वादिगुणविशिष्टं च स्वाधारभूतानुपहितचैतन्ये लीनं भवति। चैतन्यमेवावशिष्यत इत्यर्थः।।५०।।

अर्थ—(अपवाद के द्वारा) सुख-दुःखादि भोगों के आश्रय-भूत चारों प्रकार के सारे स्थूल शरीर, इन शरीरों के भोग्य बनने वाले अन्नपानादि, इनके आश्रयभूत 'भू' आदि चौदहों भुवन (लोक) और इनका भी आधार-भूत ब्रह्माण्ड—ये सभी अपने कारण-भूत पञ्चीकृत (स्थूल या महा) भूतमात्र रह जाते हैं। अपने-अपने शब्दस्पर्श आदि विषयों के सहित ये पञ्चीकृत स्थूल-भूत और सूक्ष्म शरीरों का समूह—ये सब अपने कारणभूत अपञ्चीकृत अर्थात् सूक्ष्म भूतमात्र रह जाते हैं। अपने सत्त्वादि गुणों के सहित ये अपञ्चीकृत सूक्ष्म-भूत उत्पत्ति के विपरीत क्रम से अपने कारणभूत अज्ञान से उपहित चैतन्यमात्र रह जाते हैं। यह अज्ञान तथा उस से उपहित ईश्वर आदि चैतन्य अपने अधिष्ठान-भूत अनुपहित चैतन्य रूप तुरीय ब्रह्ममात्र ही रह जाते हैं।

विशेष—(१) भोगायतनम्—'भोगस्य आयतनं भोगायतनम्।' सुख-दुःख इत्यादि का जिसमें भोग होता है, उस शरीर को भोगायतन कहते हैं। 'भोगायतनं शरीरम्' ऐसा लक्षण शरीर का है। न्यायसूत्र में शरीर का जो 'चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्' (न्याय० १।११) इस प्रकार का लक्षण किया गया है, इसमें 'अर्थ' शब्द से सुख-दुःखादि भोग का

ही ग्रहण किया गया है। इसके अतिरिक्त उसे चेष्टा तथा इन्द्रियों का भी आश्रय या स्थान कहा गया, जो ठीक है। भोग का साधन तो इन्द्रियाँ ही हैं, उनके अभाव में भोग होगा ही नहीं। ये इन्द्रियाँ शरीर में रहती हुई उससे अनुगृहीत होकर ही अपने-अपने विषय में प्रवृत्त होती हैं, और उसके उपहृत होने पर स्वयं भी उपहृत होने से विषय-भोग में प्रवृत्त नहीं हो पातीं। भोग की प्राप्ति की चेष्टा भी शरीर ही में होती है। इस प्रकार से मुख्य रूप से भोग का और उस भोग के साधन रूप से इन्द्रियों तथा चेष्टा का भी आयतन या आश्रय शरीर ही होता है। कर्मों के फल के भोगानुसार ये शरीर जरायुज, अण्डज, स्वदेज, और उद्भिज्ज रूप से मुख्यत: चार प्रकार और गौण रूप से तो अनन्त प्रकार के होते हैं।

(२) उत्पत्तिव्युत्क्रमेण–'व्युत्क्रम' का अर्थ है विपरीत क्रम, उल्टा क्रम। आकाश इत्यादि भूतों की उत्पत्ति के क्रम से उल्टे क्रम से अपवाद की प्रक्रिया प्रवृत्त होती है। भूतों की उत्पत्ति का जो क्रम पहले बताया गया है, उसमें ईश्वर नामक अज्ञानोपहित ब्रह्मचैतन्य आदिम, तथा चतुर्विध स्थूल शरीर एवं चतुदर्श लोकों के सहित ब्रह्माण्ड अन्तिम सोपान है। अपवाद में अन्तिम सोपान आदिम या प्रथम, तथा आदिम सोपान अन्तिम होता है। इस प्रकार समस्त स्थूलभूत स्थूल शरीर, एवं सारे लोक–सभी कुछ उपान्तत: अज्ञान तथा तदुपहित ईश्वर, और अन्तत: तो अनुपहित शुद्ध (निर्गुण) तुरीय चैतन्य (ब्रह्म) ही हो जाता है।

अध्यारोप और अपवाद की इसी पूर्वोक्त प्रक्रिया के द्वारा गुरु शिष्य को आत्मतत्त्व का उपदेश देता है। इस प्रक्रिया से उपदेश पाकर ही शिष्य सच्चिदानन्द तुरीय ब्रह्म एवं प्रत्यगात्मा की एकता का ज्ञान कर पाता है। 'तत्त्वमसि' जैसे उपदेशात्मक महावाक्य से गुरु इसी एकता का उपदेश शिष्य को देता है। अत: अध्यारोपावाद प्रक्रिया से समझायी गई एकता कों अब 'तत्त्वमसि' वाक्य के माध्यम से समझाने के लिए ग्रन्थकार पहले 'तत्' और 'त्वम्' पदों का अर्थ बतला रहे हैं–

आभ्यामध्यारोपापवादाभ्यां तत्त्वम्पदार्थशोधनमपि सिद्धं भवति। तथाहि-अज्ञानादिसमष्टिरेतदुपहितं सर्वज्ञत्वादिविशिष्टं चैतन्यमेतदनुपहितं चैतत्न्रयं तप्तायःपिण्डवदेकत्वेनावभासमानं तत्पदवाच्यार्थो भवति। एतदुपाध्युपहिताधारभूतमनुपहितं चैतन्यं तत्पदलक्ष्यार्थो भवति। अज्ञानादिव्यष्टिरेतदुपहिताल्पज्ञत्वादिविशिष्टचैतन्यमेतदनुपहितं चैतत्न्रयं तप्तायःपिण्डवदेकत्वेनावभासमानं त्वम्पदवाच्यार्थो भवति। एतदुपाध्युपहिताधारभूतमनुपहितं प्रत्यगानन्दं तुरीयं चैतन्यं त्वम्पद-लक्ष्यार्थो

भवति।।५१।।

फलितमाह—आभ्यामिति। तत्त्वम्पदार्थशोधनप्रकारं प्रतिजानीते तथाहीति। अज्ञानं तदवच्छिन्नेश्वरचैतन्यं तदनुपहितचैतन्यं चैतत्त्रयं तप्तायःपिण्डवदन्योन्यतादात्म्याध्यासेनैकत्वेन प्रतीयमानं सत्तत्पदवाच्यार्थो भवतीत्यर्थः। तत्पदलक्ष्यार्थमाह एतदिति। अज्ञानावच्छिन्नेश्वरचैतन्यस्याधारभूतं यदनुपहितचैतन्यं तत्ताभ्यां विविक्तं सद्भेदविवक्षया तत्पदलक्ष्यार्थो भवतीत्यर्थः। त्वम्पदवाच्यार्थमाह अज्ञानादीति। व्यष्टिभूतमज्ञानं यदन्तःकरणं तदवच्छिन्नं जीवचैतन्यं तदनुपहितं चैतन्यं चेत्येतत्त्रयं तप्तायःपिण्डवत्परस्परतादात्म्याध्यासेनाभेदविवक्षया त्वम्पदवाच्यार्थो भवतीत्यर्थः। त्वम्पदलक्ष्यार्थमाह एतदिति। अन्तःकरणोपहितचैतन्यत्रयस्याधारभूतं यदनुपहितं प्रत्यगानन्दं तुरीयं चैतन्यं त्वम्पदलक्ष्यार्थो भवतीत्यर्थः।।५१।।

अर्थ—इन अध्यारोप और अपवाद के द्वारा अभेद-प्रतिपादक तत्त्वमसि वाक्य के 'तत्' और 'त्वम्' पदों के अर्थ का शोधन अर्थात् स्पष्टीकरण भी पूर्णतः हो जाता है। वह इस प्रकार से—अज्ञान आदि (अर्थात् अज्ञान रूप कारण शरीर, सूक्ष्म शरीर, तथा स्थूल शरीर) की समष्टि, इनसे उपहित तथा सर्वज्ञता आदि से विशिष्ट (ईश्वर, हिरण्यगर्भ तथा विराट् या वैश्वानर नामक) चैतन्य, तथा इनसे अनुपहित शुद्ध चैतन्य—ये तीनों जब तपे हुए लौह-पिण्ड की तरह एक अर्थात् अभिन्न प्रतीत हों, तब ये 'तत्' पद का वाच्यार्थ बनते हैं। इन उपाधियों और इनसे उपहित चैतन्य का आधारभूत अनुपहित (शुद्ध) चैतन्य 'तत्' पद का लक्ष्यार्थ होता है।

अज्ञान आदि (अज्ञान रूप कारण शरीर, सूक्ष्म शरीर, तथा स्थूल शरीर) की व्यष्टि, इनसे उपहित तथा अल्पज्ञता आदि से विशिष्ट (प्राज्ञ, तैजस तथा विश्व नामक) चैतन्य—ये तीनों जब तप्त अर्थात् अग्नि-युक्त लौहपिण्ड के समान एक या अभिन्न प्रतीत हों, तब ये 'त्वम्' पद का वाच्यार्थ बनते हैं। इन उपाधियों एवं इनसे उपहित चैतन्य का अधिष्ठानभूत जो अनुपहित अन्तरतम आनन्दरूप तुरीय (शुद्ध) चैतन्य है, वह 'त्वम्' पद का लक्ष्यार्थ बनता है।

विशेष—जब वक्ता 'अयोगोलकः दहति' अर्थात् लोहे का गोला जलाता है—इस प्रकार का वाक्य उच्चारण करता है, तो वह लोहे के गोले एवं उसमें सङ्क्रान्त अग्नि को अभिन्न या एक ही ग्रहण करता हुआ ऐसा करता है। उस स्थिति में वह अभिधा शक्ति द्वारा प्राप्त वाच्यार्थ ही ग्रहण करता है। लेकिन विचारानन्तर जब उसे यह ज्ञान हो जाय कि 'जलाना' कार्य तो लोहे का नहीं हो सकता, क्योंकि वह तो अग्नि का धर्म है और फलतः 'लोहे के गोले में सङ्क्रान्त अग्नि जलाता है' यह अर्थ ग्रहण करे तो 'अयोगोलक' से तत्सङ्क्रान्त अग्नि का ग्रहण निश्चित ही वाच्यार्थ से भिन्न लक्ष्यार्थ है और 'अयोगोलक' लाक्षणिक शब्द है। इसी प्रकार जब अज्ञानादि की समष्टि, उससे उपहित चैतन्य तथा

उनका आधारभूत अनुपहित शुद्ध चैतन्य—ये तीनों अभिन्न या एक प्रतीत या गृहीत हों तब वे 'तत्' पद का वाच्यार्थ बनते हैं। परन्तु जब अज्ञानादि उपाधियों एवं उनसे उपहित चैतन्य से उनका आधार-भूत अनुपहित चैतन्य भिन्न या पृथक् ज्ञात हो तो वह अनुपहित चैतन्य 'तत्' पद का लक्ष्यार्थ होता है। इसी प्रकार अयोगोलक के दृष्टान्त से 'त्वम्' पद के वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ को भी अलग-अलग समझ लेना चाहिए।

'पदसमूहो वाक्यम्' के अनुसार वाक्य के अर्थ के ग्रहण के पूर्व उसमें प्रयुक्त पदों का अर्थ गृहीत होना चाहिए। इसीलिए ग्रन्थकार 'तत्' एव 'त्वम्' पदों के अर्थ को स्पष्ट करने के बाद, 'तत्त्वमसि' महावाक्य के अर्थ का निरूपण कर रहे हैं—

अथ महावाक्यार्थो वर्ण्यते। इदं "तत्त्वमसि" इति वाक्यं सम्बन्धत्रयेणाखण्डार्थबोधकं भवति। सम्बन्धत्रयं नाम पदयोः सामानाधिकरण्यं, पदार्थयोर्विशेषणविशेष्यभावः, प्रत्यगात्मपदार्थयोर्लक्ष्यलक्षण-भावश्चेति। तदुक्तम्—

सामानाधिकरण्यञ्च विशेषणविशेष्यता।
लक्ष्यलक्षणसम्बन्धः पदार्थप्रत्यगात्मनाम्।।इति।।५२।।

पदार्थमभिधाय वाक्यार्थमाह—अथेति। ननु जीवेश्वरयोः किञ्चिज्ज्ञत्वसर्वज्ञत्वादिविशिष्टयोरत्यन्तविलक्षणयोस्तत्त्वमस्यादिमहावाक्यानि परस्परविरुद्धार्थप्रतिपादकानि कथमखण्डैकरसं ब्रह्म प्रतिपादयन्तीत्याशङ्क्य साक्षादैक्यप्रतिपादकत्वाभावेऽपि लक्षणया सम्बन्धत्रयेणाखण्डैकार्थं प्रतिपादयन्तीत्याह इदमिति। सम्बन्धत्रयस्वरूपमाह—सम्बन्धेति। पदार्थप्रत्यगात्मनां सम्बन्धत्रयसद्भावे वृद्धसम्मतिमाह—तदुक्तमिति।।५२।।

अर्थ—अब महावाक्य के अर्थ का वर्णन किया जा रहा है। यह 'तत्त्वमसि' (६।८।७) वाक्य तीन सम्बन्धों के द्वारा अखण्ड अर्थ (निष्कल-निर्गुण ब्रह्म अर्थात् अनुपहित आधारभूत चैतन्य) का बोधक बनता है। तीन सम्बन्ध ये हैं—(१) दोनों (तत् तथा त्वम्) पदों का सामान्याधिकरण्य, (२) दोनों पदों के वाच्यार्थों में विशेषणविशेष्यभाव, तथा (३) प्रत्यगात्मा तथा दोनों पदों के वाच्यार्थ में लक्ष्यलक्षणभाव। सुरेश्वराचार्य के द्वारा अपने 'नैष्कर्म्य सिद्धि' नामक ग्रन्थ में यह बात कही गई है—"(महावाक्य के) पदों में, उन पदों के वाच्यार्थों में, तथा उन पदों के वाच्यार्थों और प्रत्यगात्मा में क्रमशः सामानाधिकरण्य, विशेषणविशेष्य-भाव और लक्ष्यलक्षण-सम्बन्ध है।" (नैष्कर्म्यसिद्धि ३।३)।

विशेष—(१) महावाक्य—प्रधान महावाक्य वेदान्त में चार ही प्रसिद्ध हैं। कहीं-कहीं इनकी संख्या बारह भी बताई गई है। इन्हें महावाक्य इसलिये कहा जाता है, क्योंकि इनमें वेदान्त का सर्वोच्च ज्ञान निहित या कथित है। ऋग्वेद के ऐतरेय-आरण्यक का महावाक्य है—प्रज्ञानं ब्रह्म (५।३)। शुक्लजुर्वेदीय बृहदारण्यक का वाक्य है—अहं ब्रह्मास्मि

(१।४।१०)। सामवेदीय छान्दोग्य का महावाक्य है—तत्त्वमसि (६।८।७)। अथर्ववेदीय माण्डूक्योपनिषद् का महावाक्य है—अयमात्मा ब्रह्म (मंत्र २)। इनमें भी 'तत्त्वमसि' और 'अहं ब्रह्मास्मि' सर्वाधिक विद्वत्प्रिय हुए, क्योंकि इनमें सर्वोच्च सत्य 'जीव-ब्रह्मैक्य' का साक्षात् ग्रहण किया गया है। इन दोनों में भी 'तत्त्वमसि' वाक्य में इस सर्वोच्च सत्य का गुरु द्वारा शिष्य को दिये गये उपदेश के रूप में ग्रहण है, एवं 'अहं ब्रह्मास्मि' में इसका ग्रहण सिद्धावस्था के स्वानुभव के रूप में है। एक उपदेश-वाक्य है, दूसरा अनुभव-वाक्य है। प्रस्तुत ग्रन्थ में पहले उपदेश वाक्य 'तत्त्वमसि' के अर्थ का निरूपण है। उसके अनन्तर ही 'अथाधुना' 'अहं ब्रह्मास्मि' इति अनुभववाक्यार्थो वर्ण्यते' कहकर आचार्य ने इसका निरूपण किया है।

(२) अखण्डार्थ—वेदान्त का निष्कल-निर्गुण ब्रह्म स्वगत, सजातीय, एवं विजातीय, इन विविध भेदों से रहित होने के कारण अखण्ड अर्थ कहा जाता है। प्रधानतया उक्त तीन ही भेद सम्भव हैं। शाखा, पत्र, मूल आदि होने से, वृक्ष स्वगत भेद वाला है। फिर वृक्ष जाति में ही आम, आमलक, जामुन आदि अनेक जातियाँ होती हैं। अत: ये परस्पर सजातीय भेद वाले भी हैं। वृक्ष जाति से भिन्न ढेर सारी मनुष्य, पशु, पक्षी इत्यादि जातियाँ हैं। अत: आम या अन्य कोई भी वृक्ष इन विजातियों से भिन्न होने से विजातीय भेद वाला भी है। ब्रह्म स्वगत भेद से रहित है, क्योंकि वह शुद्ध चैतन्य-मात्र होने से माया एवं उसके कार्यों से असम्पृक्त एवं असंस्पृष्ट हैं। उसके अतिरिक्त कोई और चेतन तत्त्व है ही नहीं जिससे उसका सजातीय भेद हो। चेतन जीव तो उससे अभिन्न है। अत: ब्रह्म सजातीय भेद से भी रहित है। उससे भिन्न कोई विजातीय भी तत्त्व नहीं है, जिससे उसका विजातीय भेद कहा जा सके। तथा-कथित अचेतन, अज्ञान और उसके कार्यभूत सारे प्रपञ्च भी ब्रह्म से अभिन्न हैं, जैसा कि ग्रन्थ के पूर्व भाग में प्रदर्शित किया जा चुका है। इस प्रकार विविध भेदों से रहित होने के कारण ब्रह्म भेद-रहित, खण्डरहित अर्थात् अखण्ड अर्थ या तत्त्व है।

(३) सामान्याधिकरण्य—समान विभक्ति वाले दो पदों का एक ही अर्थ के लिए प्रयुक्त होना, एक ही अर्थ में उनका तात्पर्य होना 'सामानाधिकरण्य' कहा जाता है—'समानविभक्त्यन्तयो: पदयोरेकस्मिन्नर्थे तात्पर्यम्' (आपदेव)। नृसिंह सरस्वती ने अपनी सुबोधिनी टीका में सामानाधिकरण्य का लक्षण इस प्रकार किया है—"भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तयो: शब्दयोरेकस्मिन्नर्थे प्रवृत्ति: सामान्याधिकरण्यम्।' अर्थात् भिन्न या पृथक् प्रवृत्ति-निमित्त वाले दो शब्दों का एक ही अर्थ में प्रयुक्त होना सामानाधिकरण्य कहलाता है। जैसे, 'रक्त: घट:' में 'रक्त' शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त है 'रक्तत्व' और 'घट' शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त है 'घटत्व'। इन दोनों शब्दों का घट रूप एक ही अर्थ के लिए प्रयोग होने से दोनों का सामानाधिकरण्य हुआ। एक ही अर्थ के लिए प्रयुक्त होने पर दोनों में एक ही विभक्ति

होगी। इसीलिये एक ही विभक्ति—समान ही अधिकरण—में होना सामान्याधिकरण्य कहा जाता है। विभिन्न तात्पर्य होने पर दोनों का सामानाधिकरण्य (समानविभक्तिकता) हो ही नहीं सकता।

अब सर्व प्रथम इसी सम्बन्ध के द्वारा जीवब्रह्मैक्य को ग्रन्थकार समझा रहे हैं—

सामानाधिकरण्यसम्बन्धस्तावत् यथा 'सोऽयं देवदत्तः' इत्यस्मिन् वाक्ये तत्कालविशिष्टदेवदत्तवाचकसशब्दस्यैतत्कालविशिष्टदेवदत्तवाचकायंशब्दस्य चैकस्मिन् पिण्डे तात्पर्यसम्बन्धः। तथा च 'तत्त्वमसि' इति वाक्येऽपि परोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यवाचकतत्पदस्यापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यवाचकत्वम्पदस्य चैकस्मिंश्चैतन्ये तात्पर्यसम्बन्धः।।५३।।

पदयोः सामानाधिकरण्यमुदाहरणनिष्ठं कृत्वा प्रदर्शयति—सामानाधिकरण्येति। भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तयोः शब्दयोरेकस्मिन्नर्थे प्रवृत्तिः सामानाधिकरण्यम्। तच्च सोऽयं देवदत्त इति वाक्ये स इति तत्पदस्य तत्कालतद्देशवैशिष्ट्यं प्रवृत्तिनिमित्तम्। एतत्कालैतद्देशवैशिष्ट्यमयंशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तम्। तथा च भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तयोः सोयंशब्दयारेकस्मिन्देवत्तपिण्डे तात्पर्यसम्बन्धः सामानाधिकरण्यमित्यर्थः। उक्तमर्थं दार्ष्टान्तिके योजयति तथा चेति। तथा च तत्त्वमसीति वाक्येऽपि परोक्षत्वसर्वज्ञत्वादिवैशिष्ट्यं तत्पदप्रवृत्तिनिमित्तम्। अपरोक्षत्वकिञ्चिज्ज्ञत्वादिवैशिष्ट्यं त्वम्पदप्रवृत्तिनिमित्तम्। तथा च भिन्नंप्रवृत्तिनिमित्तयोस्तत्त्वम्पदयोरेकस्मिंश्चैतन्ये तात्पर्यसम्बन्धः सामानाधिकरण्यमित्यर्थः।।५३।।

अर्थ—सर्व प्रथम सामान्याधिकरण्य सम्बन्ध इस प्रकार है—जैसे 'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्य में भूत या पूर्व काल वाले देवदत्त के वाचक 'सः' शब्द और वर्तमान काल वाले देवदत्त के वाचक 'अयं' शब्द का एक ही देवदत्तरूप व्यक्ति में तात्पर्य होना सामान्याधिकरण्य सम्बन्ध है। इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' इस वाक्य में परोक्षत्व इत्यादि से विशिष्ट चैतन्य के वाचक 'तत्' पद और अपरोक्षत्व इत्यादि से विशिष्ट चैतन्य के वाचक 'त्वम्' पद का धर्मभेद होने पर भी एक ही चैतन्य धर्मी में तात्पर्य होना सामानाधिकरण्य सम्बन्ध है।

विशेष—(१) परोक्षत्वादि—प्रत्यक्ष दिखाई न पड़ने एवं शास्त्रैक-गम्य होने से ईश्वर को परोक्ष कहा गया है। 'आदि' पद से सर्वज्ञत्व, सर्वनियामकत्व, सर्वव्यापकत्व आदि का ग्रहण किया गया है।

(२) अपरोक्षत्वादि—प्रत्येक जीव को 'स्व' का अनुभव स्वतः अर्थात् बिना किसी साधन के होता रहता है, इसलिए उसे 'अपरोक्ष' कहा गया है। यों, जो परोक्ष न हो, वह अपरोक्ष हुआ। इस प्रकार 'अपरोक्ष' प्रत्यक्ष ही हुआ। किन्तु 'प्रत्यक्ष' के स्थान में 'अपरोक्ष' कहे जाने का कारण यह है कि प्रत्यक्ष ज्ञान में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष अनिवार्य रूप से अपेक्षित होता है, जबकि जीव को 'स्व' का अनुभव स्वतः अर्थात् इन्द्रियों की सहायता के बिना

ही प्रतिक्षण होता रहता है। इस प्रकार उसे प्रत्यक्ष नहीं कह सकते हैं, और अनुभव होते रहने से 'परोक्ष' तो कह ही नहीं सकते। इसी लिए उसे अपरोक्ष कहा गया। 'आदि' पद से अल्पज्ञत्व, नियम्यत्व, सुखित्व-दुःखित्व आदि का ग्रहण किया गया है।

अब 'तत्' और 'त्वम्' पदों के वाच्यार्थों में विशेषण-विशेष्य-भाव सम्बन्ध प्रदर्शित करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं—

विशेषणविशेष्यभावसम्बन्धस्तु यथा तत्रैव वाक्ये सशब्दार्थतत्कालविशिष्टदेवदत्तस्यायंशब्दार्थैतत्कालविशिष्टदेवदत्तस्य चान्योन्यभेदव्यावर्तकतया विशेषणविशेष्यभावः। तथात्रापि वाक्ये तत्पदार्थपरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य त्वम्पदार्थापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य चान्योन्यभेदव्यावर्तकतया विशेषणविशेष्यभावः।।५४।।

विशेषणविशेष्यभावसम्बन्धस्वरूपमाह—विशेषणेति। व्यावर्तकं विशेषणं व्यावर्त्यं विशेष्यम्। तथा च सोऽयं देवदत्त इति वाक्य एवायंशब्दवाच्यो योऽसावेतत्कालैतद्देशसम्बन्धविशिष्टो देवदत्तपिण्डोऽयं स इति तच्छब्दवाच्यात्तत्कालतद्देशविशिष्टदेवदत्तपिण्डाद्भिन्नो नेति यदा प्रतीयते तदा तच्छब्दार्थस्यायंशब्दवाच्यार्थनिष्ठभेदव्यावर्तकतया विशेषणत्वमयंशब्दार्थस्य व्यावर्त्यत्वाद्विशेषयत्वम्। तथा च स इति तच्छब्दवाच्यस्तत्कालतद्देशविशिष्टो देवदत्तपिण्डः सोऽयमितीदंशब्दवाच्यादेतत्कालैतद्देशसम्बन्धविशिष्टादस्माद्देवदत्त पिण्डान्न भिद्यत इति यदा प्रतीयते तदायंशब्दवाच्यस्य तच्छब्दार्थनिष्ठभेदव्यावर्तकतया विशेषणत्वं, तच्छब्दार्थस्य व्यावर्त्यत्वाद्विशेष्यत्वम्। तथा चायमेव स स एवायमित्यन्योन्यभेदव्यावर्तकतया सोऽयंशब्दार्थयोः परस्परं विशेषणविशेष्यभाव इत्यर्थः। उक्तं विशेषणविशेष्यभावं दार्ष्टान्तिके योजयति तथात्रापीति। इहापि तत्त्वमसिवाक्येऽपि त्वम्पदवाच्यं यदपरोक्षत्वकिञ्चिज्ज्ञत्वादिविशिष्टं चैतन्यं तत्तत्पदवाच्यात्सर्वज्ञत्वादिविशिष्टचैतन्यान्न भिद्यत इति यदा प्रतीयते तदा तच्छब्दार्थस्य त्वम्पदार्थनिष्ठभेदव्यावर्तकतया विशेषणत्वं, त्वम्पदार्थस्य व्यावर्त्यत्वाद्विशेष्यत्वम्। तथा च तत्पदवाच्यं यत्सर्वज्ञत्वादिविशिष्टचैतन्यं तत्त्वम्पदवाच्यात्किञ्चिज्ज्ञत्वादिविशिष्टचैतन्यान्न भिद्यत इति यदा प्रतीयते तदा त्वम्पदार्थस्य तत्पदार्थनिष्ठभेदव्यावर्तकत्वेन विशेषणत्वं, तत्पदार्थस्य व्यावर्त्यत्वाद्विशेष्यत्वम्। तथा च 'त्वं तदसि' 'तत्त्वमसीति' तत्त्वम्पदार्थयोः परस्परं भेदव्यावर्तकत्वेन परस्परं विशेषणविशेष्यभाव इत्यर्थः।।५४।।

अर्थ—विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध, जैसे इसी 'सोऽयं देवदत्तः' वाक्य में 'सः' शब्द के वाच्यार्थ अतीतकाल वाले देवदत्त तथा 'अयम्' शब्द के वाच्यार्थ वर्तमान काल वाले देवदत्त में पारस्परिक भेद भूतकालिकत्व तथा वर्तमानकालिकत्व के व्यावर्तक अर्थात् निवारक होने के कारण, विशेषणविशेष्भाव सम्बन्ध है, ठीक उसी तरह 'तत्त्वमसि' इस

वाक्य में भी 'तत्' पद के वाच्यार्थ परोक्षत्वादि-विशिष्ट चैतन्य और 'त्वम्' पद के वाच्यार्थ अपरोक्षत्वादि-विशिष्ट चैतन्य में भी पारस्परिक भेद (परोक्षत्वादिविशिष्टत्व और अपरोक्षत्वादि-विशिष्टत्व) के व्यावर्तक होने के कारण विशेषणविशेष्य-भाव सम्बन्ध है।

विशेष—(१) विशेषणविशेष्यभाव—विशेषणविशेष्यभाव का नियामक वक्ता की इच्छा होती है। 'सोऽयं देवदत्तः' वाक्य में जब 'सः' पद का वाच्यार्थ उस काल-देश में रहने वाला, 'अयम्' पद के वाच्यार्थ इस देश-काल में रहने वाले देवदत्त से अभिन्न प्रतीत होता है, तब 'सः' पद का वाच्यार्थ 'अयम्' पद के वाच्यार्थ में स्थित भेद का व्यावर्तक होकर विशेषण बनता है। इसी तरह जब वक्ता की स्वेच्छा से 'सोऽयम् देवदत्तः' वाक्य 'अयं स देवदत्तः' रूप में गृहीत होता है, तब 'अयम्' पद का वाच्यार्थ 'सः' पद के वाच्यार्थ से अभिन्न प्रतीत होता है और 'अयम्' पद का वाच्यार्थ 'सः' पद के वाच्यार्थ में स्थित भेद का व्यावर्तक होकर उसका विशेषण बनता है। इस प्रकार दोनों ही पदों के वाच्यार्थ विवक्षा से परस्पर विशेषण-विशेष्य बनते हैं। 'तत्त्वमसि' वाक्य के 'तत्' और 'त्वम्' पदों के वाच्यार्थ भी इसी प्रकार एक-दूसरे के विशेषण-विशेष्य बनते हैं। 'तत्त्वमसि' अर्थात् वह तुम्हीं हो और 'त्वं तदसि' अर्थात् तुम वही हो, इस प्रकार से दोनों के पारस्परिक भेद का निवारण होता है। विशेषण का कार्य भेद की भ्रान्ति का निवारण करना ही है। विशेषणविशेष्यभाव के प्रभाव से ही दोनों पद प्रवृत्ति-निमित्त के अलग-अलग होने पर भी एक ही वस्तु का निर्देश या कथन करते हैं।

विशेषणविशेष्यभाव से 'तत्' और 'त्वम्' का तात्पर्यैक्य दिखला कर, अब लक्ष्यलक्षण भाव के द्वारा दोनों का तात्पर्यैक्य दिखलाते हुए ग्रन्थकार कहते हैं—

लक्ष्यलक्षणसम्बन्धस्तु—यथा तत्रैव वाक्ये सशब्दायंशब्दयोस्तदर्थयोर्वा विरुद्धतत्कालैतत्कालविशिष्टत्वपरित्यागेनाविरुद्धदेवदत्तेन सह लक्ष्यलक्षणभावः। तथात्रापि वाक्ये तत्त्वम्पदयोस्तदर्थयोर्वा विरुद्धपरोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टत्वपत्यिागेनाविरुद्धचैतन्येन सह लक्ष्यलक्षणभावः। इयमेव भागलक्षणेत्युच्यते।।५५।।

क्रमप्राप्तं लक्ष्यलक्षणभावसम्बन्धस्वरूपं निरूपयितुमाह—लक्ष्येति। असाधारणधर्मप्रतिपादकं वाक्यं लक्षणवाक्यं, तत्प्रतिपाद्यमवशिष्टं वस्तु लक्ष्यम्। तथा च सोऽयं देवदत्त इत्यस्मिन्नेव वाक्ये सोऽयंशब्दयोस्तदर्थयोर्वा विरुद्धतत्कालतद्देशविशिष्टैतत्कालैतद्देशविशिष्टत्वपरिहारेणाविरुद्धदेवदत्तत्वविशिष्टदेवदत्तपिण्डेन सह देवदत्तविशिष्टदेवदत्तवाचकशब्दस्य लक्ष्यलक्षणभावसम्बन्ध इत्यर्थः। उक्तमर्थं दार्ष्टान्तिके योजयति—तथात्रापीति। इहापि तत्त्वम्पदयोस्तदर्थयोर्वा विरुद्धपरोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टत्वपरित्यागेन तत्त्वम्पदाभ्यां लक्ष्याविरुद्धचैतन्येन सह तत्त्वम्पदयोर्लक्ष्यलक्षणभावः सम्बन्धः। अत्र तत्त्वम्पदयोस्तदर्थयोश्च

———

त्यक्तविरुद्धांशयोर्लक्षणत्वमखण्डचैतन्यस्य लक्ष्यत्वमितिभावः। ननु तत्त्वमस्यादिवाक्यानां लक्ष्यलक्षणभावसम्बन्धपुरस्कारेण चैतन्यबोधकत्वमुक्तमन्यत्र तु शास्त्रे तेषां वाक्यानां भागलक्षणयैव चैतन्यबोधकत्वं प्रतिपाद्यते। तत्त्वमस्यादिवाक्येषु लक्षणा भागलक्षणेत्यादिविरोधमाशङ्क्य संज्ञाभेदो न वस्तुभेद इत्याह—इयमेवेति। तत्त्वमस्यादिवाक्यानां विरुद्धांशपरित्यागेनाविरुद्धचैतन्यमात्रबोधकत्वमेव भागलक्षणेत्युच्यत इत्यर्थः।।५५।।

अर्थ—लक्ष्यलक्षण सम्बन्ध जैसे 'सोऽयं देवदत्तः' इसी वाक्य में 'सः' शब्द और 'अयम्' शब्द का अथवा इन दोनों के वाच्यार्थों का तत्कालदेश-विशिष्टत्व और एतत्कालदेश-विशिष्टत्व रूप विरुद्धांशों के परित्याग द्वारा अविरुद्ध (समान) देवदत्त के साथ लक्ष्यलक्षण-भाव है।उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' वाक्य में भी 'तत्' और 'त्वम् 'पदों का, अथवा इसके वाच्यार्थों का परोक्षत्वादि-विशिष्टत्व और अपरोक्षत्वादि-विशिष्टत्व रूप विरुद्धांशों के परित्याग द्वारा अविरुद्ध चैतन्य के साथ लक्ष्यलक्षण-भाव है। यही भागलक्षणा कही जाती है।

विशेष—(१) लक्षणा—मुख्यार्थ का बाध होने पर उससे युक्त अर्थान्तर का ग्रहण जिस शक्ति से होता है, उसे लक्षणा कहते हैं। जो अर्थान्तर गृहीत होता है, वह लक्ष्यार्थ कहा जाता है। जिस पद में लक्षणा होती है, उसे लाक्षणिक पद या शब्द कहते हैं। इसका विवेचन पहले किया जा चुका है।

यह लक्षणा तीन प्रकार की होती है—जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा, जहदजहल्लक्षणा। वाच्यार्थ का पूर्ण रूप से परित्याग हो जाने पर उससे सम्बद्ध दूसरे अर्थ का बोध कराने वाली शब्द की वृत्ति को जहल्लक्षणा कहते हैं। ओहाक् (त्यागे) धातु से शतृ प्रत्यय लगने पर 'जहत्' शब्द बनता है। जिसका अर्थ है त्याग करने वाला या छोड़ने वाला। इस प्रकार जहती चासौ लक्षणा चेति जहल्लक्षणा अर्थात् मुख्य अर्थ का पूर्ण रूप से परित्याग करने वाली लक्षणा। इसका प्रसिद्ध उदाहरण 'गङ्गायां घोषः' है। इसमें 'गङ्गा' शब्द अपने प्रवाह रूप मुख्य अर्थ का बाध हो जाने पर उसका परित्याग कर उससे सम्बद्ध 'गङ्गातट' रूप अर्थान्तर का बोध कराता है। घोष अर्थात् गाँव या बस्ती का आधार 'गङ्गा' की धारा या उसका प्रवाह तो हो नहीं सकता, इसीलिए उसका बाध या परित्याग हो जाता है। तदनन्तर गंगा से सम्बद्ध तट रूप अर्थ लिया जाता है जिससे घोष का आधार बनने में उत्पन्न असंगति दूर हो जाती है। तट के बस्ती या गाँव का आधार बनने में कोई असंगति नहीं है।

अजहल्लक्षणा वह लक्षणा है जिसमें वाच्यार्थ या मुख्यार्थ का बिना परित्याग किये उससे सम्बद्ध अर्थ का बोध या ग्रहण हो जाता है। इसको उपादान लक्षणा भी कहते हैं, क्योंकि वाच्यार्थ से अतिरिक्त अर्थ का उपादान अर्थात् ग्रहण इस लक्षणा के द्वारा किया जाता है। इसके प्रसिद्ध उदाहरण कुन्ताः प्रविशन्तिः, शोणो धावति इत्यादि हैं। कुन्त अर्थात्

—

भालों का तो 'प्रविशन्ति' क्रिया के साथ अन्वय बनता नहीं, क्योंकि प्रवेश-क्रिया तो कोई जीवित पर्दाथ ही कर सकता है। भाले तो जड़ पदार्थ हैं। अतः 'कुन्ताः' का 'कुन्तधारिणः' अर्थात् 'भाले वाले पुरुष' ऐसा अर्थ लक्षणा से ग्रहण किया गया। इसमें कुन्त का तो परित्याग हुआ नहीं, उससे सम्बद्ध पुरुष का उपादान अलग से हो गया। इसी प्रकार 'शोणो धावति' प्रयोग भी है। 'शोण' का अर्थ लाल होता है। इस अर्थ का 'धावति' क्रिया के साथ पूर्वोक्त कारण से ही अन्वय अनुपपन्न या असंगत है। इसलिए उसका प्रसंगानुसारी 'शोणः अश्वः' यह अर्थ ग्रहण किया गया। वाक्य का अर्थ हुआ—लाल रंग का घोड़ा दौड़ता है।

तीसरी लक्षणा 'जहदजहत्' इसलिए कही जाती है, क्योंकि इसमें मुख्य अर्थ या वाच्यार्थ का अंशतः तो त्याग होता है परन्तु अंशतः त्याग नहीं (अजहत्) होता। दूसरे शब्दों में, इस लक्षणा में वाच्यार्थ का पूर्णतः त्याग न होकर, एक ही अंशः या भाग का त्याग होता है। इसी से इसका दूसरा नाम 'भागत्याग लक्षणा' और संक्षिप्त नाम केवल 'भागलक्षणा' है, जैसा कि प्रस्तुत ग्रन्थ में 'तत्त्वमसि' वाक्य के अर्थ-बोध में अपेक्षित इस लक्षणा को इसी नाम से निर्दिष्ट करने से स्पष्ट है। पूर्ण अर्थ के एक भाग का ग्रहण करने से भी इसका 'भागलक्षणा' नाम माना जा सकता है। हालांकि ऐसा मानने पर 'भागत्याग' की तरह इसके 'भागग्रहण' या 'भागोपादान' नाम का प्रसंग उठेगा। उसका ऐसा नाम क्यों नहीं किया गया, यह प्रश्न अनुत्तरित रहता है।

'सामान्याधिकरण्य' की व्याख्या के उदाहरण में 'नीलमुत्पलम्' का उल्लेख पीछे किया गया है। अब एक प्रश्न उठता है कि जैसे 'नीलमुत्पलम्' वाक्य में सामानाधिकरण्य और विशेषणविशेष्यभाव होने पर लक्षणा की सहायता बिना लिए ही केवल अभिधा के द्वारा वाक्यार्थ का बोध हो जाता है, उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' वाक्य के अर्थ का बोध भी क्यों नहीं होता? उसके लिए लक्षणा का आश्रय लेना क्यों जरूरी हो जाता है। इसका समाधान ग्रन्थकार इस प्रकार करते हैं—

अस्मिन्वाक्ये नीलमुत्पलमिति वाक्यवद्वाक्यार्थो न सङ्गच्छते। तत्र तु नीलपदार्थनीलगुणस्योत्पलपदार्थोत्पलद्रव्यस्य च शौक्ल्यपटादिभेदव्यावर्तकतयाऽन्योन्यविशेषणविशेष्यभावसंसर्गस्यान्यतरविशिष्टस्यान्यतरस्य तदैक्यस्य वा वाक्यार्थत्वाङ्गीकारे प्रमाणान्तरविरोधाभावात्तद्वाक्यार्थः सङ्गच्छते, अत्र तु तदर्थपरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य त्वमर्थापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य चान्योन्यभेदव्यावर्तकतया विशेषणविशेष्यभावसंसर्गस्यान्यतरविशिष्टस्यान्यतरस्य तदैक्यस्य च वाक्यार्थत्वाङ्गीकारे प्रत्यक्षादिप्रमाणविरोधाद्वाक्यार्थो न सङ्गच्छते। तदुक्तम्—

संसर्गो वा विशिष्टो वा वाक्यार्थो नात्र सम्मतः।
अखण्डैकरसत्वेन वाक्यार्थो विदुषां मतः।।इति।।५६।।

ननु यथा नीलोत्पलमिति वाक्ये नीलत्वविशिष्टनीलगुणस्योत्पलत्वविशिष्टोत्पलद्रव्यस्य च स्वव्यतिरिक्तशुक्लादिगुणान्तरपटादिद्रव्यान्तरव्यावर्तकत्वेन विशेषणविशेष्यभावनिरूपिततद्भिन्नसंसर्गस्य नीलगुणवैशिष्ट्यस्य वाक्यार्थत्वं तथेहापि तत्त्वमस्यादिवाक्ये तत्पदार्थस्य परोक्षत्वादिविशिष्टेश्वरचैतन्यस्य त्वम्पदार्थस्यापरोक्षत्वादिविशिष्टजीवचैतन्यस्य चान्योन्यभेदव्यावर्तकतया विशेषणविशेष्यभूतसर्वज्ञत्वकिञ्चिज्ज्ञत्वोभयनिरूपितसंसर्गो वा सर्वज्ञत्वादिविशिष्टस्य किञ्चिज्ज्ञत्वादिविशिष्टेन सहैक्यं वाक्यार्थो भवत्वित्याशङ्क्य दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोवैषम्यान्नैवमित्याह—अस्मिन्नित्यादिना। अस्मिंस्तत्त्वमसीतिवाक्ये नीलोत्पलमित्यादिवाक्यवत्संसर्गो वा विशिष्टो वा वाक्यार्थो न सङ्गच्छत इत्यर्थः। नीलोत्पलमितिवाक्यस्य संसर्गवैशिष्ट्यार्थ-प्रतिपादकत्व-कल्पने विरोधाभावं दर्शयति—तत्र त्विति। नीलोत्पलपदार्थयोर्गुणगुणिनोर्विशेषविशेष्यभावसंसर्गस्य नीलगुणविशिष्टोत्पलयोरैक्यस्य वाक्यार्थत्वाङ्गीकारे प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तरविरोधाभावात्तत्र तथा सङ्गच्छतं इति भावः। तत्त्वमसीतिवाक्ये तु तत्त्वम्पदार्थयोः सर्वज्ञत्वकिञ्चिज्ज्ञत्वादिविशिष्टयोः सर्वज्ञत्वादि विशिष्टेश्वरचैतन्यस्य किञ्चिज्ज्ञत्वादिविशिष्टजीवचैतन्यस्य वा तदुभयविशिष्टचैतन्यस्य वा वाक्यार्थत्वाङ्गीकारे प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तरविरोधात्पूर्वस्माद्वैषम्यं दर्शयति—अत्र त्विति।।५६।।

अर्थ—इस 'तत्त्वमसि' वाक्य में 'नीलमुत्पलम्' वाक्य के समान वाच्यार्थ संगत नहीं होता। 'नीलमुत्पलम्' वाक्य में वाच्यार्थ इसलिए संगत होता है, क्योंकि 'नील' पद का अर्थ नीलगुण शुक्ल आदि अन्य गुणों का व्यावर्तक है, और 'उत्पल' पद का अर्थ उत्पलद्रव्य पट आदि अन्य द्रव्यों का व्यावर्तक है। इसलिए उसमें परस्पर विशेषणविशेष्य-भाव रूप संसर्ग को, अथवा एक से विशिष्ट दूसरे पदार्थ को, अथवा उन दोनों की एकता को वाक्यार्थ रूप से अङ्गीकार करने में किसी दूसरे प्रमाण से विरोध नहीं है। इसके विपरीत 'तत्त्वमसि' वाक्य में 'तत्' का अर्थ परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य और 'त्वम्' का अर्थ प्रत्यक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य पारस्परिक भेद का व्यावर्तक है, इसलिए यहाँ पर 'विशेषणविशेष्य-भाव रूप संसर्ग को, अथवा एक से विशिष्ट दूसरे पदार्थ को, अथवा दोनों की एकता को वाक्यार्थ मानने में प्रत्यक्षादि प्रमाणों से स्पष्ट विरोध है। इस कारण से वाक्य का वाच्य अर्थ संङ्गत नही होता। विद्यारण्य स्वामी ने (पञ्चदशी ७।७५ में) यही बात कही है—

"इस 'तत्त्वमसि' वाक्य में भेदसंसर्ग रूप या अभेदसंसर्ग (विशिष्ट) रूप वाच्यार्थ वाक्यार्थ के रूप में विद्वानों को अभिमत नहीं है, प्रत्युत स्वगत-सजातीय-विजातीय—समस्त भेदों से शून्य अखण्ड वस्तु मात्र के रूप में ही वाक्यार्थ अभिमत है (इसलिए इसमें लक्षणा का आश्रय लेना अनिवार्य है)।"

विशेष–(१) वाक्यार्थ: सङ्गच्छते–नील तथा उत्पल में परस्पर गुण-गुणि भाव होने से दोनों पदों के वाच्यार्थों में परस्पर विशेषणविशेष्यभाव, अथवा एक से विशिष्ट दूसरा पदार्थ अर्थात् नीलत्व से विशिष्ट उत्पल या उत्पलत्व से विशिष्ट नील, अथवा दोनों की एकता अर्थात् नील से अभिन्न उत्पल या उत्पल से अभिन्न नील–इन तीनों में से कोई भी अर्थ 'नीलमुत्पलम्'–इस वाक्य का वाच्यार्थ हो सकता है। ये तीनों ही अर्थ अभिधा से प्राप्त हैं। इनका किसी प्रमाण से विरोध नहीं है, अतः इसके लिए लक्षणा की क़तई अपेक्षा नहीं है। इनमें नील से अभिन्न उत्पल या उत्पल से अभिन्न नील रूप जो तीसरा अर्थ है, वह दोनों के ऐक्य या अभेद का बोधक होने पर भी अखण्ड रूप नहीं है, क्योंकि एक गुण है तो दूसरा द्रव्य। अखण्डार्थ में तो द्वैत की कल्पना ही नहीं हो सकती। जैसे, 'सोऽयं देवदत्त': वाक्य में 'सः' तथा 'अयं' दोनों पदों से एक ही अखण्ड देवदत्त व्यक्ति विवक्षित है, उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' वाक्य में 'तत्' एवं 'त्वम्' दोनों ही पदों से एकमात्र अखण्ड चैतन्य विवक्षित है। इस अखण्ड चैतन्य रूप अर्थ की प्राप्ति अभिधा के द्वारा कथमपि सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से उसका विरोध होगा।

(२) संसर्गः–किसी भी वाक्य में प्रयुक्त शब्दों से ग्राह्य पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध को संसर्ग कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है–एक भेदरूप और दूसरा अभेदरूप। भेदरूप संसर्ग वहाँ होता है जहाँ पदों में सामानाधिकरण्य नहीं होता। जैसे 'माषेष्वश्वं बधान' इस वाक्य में प्रयुक्त 'माषेषु' पद में सप्तमी तथा 'अश्वम्' पद में द्वितीया होने से सामान्याधिकरण्य नहीं है। अतः इसका भेद रूप संसर्ग अर्थ है। अभेद रूप संसर्ग वहाँ होता है जहाँ पदों में सामानाधिकरण्य होता है। जैसे–'नीलमुत्पलम्' इस वाक्य में प्रयुक्त 'नीलम्' तथा 'उत्पलम्' दोनों में प्रथमा विभक्ति होने से सामनाधिकरण्य है। अतः दोनों के अर्थों में अभेद रूप संसर्ग है। इसी का पञ्चदशी से उद्धृत श्लोक में 'विशिष्ट' शब्द से ग्रहण किया गया है, जब कि भेद रूप संसर्ग का 'संसर्ग' शब्द से।

'तत्त्वमसि' महावाक्य के अर्थ के बोध के लिए लक्षणा का आश्रय अनिवार्य है। यह बात कही जा चुका है। तीन प्रकार की लक्षणा भी बताई जा चुकी है। अब 'तत्त्वमसि' वाक्य के अर्थ-बोध के लिए भागलक्षणा या जहदजहत् लक्षणा ही अपेक्षित है–यह बताने के लिए पहले जहल्लक्षणा और अजहल्लक्षणा की असङ्गति दिखाना अनिवार्य है। पहले जहल्लक्षणा की असंगति ग्रन्थकार दिखा रहे हैं–

अत्र 'गङ्गायां घोषः प्रतिवसति' इति वाक्यवज्जहल्लक्षणापि न सङ्गच्छते। तत्र तु गङ्गाघोषयोराधाराधेयभावलक्षणस्य वाक्यार्थस्याशेषतो विरुद्धत्वाद्वाक्यार्थमशेषतः परित्यज्य तत्सम्बन्धितीरलक्षणाया युक्तत्वाज्जहल्लक्षणा सङ्गच्छते। अत्र तु परोक्षापरोक्ष-चैतन्यैकत्व-लक्षणस्य वाक्यार्थस्य भागमात्रे विरोधाद्भागान्तरमपि परित्यज्यान्य-

लक्षणाया अयुक्तत्वाज्जहल्लक्षणा न सङ्गच्छते।

न च गङ्गापदं स्वार्थपरित्यागेन तीरपदार्थं यथा लक्षयति तथा तत्पदं त्वम्पदं वा स्वार्थपरित्यागेन त्वम्पदार्थं तत्पदार्थं वा लक्षयत्वतः कुतो जहल्लक्षणा न संगच्छत इति वाच्यम्। तत्र तीरपदाश्रवणेन तदर्थाप्रतीतौ लक्षणया तत्प्रतीत्यपेक्षायामपि तत्त्वम्पदयोः श्रूयमाणत्वेन तदर्थप्रतीतौ लक्षणया पुनरन्यतरपदेनान्यतरपदार्थप्रतीत्यपेक्षा-भावात्।।५७।।

ननु तत्त्वमस्यादिवाक्यमखण्डार्थं कथं बोधयति जहल्लक्षणया वा किमजहल्लक्षणया-होस्विज्जहदजहल्लक्षणयेति त्रिधा विकल्पः। आद्ये दूषणमाह अत्रेति। अत्र तत्त्वमसीतिवाक्ये जहल्लक्षणा न सङ्गच्छत इत्यन्वयः। तदेव दर्शयितुं जहल्लक्षणाया उदाहरणं तावदाह गङ्गायामिति। "मानान्तरविरोधे तु मुख्यार्थस्यापरिग्रहे। मुख्यार्थेनाविनाभूते प्रवृत्तिर्लक्षणेष्यत" इति वचनाद् गङ्गायां घोषवसनासम्भवाद् गङ्गायां घोष इति वाक्यस्य मुख्यार्थविरोधे सति मुख्यार्थं परित्यज्य लक्षणया वृत्त्या तत्सम्बन्धिनि तीरे घोषावस्थानप्रतिपादनात्तत्र जहल्लक्षणाङ्गीकारो युज्यत इत्याह—तत्र त्विति। आधारा-धेयभावलक्षणं सर्वथा परित्यज्येत्यर्थः। तत्त्वमसीतिवाक्ये प्राक्प्रतिज्ञातं जहल्लक्षणाऽ-सम्भवमाविष्करोति—अत्र त्विति। तुशब्दः पूर्वस्माद्वैषम्यं द्योतयति। तत्त्वमसीतिवाक्ये परोक्षापरोक्षचैतन्यैकत्वलक्षणस्य वाक्यार्थस्य विरोधाभावात्परोक्षत्वापरोक्षत्वप्रतिपादकत्वांशे विरोधाच्चैतन्यैकत्वे विरोधाभावाद् गङ्गाघोषादिवाक्यवत्सर्वात्मना मुख्यार्थपरित्यागासम्भवा-ज्जहल्लक्षणा न सम्भवतीत्यर्थः। तत्र हेतुमाह भागान्तरमपीति। विरुद्धयोः परोक्षत्वापरोक्षत्वयोरेकत्वासम्भवेन तत्परित्यागेऽपि चैतन्यभागस्यैकत्वे विरोधाभावात्त्यागो न युज्यत इत्यर्थः। ननु यथा गङ्गायां घोषः प्रतिवसतीति वाक्ये गङ्गापदं प्रवाहलक्षणं स्वार्थं परित्यज्य स्वसम्बन्धितीरपदार्थं लक्षयति तथा तत्त्वमसीतिवाक्ये तत्पदं स्वार्थं परोक्षत्वादिविशिष्टं परित्यज्य जीवचैतन्यं लक्षयत्वेवं त्वम्पदमपि स्वार्थं किञ्चिज्ज्ञत्वादिविशिष्टं परित्यज्येश्वरचैतन्यं वा लक्षयतु तस्माज्जहल्लक्षणैव भवत्वित्याशङ्क्य निराकरोति न चेति। निराकरणप्रकारमेवाह तत्रेत्यादिना। श्रुतवाक्यस्य मुख्यार्थविरोधे मुख्यार्थसम्बन्धिन्यश्रुतपदार्थे लक्षणेति सर्वजनसिद्धम्। तथा च गङ्गायां घोष इत्यत्र श्रुतवाक्यार्थस्य गङ्गाघोषयोराधाराधेयभावसम्बन्धस्य विरोधे सति श्रूयमाणं गङ्गापदं स्वार्थपरित्यागेन तीरपदार्थं लक्षयतीति युक्तं, गङ्गापदार्थस्य तीरपदार्थप्रतीतिसापेक्षत्वात्। इह तु श्रूयमाणतत्त्वम्पदयोर्मुख्यतयैव तदर्थसर्वज्ञत्वकिञ्चिज्ज्ञत्वादिविशिष्टप्रतीतौ सत्यामपि लक्षणया तत्पदेन त्वम्पदार्थप्रतीत्यपेक्षाभावात्त्वम्पदेन तत्पदार्थप्रतीत्यपेक्षाभावाच्च मुख्यार्थे सम्भवति लक्षणाया अन्याय्यत्वाज्जहल्लक्षणापि न सम्भवति।।५७।।

अर्थ—इस "तत्त्वमसि" वाक्य में 'गङ्गायां घोषः प्रतिवसति' वाक्य के समान जहल्लक्षणा भी सङ्गत नहीं हो सकती है, क्योंकि वहाँ पर गंगा की धारा और अहीरों के गाँव के आधाराधेयभाव रूप वाक्यार्थ का प्रत्यक्षादि प्रमाणों से पूर्णतया विरोध होने के कारण उसे सम्पूर्ण रूप से छोड़कर उससे सम्बद्ध तीर में लक्षणा करना उचित होने से, जहल्लक्षणा सङ्गत है। परन्तु यहाँ पर परोक्षत्व इत्यादि एवं अपरोक्षत्व इत्यादि से विशिष्ट चैतन्यों के ऐक्य या अभेद रूप वाक्यार्थ के अंशमात्र में विरोध होने से, अविरुद्ध अंश को भी छोड़कर सर्वथा भिन्न अर्थ में लक्षणा करना अनुचित होने के कारण जहल्लक्षणा सङ्गत नहीं है।

और ऐसा भी नहीं कहना चाहिए कि जिस प्रकार गंगापद अपने प्रवाह या धारा रूप वाच्यार्थ को छोड़कर तट रूप अर्थ को लक्षित करता है, उसी प्रकार 'तत्' पद अपने वाच्यार्थ को छोड़कर त्वम्-पदार्थ को अथवा 'त्वम्' पद अपने वाच्यार्थ को छोड़कर तत्-पदार्थ को लक्षित कराये तो जहल्लक्षणा क्यों नहीं सङ्गत हो सकती है, क्योंकि जहाँ 'गङ्गायां घोषः' में 'तीर' पद का श्रवण (अर्थात् प्रयोग) न होने से उसके अर्थ की प्रतीति न होने पर, लक्षणा द्वारा उसकी प्रतीति की अपेक्षा है वहाँ 'तत्त्वमसि' में 'तत्' तथा 'त्वम्' दोनों पदों का श्रवण (प्रयोग) होने से दोनों के अर्थ की प्रतीत होने के कारण, लक्षणा द्वारा फिर से किसी एक पद द्वारा दूसरे पद के अर्थ की प्रतीति कराने की अपेक्षा नहीं है (अतः लक्षणा सङ्गत नहीं हो सकती)।

विशेष—(१) **जहल्लक्षणा सङ्गच्छते**—'गङ्गायां घोषः' वाक्य का 'गङ्गा' की धारा में अहीरों की बस्ती है', यह अर्थ प्रत्यक्ष प्रमाण से वाधित है, क्योंकि जलधारा गाँव या बस्ती का आधार नहीं हो सकती। इस प्रकार वाच्यार्थ के असङ्गत हो जाने पर 'गंङ्गा' पद की गङ्गा के तट में लक्षणा की जाती है। नियम यह है कि सुने गये वाक्य के वाच्यार्थ के असंगत होने पर, उससे सम्बद्ध अश्रुत अर्थ में ही लक्षणा होती है। प्रस्तुत वाक्य में लक्षणा से उपस्थित होने वाला गंङ्गा-तट रूप अर्थ वाक्य में प्रयुक्त किसी भी पद से उपस्थापित नहीं है। अतः उसमें जहल्लक्षणा संगत है।

(२) **जहल्लक्षणा न सङ्गच्छते**—किन्तु 'तत्त्वमसि' वाक्य में 'तत्' पद का अर्थ परोक्षत्वादि-विशिष्ट चैतन्य और 'त्वम्' पद का अर्थ अपरोक्षत्वादि-विशिष्ट चैतन्य है। इन दोनों पदों से उपस्थित अर्थों में पूर्णतः विरोध नहीं है। अतः यहाँ जहत्-लक्षणा नहीं हो सकती। अर्थ का 'चैतन्य' अंश तो दोनों में समान रूप से उपस्थित है। अतः उसका त्याग अपेक्षित नहीं है। हाँ, परोक्षत्वादि और अपरोक्षत्वादि अंशों में विरोध अवश्य है जिससे वाक्यार्थ (वाच्यार्थ) असङ्गत हो जाता है। अतः इस अंश का त्याग अपेक्षित है जिसके लिए जहदजहत् या भागत्याग लक्षणा का आश्रय लेना अनिवार्य है। इसी लक्षणा से विरुद्धांश

के त्यागपूर्वक अविरुद्धांश चैतन्य-मात्र का ग्रहण करने से अभिप्रेत ऐक्य रूप अर्थ की सिद्धि हो जाती है।

'तत्त्वमसि' महावाक्य के अर्थ-बोध में ग्रन्थकार जहल्लक्षणा की असङ्गति दिखाकर अब अजहल्लक्षणा की भी असङ्गति प्रदर्शित करते हैं–

अत्र 'शोणो धावति' इति वाक्यवदजहल्लक्षणापि न सम्भवति। तत्र शोणगुणगमनलक्षणस्य वाक्यार्थस्य विरुद्धत्वात्तदपरित्यागेन तदाश्रयाश्वादिलक्षणया तद्विरोधपरिहारसम्भवादजहल्लक्षणा सम्भवति। अत्र तु परोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यैकत्वलक्षणस्य वाक्यार्थस्य विरुद्धत्वात्तदपरित्यागेन तत्सम्बन्धिनो यस्य कस्यचिदर्थस्य लक्षितत्वेऽपि तद्विरोधपरिहारासम्भवादजहल्लक्षणा न सम्भवत्येव।।५८।।

अत्र शोण इति। अत्र तत्त्वमसीतिवाक्येऽजहल्लक्षणापि न सम्भवतीत्यन्वयः। कुत इत्यत आह तत्र शोणगुणेति। तत्र शोणो धावतीत्यादिवाक्ये शोणगुणस्य गमनासम्भवेन वाक्यस्य मुख्यार्थविरोधे सति श्रूयमाणशोणपदं स्वार्थापरित्यागेन स्वाश्रयमश्वादिकं लक्षयतीति युक्तम्। अत्र तु तत्त्वमस्यादिवाक्ये तत्त्वम्पदार्थस्य परोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्ट-चैतन्यैकत्वलक्षणस्य मुख्यवाक्यार्थस्य विरुद्धत्वात्परोक्षत्वापरोक्षत्वापरित्यागेन तद्विशिष्टचैतन्य-लक्षणार्थस्य लक्षितत्वेऽपि तद्विरोधपरिहाराभावादजहल्लक्षणा न सम्भवतीत्यर्थः।।५८।।

अर्थ–इस 'तत्त्वमसि' वाक्य में 'शोणो धावति' (लाल रंग दौड़ रहा है) इस-वाक्य के समान अजहल्लक्षणा भी सम्भव नहीं है, क्योंकि वहाँ 'शोण' (लाल गुण) का 'धावति' के गमन रूप अर्थ के साथ विरोध है। (लाल गुण का तो गमन होता नहीं, गमन तो लाल रंग के पशु आदि द्रव्य का ही हो सकता है)। इस कारण से उसके आश्रयभूत अश्व आदि में लक्षणा करने से उस (लाल रंग) के त्याग के बिना ही मुख्यार्थ-गत विरोध का परिहार सम्भव होने से अजहल्लक्षणा संगत होती है। परन्तु इस 'तत्त्वमसि' वाक्य में तो परोक्षत्वादिविशिष्ट एवं अपरोक्षत्वादि-विशिष्ट चैतन्यों के ऐक्य रूप मुख्यार्थ के परस्पर अंशतः विरुद्ध होने के कारण विरुद्ध अंश के परित्याग के बिना उससे सम्बन्द्ध किसी अर्थ का लक्षणा द्वारा ग्रहण करने पर भी उस विरोध का परिहार असम्भव होने से अजहल्लक्षणा संङ्गत नहीं हो सकती।

विशेष–(१) तत्र–अजहल्लक्षणा सम्भवति–'शोणो धावति' में शोण का अर्थ है लाल रंग, जो गुण है। उसकी 'धावति' क्रिया के साथ सङ्गति इसलिए नहीं बैठती, क्योंकि क्रिया का आश्रय गुण नहीं होता, द्रव्य होता है। इस प्रकार इस वाक्य का मुख्यार्थ बाधित होता है। यदि शोण गुण का परित्याग न करके उसके आश्रय-भूत अश्वादि द्रव्य को लक्षणा-द्वारा ग्रहण कर लिया जाय तो मुख्यार्थगत विरोध का परिहार हो जाता है। 'लाल घोड़ा

दौड़ता है'—इस अर्थ में किसी प्रकार का विरोध नहीं है। इसमें 'शोण' के वाच्य अर्थ का परित्याग न होने के कारण अजहल्लक्षणा सङ्गत होती है।

(२) अत्र तु...न सम्भवति—परन्तु 'तत्त्वमसि' वाक्य में अजहल्लक्षणा संगत नहीं हो सकती, क्योंकि 'तत्' पद के वाच्यार्थ परोक्षत्वादि-विशिष्ट चैतन्य और 'त्वम्' पद के वाच्यार्थ अपरोक्षत्वादि-विशिष्ट चैतन्य की जो एकता अभिप्रेत या विवक्षित है, वह तब तक सिद्ध नहीं हो सकती, जब तक परोक्षत्व और अपरोक्षत्व रूप विरुद्ध अंश का परित्याग न कर दिया जाय। विरुद्ध अंश का परित्याग किये बिना, सम्बद्ध किसी अन्य अर्थ का अजहल्लक्षणा द्वारा ग्रहण कर लेने पर भी विरोध तो बना ही रहेगा। फिर लक्षणा का आश्रय लेना व्यर्थ ही होगा। इस प्रकार 'तत्त्वमसि' के अभिप्रेत चैतन्यैकत्व रूप अर्थ की सिद्धि में अजहल्लक्षणा भी विफल अतश्च असङ्गत है। केवल भागलक्षणा या जहदजहत् लक्षणा से ही इसकी सिद्धि हो सकती है।

भागलक्षणा को अस्वीकार करने की एक और सम्भावना दिखलाते हुए उसका खण्डन ग्रन्थकार इस प्रकार कर रहे हैं—

न च तत्पदं त्वम्पदं वा स्वार्थविरुद्धांशपरित्यागेनांशान्तरसहितं त्वंपदार्थं तत्पदार्थं वा लक्षयत्वतः कथं प्रकारान्तरेण भागलक्षणाङ्गी-करणमिति वाच्यम्। एकेन पदेन स्वार्थांशपदार्थान्तरोभयलक्षणाया असम्भवात्पदान्तरेण तदर्थप्रतीतौ लक्षणया पुनस्तत्प्रतीत्यपेक्षा-भावाच्च।।५६।।

ननु तत्पदं स्वार्थं विरुद्धपरोक्षत्वादिधर्मं परित्यज्याविरुद्धचैतन्यांशापरित्यागेन त्वम्पदार्थं किञ्चिज्ज्ञत्वादिविशिष्टं जीवचैतन्यं लक्षयतु त्वम्पदं वा स्वार्थं विरुद्धापरोक्षत्वादिधर्मं परित्यज्याविरुद्धचैतन्यांशापरित्यागेन तत्पदार्थं सर्वज्ञत्वा-दिविशिष्टमीश्वरचैतन्यं लक्षयतु किं भागलक्षणाङ्गीकारेणेत्याशङ्क्य निराकरोति न च तत्पदमिति। एकेन तत्पदेन त्वम्पदेन वा स्वार्थांशापरित्यागेन स्वार्थांशपदार्थान्तरोभयलक्षणाया असम्भवादित्यर्थः। अजहल्लक्षणासम्भवे हेत्वन्तरमाह पदान्तरेणेति। तत्पदेन त्वम्पदेन वा तत्तदर्थप्रतीतौ सत्यां लक्षणया पुनरन्यतरस्यान्यतरप्रतीत्यपेक्षाभावादित्यर्थः।।५६।।

अर्थ—और ऐसा भी नहीं कहना चाहिए कि 'तत्' पद अपने वाच्य अर्थ के विरुद्धांश (अर्थात् 'त्वम्' पद के वाच्य अर्थ से विरुद्ध अंश) का परित्याग करके बचे हुए अविरुद्ध अंश के सहित 'त्वम्' पद के वाच्यार्थ को लक्षित कराये, अथवा 'त्वम्' पद अपने वाच्यार्थ के विरुद्ध अंश (अर्थात् 'तत् पद' के वाच्यार्थ से विरुद्ध अंश) का परित्याग करके अवशिष्ट अविरुद्ध अंश के सहित 'तत्' पद के वाच्यार्थ को लक्षित कराये, फिर प्रकारान्तर से

भागलक्षणा क्यों स्वीकार की जाय, क्योंकि एक ही पद से अपने (वाच्य) अर्थ के एक अंश और दूसरे पद के वाच्यार्थ, दोनों में लक्षणा असम्भव होने से, तथा दूसरे पद के द्वारा उसके वाच्यार्थ की प्रतीति (अभिधा से ही) होने पर लक्षणा द्वारा फिर से उसकी प्रतीति कराने की अपेक्षा न होने से (पूर्वोक्त कथन समीचीन नहीं है)।

विशेष—'तत्त्वमसि' वाक्य में अजहल्लक्षणा की असङ्गति या असम्भाव्यमानता के दो हेतु ग्रन्थकार ने दिये हैं, जो इस प्रकार हैं—

(१) एक ही पद अपने वाच्य अर्थ के एक अर्थात् अविरुद्ध चैतन्य अंश को भी लक्षित कराये और दूसरे पद के वाच्य अर्थ को भी लक्षित कराये—यह असम्भव है। विद्वन्मनोरञ्जनी में रामतीर्थ ने इस तथ्य को इस प्रकार कहा है—'सकृच्छ्रुतस्यैकस्य पदस्य युगपदुभयलक्षकत्वासम्भवात्'। अर्थात् एक बार श्रुत अथवा प्रयुक्त पद एक साथ दो-दो अर्थों को लक्षित नहीं करा सकता।

(२) असंगति का दूसरा हेतु ग्रन्थकार ने यह दिया है कि 'तत्' पद या 'त्वम्' पद उभय-सामान्य चैतन्य अंश को भले ही लक्षित कराये परन्तु दूसरे पद के वाच्यार्थ को लक्षित कराने की कोई अपेक्षा नहीं होती है। दूसरे पद का श्रवण होने से उसके वाच्यार्थ का बोध तो अभिधा से ही हो रहा है, फिर लक्षणा के द्वारा उसकी प्रतीति कराने की कोई अपेक्षा नहीं रह जाती है।

महावाक्य का अखण्डार्थ-बोध न तो जहल्लक्षणा से, और न ही अजहल्लक्षणा से सम्भव है, इसका प्रतिपादन किया जा चुका है। अब बची जहदजहत् या भागत्याग या भाग-लक्षणा। इसी से 'तत्त्वमसि' महावाक्य का अखण्डार्थ-बोध होता है, इसका सोदाहरण प्रतिपादन आगे किया जा रहा है—

तस्माद्यथा 'सोऽयं देवदत्त' इति वाक्यं तदर्थो वा तत्कालैतत्कालविशिष्टदेवदत्तलक्षणस्य वाक्यार्थस्यांशे विरोधाद्विरुद्धतत्कालैतत्कालविशिष्टत्वांशं परित्यज्याविरुद्धं देवदत्तांशमात्रं लक्षयति, तथा 'तत्त्वमसि' इति वाक्यं तदर्थो वा परोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यैकत्वलक्षणस्य वाक्यार्थस्यांशे विरोधाद्विरुद्धपरोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टत्वांशं परित्यज्याविरुद्धमखण्डचैतन्यमात्रं लक्षयतीति।।६०।।

अतः परिशेषात्तृतीयपक्ष एवाङ्गीकर्त्तव्य इत्युपसंहरति—तस्मादिति। यस्मात्तत्त्वमस्यादिवाक्ये जहल्लक्षणाजहल्लक्षणयोरसम्भवस्तस्माज्जहदजहल्लक्षणया विरुद्धांशं परित्यज्याविरुद्धाखण्डचैतन्यमात्रं लक्षयतीति योजना। तत्र दृष्टान्तमाह यथेति। यथा सोऽयं देवदत्त इति वाक्ये प्रागुक्तजहल्लक्षणांजहल्लक्षणयोरसम्भवेन तदर्थस्य तत्कालतद्देशविशिष्ट-

स्यैतत्कालैतद्देशविशिष्टस्य देवदत्तलक्षणवाक्यार्थस्यैकस्मिन्नंशे तत्कालैतत्कालवैशिष्ट्यभागे विरोधदर्शनात्तत्परित्यागेनाविरुद्धदेवदत्तपिण्डमात्रं लक्षयतीत्यर्थः। "मानान्तरविरोध" इत्युक्तन्यायेनेत्यर्थः। उक्तमर्थं दार्ष्टान्तिके योजयति—तथेति। तथा तत्त्वमस्यादिवाक्यस्यापि परोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यैकत्वलक्षणमुख्यार्थप्रतिपादकत्वासम्भवाज्जहदजहल्लक्षणया विरुद्धपरोक्षत्वापरोक्षत्वादिवैशिष्ट्यांश-परित्यागेनाविरुद्धाखण्डचैतन्यमात्रप्रतिपादकत्वं तस्येत्यर्थः।।६०।।

अर्थ—इसलिए जिस प्रकार 'सोऽयं देवदत्तः' यह वाक्य अथवा इसका वाच्यार्थ, 'भूतकालिक देवदत्त ही वर्तमानकालिक देवदत्त है' इस वाच्यार्थ के एक अंश में विरोध होने से, भूतकालिकत्व और वर्तमानकालिकत्व रूप विरुद्धांश को छोड़कर अविरुद्ध देवदत्त-मात्र को लक्षित कराता है, उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' यह वाक्य अथवा इसका वाच्यार्थ, परोक्षत्वादि-विशिष्ट चैतन्य और अपरोक्षत्वादि-विशिष्ट चैतन्य के ऐक्य रूप वाक्यार्थ के एक अंश में विरोध होने से, परोक्षत्वादि-विशिष्टत्व और अपरोक्षत्वादि-विशिष्टत्व रूप विरुद्धांश को छोड़कर अविरुद्ध अखण्डचैतन्य-मात्र को लक्षित कराता है।

विशेष—(१) वाक्यं तदर्थो वा....लक्षयति—'सोऽयं देवदत्तः' यह वाक्य या उसका अर्थ—'भूतकालिक देवदत्त ही वर्तमानकालिक देवदत्त है'—देवदत्त-मात्र को लक्षित करता है। अथवा 'तत्त्वमसि' यह वाक्य या उसका अर्थ—'परोक्षत्वादि-विशिष्ट चैतन्य ही अपरोक्षत्वादि-विशिष्ट चैतन्य है'—अखण्ड चैतन्य-मात्र को लक्षित करता है, ऐसा कथन ग्रन्थकार ने क्यों किया? लक्षणा का आश्रय वाक्य (शब्द-समूह) होता है, या उसका अर्थ? संस्कृत-काव्यशास्त्रकारों के दोनों ही प्रकार के मत मिलते हैं। सुप्रसिद्ध आचार्य मम्मट अभिधा एवं व्यञ्जना के साथ लक्षणा को भी शब्द की वृत्ति मानते हुए कहते हैं कि 'अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणाऽरोपिता क्रिया' (काव्यप्रकाश २।६) अर्थात् 'लक्षणा शब्द में आरोपित होने वाली क्रिया (व्यापार) है' क्योंकि इसका विषय मुख्यार्थ से व्यवहित लक्ष्यार्थ है। आचार्य वामन ने अपनी टीका में लक्षणा के शब्दनिष्ठ या शब्दाश्रित होने के रहस्य को स्पष्ट करते हुए इस प्रकार लिखा है—

"सा हि आरोपिता मुख्यार्थव्यवहितलक्ष्यार्थविषयकत्वात् शब्दे कल्पिता। साक्षात्सम्बन्धेन मुख्यार्थनिष्ठा, परम्परासम्बन्धेन तु शब्दनिष्ठेत्यर्थः। क्रिया व्यापाररूपा चेति सूत्रार्थः।" इससे स्पष्ट है कि लक्षणा साक्षात्सम्बन्ध से मुख्यार्थ (वाच्यार्थ) निष्ठ होने पर भी परम्परासम्बन्ध से शब्दनिष्ठ कही जाती है। इस बात को आगे और भी स्पष्ट किया है आचार्य वामन ने। उसका कथन इस प्रकार है—"यद्यपि 'गङ्गायां घोषः' इत्यत्र गङ्गाशब्देन प्रत्यायितं स्रोतस्तीरं लक्षयतीत्यर्थव्यापारो लक्षणा, न तु शब्दव्यापारस्तथापि वाच्यधर्मो वाचके शब्दे आरोप्यते। अतः शब्दोऽपि लाक्षणिक इति भावः।" अर्थात् यद्यपि 'गङ्गायां घोषः' वाक्य में गङ्गा शब्द से ज्ञापित (गङ्गा) प्रवाह रूप अर्थ (गङ्गा) तट को

लक्षित कराता है, इसलिए लक्षणा अर्थ का ही व्यापार है, शब्द का नहीं, तथापि चूँकि वाच्य (अर्थात् अर्थ) का धर्म वाचक (अर्थात् शब्द) में आरोपित किया जाता है, अतः वाच्यार्थ के लाक्षणिक होने के कारण शब्द भी लाक्षणिक कहा जाता है। वेदान्तसार के रचयिता को भी यह बात सर्वथा मान्य है। इसलिए उनके मत से अविरुद्ध देवदत्त-मात्र को परम्परा से लक्षित कराने वाला 'सोऽयं देवदत्तः' यह शब्द-समूह रूप वाक्य है, और साक्षात् लक्षित कराने वाला उसका अर्थ है। इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' वाक्य अविरुद्ध अखण्ड चैतन्य-मात्र को परम्परा से लक्षित कराता है, जबकि उसका अर्थ उस लक्ष्यार्थ को साक्षात् रूप से लक्षित कराता है। यही कारण या रहस्य है आचार्य-प्रवर के 'वाक्यं तदर्थो वा' कथन का।

"आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च" (ब्रह्मसूत्र ४।१।३) अर्थात् ब्रह्म आत्मा है, इस रूप से ही ब्रह्म को ग्रहण करना चाहिए। वेदान्त-वाक्य इसी रूप में ब्रह्म को स्वीकार करते हैं और इसी रूप में ग्रहण कराते हैं। इस सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए ग्रन्थकार ने जीव की ब्रह्मरूपता का उपदेश करने वाले 'तत्त्वमसि' वाक्य के अर्थ का सविस्तर विवेचन किया। आचार्य से इस उपदेश-वाक्य का श्रवण तथा मनन करके सततनिदिध्यासन करने से आत्मस्वरूप का 'अहं ब्रह्मास्मि' अर्थात् मैं ब्रह्म हूँ, इस अनुभव के रूप में बोध होता है। अब इसी अनुभव-वाक्य के अर्थ का निरूपण किया जा रहा है—

अथाधुना 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यनुभववाक्यार्थो वर्ण्यते। 'एवमाचार्येणाध्यारोपापवादपुरस्सरं तत्त्वम्पदार्थौ शोधयित्वा वाक्येनाखण्डार्थेऽवबोधितेऽधिकारिणोऽहं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यस्वभावपरमानन्दानन्ताद्वयं ब्रह्मास्मीत्यखण्डाकाराकारिता चित्तवृत्तिरुदेति। सा तु चित्प्रतिबिम्बसहिता सती प्रत्यगभिन्नमज्ञातं परं ब्रह्म विषयीकृत्य तद्गताज्ञानमेव बाधते। तदा पटकारणतन्तुदाहे पटदाहवदखिलकारणेऽज्ञाने बाधिते सति तत्कार्यस्याखिलस्य बाधितत्वात्तदन्तर्भूताखण्डाकाराकारिता चित्तवृत्तिरपि बाधिता भवति। तत्र प्रतिबिम्बितं चैतन्यमपि, यथा दीपप्रभादित्यप्रभावभासनासमर्था सती तयाभिभूता भवति तथा स्वयंप्रकाशमानप्रत्यगभिन्नपरब्रह्मावभासनानर्हतया तेनाभिभूतं सत् स्वोपाधिभूताखण्डचित्तवृत्तेर्बाधितत्वाद्दर्पणाभावे मुखप्रतिबिम्बस्य मुखमात्रत्ववत्प्रत्यगभिन्नपरब्रह्ममात्रं भवति।।६१।।

अखण्डचैतन्यप्रतिपादकस्य तत्त्वमसीतिवाक्यस्यार्थं संप्रपञ्चमभिधायेदानीं यजुर्वेदानुभववाक्यार्थो वर्ण्यत इत्याह—अथाधुनेति। गुरुमुखान्नवकृत्वस्तत्त्वमस्यादिवाक्यश्रवणा-

देहाद्यहङ्कारान्तजडपदार्थसकलदृश्यविलक्षणप्रत्यगात्मन: शुद्धेन परमात्मना सहैकत्वबोधान्तरं कश्चिदधिकारी लब्धावसरं सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं सच्चिदानन्दैकरसमनुभवेन 'जिज्ञासुराचार्योपदिष्टमहं ब्रह्मास्मीति वाक्यार्थमनुस्मरन् स्वात्मानन्दमनुभवतीत्यर्थ:। तत्प्रकारमेवाह एवमित्यादिना। एवं संक्षेपेण वक्ष्यमाणप्रकारेणाधिकारिणश्चित्तवृत्तिरुदेतीति सम्बन्ध:। कदेत्यपेक्षायामाह आचार्येणेति। आचार्येणाविषयेऽसङ्गे निष्कलचैतन्ये शशशृङ्गायमाणाविद्ययाहङ्कारादिशरीरान्तमिथ्यापदार्थमध्यारोपतदपवादपुर:सरं तत्त्वम्पदार्थौ शोधयित्वा तत्त्वमसीतिवाक्येन जहदजहल्लक्षणया विरुद्धांशपरित्यागेनाखण्डार्थचैतन्ये ज्ञाते सतीत्यर्थ:। किंविषयिणी चित्तवृत्तिरुदेतीत्यसत्त्वशङ्कां निवारयति अहमिति। अहं प्रत्यगात्मा परं ब्रह्मास्मीत्यन्वय:। ब्रह्मानित्यत्वशङ्कां निराकरोति नित्येति। शुद्धपदेनाविद्यादिदोषराहित्यम्। बुद्धपदेन स्वप्रकाशस्वरूपत्वेन जाड्यादिकं व्यवच्छिद्यते। मुक्तपदेन सर्वोपाधिराहित्यम्। सत्यमित्यविनाशिस्वभावत्वम्। परमानन्दपदेन वैषयिकमनुष्यानन्दादिचतुर्मुखब्रह्मानन्द-पर्यन्तानां कर्मजन्यत्वेन सातिशयत्वेन क्षयिष्णुत्वेन च तुच्छत्वात्तेभ्यो विलक्षणं निरतिशयानन्दस्वरूपत्वं प्रतिपाद्यते। अनन्तपदेन घटादिवत्परिच्छेदराहित्येन देशत: कालतो वस्तुतश्चापरिच्छिन्नत्वं बोध्यते। अद्वयमिति नानात्वनिषेधेनैकत्वं बोध्यत इत्यर्थ:। ननु यथा दीपप्रभादित्यमण्डलं न व्याप्नोति न च प्रयोजनमस्ति तथा नित्यशुद्धस्वप्रकाशमात्मानं जडा चित्तवृत्ति: कथं विषयीकृत्योदेति किं प्रयोजनं चेत्याशङ्क्याह सा त्विति। सा चित्तवृत्तिर्न शुद्धब्रह्मविषयिणी किन्त्वज्ञानविशिष्टप्रत्यगभिन्नपरब्रह्मविषयिणी। सा च चैतन्यप्रतिबिम्बसंवलिता सती चैतन्यगतमज्ञानं निवर्तयति। तस्याश्चैतन्यावरकाज्ञाननिवृत्तिरेव प्रयोजनमित्यर्थ:। नन्वधिकारिणस्तत्त्वमस्यादिवाक्य-श्रवणोत्पन्नाखण्डचैतन्यवृत्त्या तदाश्रिताज्ञाने निवारितेऽपि तत्कार्यस्य सकलचराचरप्रपञ्चस्य प्रत्यक्षतया भासमानत्वात्कथमद्वैतसिद्धिरित्याशङ्क्य कारणाज्ञाननाशे तत्कार्यसकल-प्रपञ्चनाशादद्वैतसिद्धिरित्येतत् सदृष्टान्तमाह—तदा पटकारणेति। नन्वज्ञाननाशेन तत्कार्यप्रपञ्चस्य नाशोऽस्तु तथाप्यखण्डाकारवृत्तेरनिवृत्तेरद्वैतहानिरित्याशङ्क्याह —तदन्तर्भूतेति। अखण्डाकारवृत्तेरप्यज्ञानतत्कार्यान्तर्भूतत्वात्तन्निवृत्त्या तन्निवृत्तेर्नाद्वैतहानिरित्यर्थ:। ननु तथाप्यखण्डाकारवृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्याभाससत्त्वात्कथमद्वैतसिद्धिरित्याशङ्क्याह—तत्र प्रति-बिम्बितमिति। वृत्तिनिवृत्तौ तत्प्रतिबिम्बितचैतन्यस्य बिम्बावभासनासमर्थत्वाद्वृत्त्युपा-धिबाधेन तत्प्रतिबिम्बतचैतन्यमपि चैतन्यमात्रतयावशिष्यते। दर्पणोपाधिविगमे तत्प्रतिबिम्बितमुखाभासस्य बिम्बभूतमुखमात्रतावशेषवदित्यर्थ:। अयं भाव:। शोधित-तत्त्वम्पदार्थस्याधिकारिणस्तद्विजृम्भितगुरुशास्त्रादिभ्यस्तत्त्वमसीत्युपदेशेनाहं नित्य-शुद्धबुद्धमुक्तसत्यस्वभावपरमानन्दानन्ताद्वयाखण्डब्रह्मास्मीति चित्तवृत्तिरुदयमासादयति। तदानीमेव तस्याभिव्यक्ताखण्डचैतन्यबलेन तत्त्वपरिपीडिताज्ञाननाशो भवति। तदानीं तत्कार्यस्य सर्वस्य नाशादभिव्यक्तिरपि स्वयमेव कतकरजोवद्दारुमथनजनिताग्नि-

वदुदरस्थदुष्टजलशान्त्यर्थपीततप्तजलवच्च नष्टा भवति। तदानीं तद्गताभासोऽपि स्वोपाधिभूतचित्तवृत्तिनाशात्स्वप्रकाशात्मावभासनासमर्थतया दर्पणविगमे तदुपाधिकस्य स्वाधिष्ठानमुखमात्रत्ववदधिष्ठानमात्रो भवतीति वेदान्तसिद्धान्तरहस्यमिति। अत्र तस्यानुभवः। "लोकाश्च भान्ति परमे मयि मोहजन्याः स्वप्नेन्द्रजालमरुनीरसमा विचित्राः। व्युत्थानकाल इह न स्युरलं विशुद्धप्रत्यक्सुखाब्धिपरमामृतचित्तवृत्तौ।। मत्तः परं न खलु विश्वमथापि भाति मध्ये च पूर्वमपर नरशृङ्गतुल्यम्। मायोत्थशास्त्रगुरुवाक्य-समुत्थबोधभानुप्रभाविलसिते क्व गतं न जाने।। निरतिशयसुखाब्धि-स्वप्रकाशे परेऽस्मिन्कथमिदमविवेकादुत्थितं स्रक्फणीव। क्व नु गतमधुना तद्देशिको वा श्रुतिर्वा परमविमलबोधेऽभ्युत्थितेऽहं न जाने" इति।। तदेतत्सर्वं मनसि निधायोपसंहरति प्रत्यगभिन्नेति।।६१।।

अर्थ—इस (तत्त्वमसि उपदेश-वाक्य के अर्थ का निरूपण करने) के अनन्तर अब 'अहं ब्रह्मास्मि' इस ब्रह्मसाक्षात्कार-रूप अनुभव का बोध कराने वाले वाक्य का अर्थ बताया जा रहा है—इस प्रकार आचार्य के द्वारा अध्यारोप और अपवाद की प्रक्रिया के माध्यम से 'तत्' और 'त्वम्' पदों के अर्थों का विवेचन करके 'तत्त्वमसि' इस वाक्य के द्वारा अखण्डब्रह्म रूप अर्थ का बोध करा दिये जाने पर अधिकारी के चित्त में 'मैं नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त और सत्य स्वभाव वाला, परमानन्दरूप, अनन्त, अद्वितीय ब्रह्म हूँ' इस प्रकार की अखण्डब्रह्माकारित चित्तवृत्ति का उदय होता है। वह चित्तवृत्ति चिदात्मा के प्रतिबिम्ब से युक्त होती हुई, प्रत्यगात्मा से अभिन्न, अज्ञात (अत एव प्रमेय) परब्रह्म को विषय बनाकर तद्विषयक अज्ञान भर को नष्ट कर देती है। उस समय जिस प्रकार से पट के कारणभूत तन्तुओं के जल जाने पर पट जल जाता है, उसी तरह सकल प्रपञ्च के कारणभूत अज्ञान के नष्ट हो जाने पर, उसके कार्यभूत अखिल जगत्-प्रपञ्च का विनाश हो जाने से, उसके अन्दर आने वाली अखण्डब्रह्माकारा चित्तवृत्ति भी नष्ट हो जाती है।

जैसे, दीपक की ज्योति सूर्य को प्रकाशित करने में असमर्थ होती हुई उससे स्वयं अभिभूत हो जाती है, उसी प्रकार चित्तवृत्ति में प्रतिबिम्बित होने वाला चैतन्य (चिदाभास) भी स्वयं प्रकाशमान प्रत्यगात्म-रूप परब्रह्म को प्रकाशित करने में असमर्थ होने के कारण उससे अभिभूत होता हुआ अपनी उपाधि-भूत अखण्डकाराकारित चित्तवृत्ति के विनष्ट हो जाने से, ठीक उसी प्रकार प्रत्यगात्मा से अभिन्न परब्रह्ममात्र हो जाता है, जैसे दर्पण के अभाव में तद्गत मुख-प्रतिबिम्ब (परछाईं) मुखमात्र हो जाता है।

विशेष—(१) अथ—'मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकार्त्स्न्येष्वथो अथ' (अमर०) के अनुसार अथ और अथो शब्द मङ्गल, अनन्तर, प्रारम्भ, प्रश्न और कार्त्स्न्य (पूर्णता)—इन पाँच अर्थों में प्रयुक्त होते हैं। प्रस्तुत सन्दर्भ में 'अथ' शब्द अनन्तर अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

(२) अधिकारिणः—अर्थात् निर्मल अन्तःकरण वाले विवेक, वैराग्य, शमादि तथा मुमुक्षुत्व—इस साधनचतुष्टय से सम्पन्न अधिकारी शिष्य में ही 'तत्त्वमसि' के द्वारा अखण्डार्थ का बोध कराये जाने पर अखण्डब्रह्माकारा चित्तवृत्ति का उदय होता है।

(३) नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यस्वभावपरमानन्दानन्ताद्वयं ब्रह्म—'नित्य' पद से ब्रह्म के अनित्य होने की शंका का निराकरण किया गया है। 'शुद्ध' पद से ब्रह्म का अविद्यादि दोषों से रहित होना कथित है। 'बुद्ध' पद से स्वप्रकाश-स्वरूप होने के कारण जड़ता आदि का निषेध किया गया है। 'मुक्त' पद से ब्रह्म का समस्त उपाधियों से रहित होना और 'सत्य' पद से अविनाशी स्वभाव वाला होना बताया गया है। 'परमानन्द' पद से ब्रह्म को समस्त जागतिक आनन्दों से विलक्षण एवं निरतिशय आनन्द स्वरूप वाला बताया गया है। 'अनन्त' पद से देश, काल और वस्तु की दृष्टि से उसकी अपरिच्छिन्नता का बोध कराया गया है। इसी प्रकार अद्वय पद से अनेकत्व के निषेध द्वारा एकत्व का कथन किया गया है।

(४) अखण्डाकाराकारिता चित्तवृत्तिरुदेति—'मैं ब्रह्म हूँ' इस रूप में अखण्ड ब्रह्म के आकार अर्थात् स्वरूप को धारण करने वाली अन्तःकरण की वृत्ति उत्पन्न होती है। ब्रह्म के नित्य अपरोक्ष होने के कारण यह वृत्ति अपरोक्षानुभव के रूप में होती है। किन्तु शब्द प्रमाण के स्वभावतः परोक्षज्ञानोत्पादक होने से, 'तत्त्वमसि' वाक्य से उत्पन्न होने वाली 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक चित्त-वृत्ति अनुभवरूप या साक्षात्कारात्मक नहीं होनी चाहिए। ऐसा सोचना ठीक नहीं है, क्योंकि किसी भी ज्ञान का परोक्ष अथवा अपरोक्ष होना करण (प्रमाण) के अधीन नहीं, प्रत्युत प्रमेय अर्थ के अधीन होता है। और ब्रह्म तो अपना प्रत्यगात्मा होने के कारण नित्य अपरोक्ष है ही। जिस शब्द का अर्थ निकटतम होता है, उसके द्वारा उत्पन्न उस अर्थ का ज्ञान अपरोक्ष ही होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्यगात्म-भूत ब्रह्म का 'तत्त्वमसि' द्वारा उत्पादित ज्ञान निस्सन्देह अपरोक्ष ही होता है। शब्द से उत्पन्न सभी ज्ञान को परोक्ष मानने पर 'दशमस्त्वमसि' जैसे वाक्य का अर्थ भी स्वरूपतः परोक्ष ही होगा, अपरोक्ष नहीं, जबकि इससे उत्पन्न ज्ञान निःसन्देह अपरोक्ष ज्ञान है। अन्यथा उस ज्ञान से नदी पार करने वाले दस व्यक्तियों का एक साथी के मर जाने की शङ्का से उत्पन्न रोना-पीटना इत्यादि दुःख की निवृत्ति कथमपि सम्भव न होती।

(५) चित्प्रतिबिम्बसहिता—चित्तवृत्ति में चिदात्मा का जो प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसे 'चिदाभास' कहा जाता है। चित्तवृत्ति में प्रतिफलित होने के कारण उसे 'फल' भी कहा जाता है। चिदाभास या फल से युक्त होने के कारण ही चित्तवृत्ति वस्तुविषयक अज्ञान का विनाश करने अर्थात् उस वस्तु को प्रकाशित करने में समर्थ होती है, अन्यथा जड़ (तमोमय) होने के कारण उससे वस्तु-प्रकाशन रूप कार्य कथमपि सम्भव नहीं होता।

(६) अज्ञातम्—इस पद से ब्रह्म के प्रमेयत्व (उपदेशवाक्योत्पादितचित्तवृत्तिविषयकत्व) का कथन किया गया है। जो अज्ञात होता है, वही ज्ञान या प्रमा का विषय बनता है एवं उस कारण से प्रमेय या ज्ञेय कहा जाता है।

(७) परं ब्रह्म विषयीकृत्य–चिदाभास से युक्त होती हुई चित्तवृत्ति पर ब्रह्म को अपना विषय बनाती है। 'परम्' शब्द से अज्ञानोपहित कार्य ब्रह्म का निषेध किया गया है, क्योंकि वह 'अपर' ब्रह्म कहा जाता है। इसके विपरीत निरुपाधि, निष्कल, निरञ्जन ब्रह्म 'परं' कहा जाता है। परन्तु 'यन्मनसा न मनुते' (केन० १।५) तथा 'येनेदं सर्वं विजानाति, तं केन विजानीयात्' (बृहदा० २।४।१३) इत्यादि श्रुतिवचन परब्रह्म के चित्तवृत्ति के विषय बनने का विरोध करते प्रतीत होते हैं। विरोध की बात ठीक ही है, क्योंकि निरुपाधि-निर्गुण ब्रह्म किसी भी प्रमाण या वृत्ति का विषय नहीं हो सकता। इसलिए ब्रह्म के चित्तवृत्ति-विषय होने का कथन केवल औपचारिक है। चित्तवृत्ति का ब्रह्म की ओर अभिमुख होना मात्र ही इसका तात्पर्य है। जो चित्तवृत्ति गुरु के आत्म-विषयक उपदेश के पूर्व बाह्य विषयों में प्रवाहित होती थी, वही गुरु के उपदेश के अनन्तर अखण्डाकाराकारित होकर ब्रह्माभिमुख हो जाती है। यही उसका ब्रह्म को विषय बनाना है।

(८) तदा पटकारणतन्तुदाहे...चित्तवृत्तिरपि बाधिता भवति–जब चराचर जगत् के मूल कारण अज्ञान (अविद्या) को अखण्डाकार चित्तवृत्ति नष्ट कर देती है, तब 'कारण का नाश होने से कार्य भी नष्ट हो जाता है', इस नियम के अनुसार तन्तुओं के नाश से पट के नाश की तरह ही अज्ञान के कार्य-भूत समस्त जगत्-प्रपञ्च का भी नाश हो जाता है। उसी जगत् के अन्दर आने वाली वह अखण्डाकार चित्तवृत्ति भी उसी क्षण नष्ट हो जाती है। यह विनाश स्वतः होता है। इसमें कोई कारण नहीं है। अग्नि इन्धन को जला कर नष्ट कर देने के अनन्तर स्वतः भी नष्ट हो जाता है। उसके बुझने का कोई अन्य कारण नहीं होता।

आत्मसाक्षात्कार की पूर्व प्रतिपादित प्रक्रिया को जान लेने पर 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' और 'यन्मनसा न मनुते' जैसे परस्पर-विरुद्ध प्रतीयमान श्रुति-वचनों का विरोध समाप्त हो जाता है। इसे सोदाहरण स्पष्ट करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं–

एवञ्च सति 'मनसैवानुद्रष्टव्यं' 'यन्मनसा न मनुते' इत्यनयोः श्रुत्योरविरोधो वृत्तिव्याप्यत्वाङ्गीकारेण फलव्याप्यत्वप्रतिषेधप्रतिपादनात्। तदुक्तम्–

'फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निवारितम्।
ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता'।इति।।
'स्वयं प्रकाशमानत्वान्नाभास उपयुज्यते'।इति च।।६२।।

ननु "मनसैवानुद्रष्टव्यम्", "मनसैवेदमाप्तव्यम्", "दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया

सूक्ष्मदर्शिभिः", "बुद्ध्यालोकनसाध्येऽस्मिन्वस्तुन्यस्तमिता यदि", "बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव" इत्यादिश्रुतिस्मृतीनां, "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह", "यन्मनसा न मनुते", "अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि", "अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्", "अनाशिनोऽप्रमेयस्य", "यद्विज्ञातं त्वया विप्र यन्न विज्ञातमात्मना। ताभ्यामन्यत्परं विप्र यद्वेद्यं विद्धि तज्जडम्" इत्यादिश्रुतिस्मृतीनां च परस्परविरोधमाशङ्क्य परिहरति–एवं च सतीति। एवमुक्तप्रकारेणाज्ञातचैतन्यस्य वृत्तिव्याप्यत्वाङ्गीकारेण फलव्याप्यत्वे प्रतिषिद्धे सतीत्यर्थः। तदेवाह–वृत्तिव्याप्यत्वेति। अन्तःकरणवृत्तिरावरण-निवृत्त्यर्थमज्ञानावच्छिन्नं चैतन्यं व्याप्नोतीत्येतद्वृत्तिव्याप्यत्वमङ्गीक्रियते। आवरणभङ्गानन्तरं स्वयम्प्रकाशमानं चैतन्यं फलचैतन्यमित्युच्यते तस्मिन्फलचैतन्ये निष्कलङ्के चित्तवृत्तिर्न व्याप्नोत्यावरणभङ्गस्य प्रागेव जातत्वेन प्रयोजनाभावादित्यर्थः। अस्मिन्नर्थे ग्रन्थान्तरं संवादयति–तदुक्तमिति। वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्याभासस्यापि फलचैतन्यप्रकाशकत्वं नेत्यत्रापि सम्मतिमाह स्वयम्प्रकाशेति।।६२।।

अर्थ–(ब्रह्मानुभव की प्रक्रिया के) ऐसी होने पर 'मन के द्वारा ही वह द्रष्टव्य है' (बृहदा० ४।२।१०) और 'जो मन के द्वारा ज्ञातव्य नहीं है, (केन० १।५)–इन दोनों श्रुतियों में कोई विरोध नहीं है, क्योंकि (शास्त्रों में) ब्रह्म का चित्तवृत्ति से व्याप्त होना तो स्वीकार किया गया है किन्तु फल या चिदाभास से उसके व्याप्त होने का निषेध किया गया है। जैसा कि विद्यारण्य स्वामी ने पञ्चदशी में स्पष्ट कहा है–'ब्रह्म की फलव्याप्यता अर्थात् चिदाभास से प्रकाशित होने का ही शास्त्रकारों द्वारा निषेध किया गया है' (७।९०) तथा 'ब्रह्मविषयक अज्ञान के नाश के लिए वृत्ति-व्याप्ति अर्थात् चित्तवृत्ति के द्वारा ब्रह्म को विषय बनाया जाना अपेक्षित है, परन्तु ब्रह्म के स्वयम्प्रकाश होने के कारण, उसके प्रकाशन में चिदाभास अर्थात् फल का कोई उपयोग नहीं है।

विशेष–(१) वृत्तिव्याप्ति–अर्थात् अन्तःकरण या चित्त की वृत्ति का विषय होना, उससे व्याप्त होना। जब चित्त अखण्ड ब्रह्म की ओर अभिमुख होकर उसी के आकार का हो जाता है, उसी के आकार में परिणत हो जाता है, तब इसी को 'चित्त की वृत्ति से ब्रह्म का व्याप्त होना' कहा जाता है। यह ऐसे ही है जैसे जलाशय का पानी नालियों से बाहर निकल कर खेत, क्यारी इत्यादि में पहुँच कर उसी के आकार का हो जाता है। वेदान्त परिभाषाकार की यह पंक्ति इस विषय में ज्ञातव्य है–"यथा तडागोदकं छिद्रान्निर्गत्य कुल्यात्मना केदारान् प्रविश्य तद्वदेव चतुष्कोणाकारं भवति, तथा तैजसमन्त-:करणमपिचक्षुरादि द्वारा घटादि विषयदेशं गत्वा घटादिविषयाकारेण परिणमते, स एव परिणामो वृत्तिरित्युच्यते।।"

(२) फल-व्याप्ति–चित्त के विषयाकार रूप से परिणत हो जाने पर, उसमें प्रतिबिम्बित चैतन्य अर्थात् चिदाभास या फल के द्वारा उस विषय का प्रकाशन या

प्रकटीकरण फलव्याप्ति है। ब्रह्म-साक्षात्कार की पूर्वोक्त प्रक्रिया से यह बात सुस्पष्ट है कि ब्रह्मसाक्षात्कार या ब्रह्म के साक्षात्कारात्मक बोध में इस फलव्याप्ति का कोई उपयोग नहीं है, क्योंकि वह चिदाभास तो परिमित प्रकाश वाला है जबकि ब्रह्म स्वयम् प्रकाशमान है, यद्यपि उस साक्षात्कार में वृत्ति-व्याप्ति की सर्वथा अपेक्षा होती है। स्वयम्प्रकाश ब्रह्म के प्रकाश से ही प्रकाशित चिदाभास भला उसे कैसे प्रकाशित कर सकता है? दीपक का प्रकाश सूर्य को कदापि प्रकाशित नहीं कर सकता, प्रत्युत सूर्य के प्रकाश से वह अभिभूत हो जाता है। उसी प्रकार वह चिदाभास जो बिम्बभूत ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है और जिसकी अपनी सत्ता उस ब्रह्म पर निर्भर है। वह भला ब्रह्म को कैसे प्रकाशित करेगा? वह तो अपनी सत्ता के लिए उस ब्रह्म के ही अधीन है। जागतिक घट-पट इत्यादि विषयों को प्रकाशित करने वाली चित्तवृत्ति से इस ब्रह्मविषयक चित्तवृत्ति का यही अन्तर है। घट-पटादि जड़ पदार्थों के प्रकाशन में न केवल चित्तवृत्ति की व्याप्ति ही अपितु फल की भी व्याप्ति अपेक्षित है। इसे ग्रन्थकार अग्रिम पंक्तियों में स्पष्ट कर रहे हैं–

जडपदार्थाकाराकारितचित्तवृत्तेर्विशेषोऽस्ति। तथाहि–अयं घट इति घटाकाराकारितचित्तवृत्तिरज्ञातं घटं विषयीकृत्य तद्गताज्ञान-निरसनपुरस्सरं स्वगतचिदाभासेन जडं घटमपि भासयति। तदुक्तम्–

'बुद्धितत्स्थचिदाभासौ द्वावेतौ व्याप्नुतो घटम्।
तत्राज्ञानं धिया नश्येदाभासेन घटः स्फुरेत्'।।इति।।

यथा दीपप्रभामण्डलमन्धकारगतं घटपटादिकं विषयीकृत्य तद्गतान्धकारनिरसनपुरस्सरं स्वप्रभया तदपि भासयतीति।।६३।।

इदानीं जडपदार्थविषयकचित्तवृत्तेर्ब्रह्माकारवृत्त्यपेक्षया वैलक्षण्यं दर्शयितुमाह जड-पदार्थेति। अहं ब्रह्मास्मीत्यज्ञानावच्छिन्नब्रह्माकारा वृत्तिस्तदावरकमज्ञानमात्रं निवर्तयति ब्रह्म तु स्वप्रकाशात्मत्वात्स्वयमेव प्रकाशते। न तु वृत्तिप्रतिबिम्बितचिदाभासेन चैतन्यं प्रकाश्यते तत्र तस्यासामर्थ्यात्। अयं घट इति घटाकाराकारितचित्तवृत्तिस्तु घटावच्छिन्नचैतन्यावरकाज्ञानं निवर्तयमाना स्वप्रतिबिम्बितचिदाभासेन जडं घटमपि प्रकाशयति। अतस्ततो विशेषोऽस्तीत्यर्थः। एतदेव प्रपञ्चयितुं प्रतिजानीते तथाहीति। जडपदार्थविषयिणीं चित्तवृत्तिमभिनीय दर्शयति अयमिति। वृत्तिसम्बन्धात्प्राग्घटस्याज्ञातत्वादज्ञातं घटं विषयीकृत्य प्रवृत्ता चित्तवृत्तिर्घटगताज्ञानं दूरीकुर्वाणा घटमपि भासयतीत्यर्थः। अस्मिन्नर्थे वृद्धसम्मतिमाह तदुक्तमिति। बुद्धिश्च तत्र बुद्धौ प्रतिबिम्बित-चिदाभासश्च बुद्धितत्स्थचिदाभासौ द्वावेतौ बुद्धिचिदाभासौ घटं व्याप्नुतः। तत्र तयोर्मध्ये धिया वृत्त्या घटाज्ञानं नश्येच्चिदाभासेन तु घटः स्फुरेदित्यर्थः। अत्रानुरूपं दृष्टान्तमाह यथा दीपेति। यथान्धकारावस्थितं घटादिकं विषयीकृत्य प्रवर्तमानं दीपप्रभामण्डलं

घटावरकान्धकारनिवृत्तिद्वारा स्वप्रभया घटादिकं प्रकाशयति तद्वदित्यर्थः।।६३।।

अर्थ—घटादि जड़ (अप्रकाशमान) पदार्थों (विषयों) के आकार को धारण करने वाली चित्तवृत्ति का (अखण्ड ब्रह्म के आकार को धारण करने वाली चित्तवृत्ति से) विशेष अर्थात् अन्तर है। वह इस प्रकार से–'यह घट है' इस प्रकार से घट के आकार को धारण करने वाली चित्तवृत्ति अज्ञात घट को व्याप्त कर, विषय बनाकर, घट-विषयक अज्ञान को दूर करने के साथ ही अपने अन्दर स्थित चिदाभास से जड़ घट को प्रकाशित भी कर देती है। जैसा कि कहा भी गया है–"बुद्धि अर्थात् चित्त और उसमें रहने वाला चिदाभास, दोनों ही घट को व्याप्त करते हैं। उनमें बुद्धि के द्वारा तो घट-विषयक अज्ञान नष्ट होता है, और चिदाभास से घट प्रकाशित होता है" (पञ्चदशी ७।९१) जैसे दीपक की ज्योति अन्धकार में रखे हुए घट-पटादि को व्याप्त कर उसे विषय बना कर, उन्हें आवृत करने वाले अन्धकार को तो नष्ट करती ही है, साथ ही अपने प्रकाश से उन्हें प्रकाशित भी कर देती है।

विशेष–(१) जडपदार्थाकाराकारितचित्तवृत्तेर्विशेषोऽस्ति–घटादि जड पदार्थों के ज्ञान की प्रक्रिया में दो बातें होती हैं। पहले चित्तवृत्ति घटादि को विषय बनाकर तद्‌गत अज्ञान को दूर कर देती है, फिर चित्तवृत्ति-गत चिदाभास उस घटादि को प्रकाशित कर देता है। इस प्रकार घटादि का ज्ञान प्राप्त करने में चित्तवृत्ति और चिदाभास, दोनों का ही उपयोग होता है। परन्तु ब्रह्म-ज्ञान की प्रक्रिया इससे भिन्न है। चित्तवृत्ति ब्रह्म को विषय बनाकर, तदाकाराकारित होकर, ब्रह्मविषयक अज्ञान को तो दूर कर देती है, परन्तु उसमें रहने वाला चिदाभास ब्रह्म को प्रकाशित नहीं करता, क्योंकि स्वयं परिमित प्रकाश वाला चिदाभास अपरिमित प्रकाश वाले ब्रह्म को कैसे प्रकाशित कर सकता है? जैसे दीपक का प्रकाश सूर्य को प्रकाशित करने में असमर्थ होता है बल्कि वह स्वयं सूर्य के तीव्रतर प्रकाश से अभिभूत हो जाता है उसी प्रकार वह चिदाभास, जो स्वयमेव ब्रह्म-चैतन्य का प्रतिबिम्ब है और जिसका अस्तित्व बिम्बभूत ब्रह्म-चतैन्य पर ही अवलम्बित है, ब्रह्मचैतन्य को प्रकाशित नहीं कर सकता है? प्रत्युत ब्रह्मचैतन्य से अभिभूत हो जाता है। फिर,यह चिदाभास अपनी उपाधिभूत चित्तवृत्ति के स्वकार्य-सम्पादनानन्तर नष्ट हो जाने पर आश्रय-विहीन सा कहीं अलग न रहता हुआ स्व-बिम्बभूत ब्रह्म-चैतन्य ही रह जाता है। जैसे, दर्पण में पड़ने वाला मुख का प्रतिबिम्ब दर्पण के हटा लिये जाने पर कहीं अलग न रहकर मुख-मात्र ही रह जाता है, उसी प्रकार से चिदाभास अपनी उपाधि का नाश हो जाने पर अनुपहित (शुद्ध) स्वरूप चैतन्य-मात्र में स्थित हो जाता है। उस अवस्था में द्वैत की अणुमात्र भी सम्भावना नहीं रह जाती है। इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है। कि ब्रह्म-बोध की प्रक्रिया में चित्तवृत्ति का तो उपयोग होता है, क्योंकि वह ब्रह्मविषयक जीवाश्रित अज्ञान को नष्ट करती है, किन्तु तद्गत चिदाभास की उसमें कोई उपयोगिता नहीं होती

है, क्योंकि अपने से हजारों गुना अधिक प्रकाशमान स्वविम्ब-भूत ब्रह्म को प्रकाशित करने में कत्तई समर्थ नहीं है, उल्टे उसके समक्ष वह अभिभूत होकर उसी के साथ एकीभाव को प्राप्त हो जाता है।

'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' (ब्रह्मसूत्र ४।१।१) अर्थात् 'श्रोतव्यो मन्तव्य:' इत्यादि श्रुतियों में श्रवणादि का बार-बार उपदेश होने से ब्रह्मसाक्षात्कार-पर्यन्त श्रवणादि की निरन्तर आवृत्ति होती रहनी चाहिए, इस तथ्य का कथन करते हुए ग्रन्थकार उनका निरूपण कर रहे हैं–

एवंभूतस्वस्वरूपचैतन्यसाक्षात्कारपर्य्यन्तं [1]श्रवणमननदिदिध्यासनसमाध्यनुष्ठानस्यापेक्षितत्वात्तेऽपि प्रदर्श्यन्ते।

श्रवणं नाम षड्विधलिङ्गैरशेषवेदान्तानामद्वितीये वस्तुनि तात्पर्यावधारणम्। लिङ्गानि तूपक्रमोपसंहाराभ्यासापूर्वताफलार्थवादोपपत्त्याख्यानि।।६४।।

इयता ग्रन्थजालेन प्रतिपादितस्य प्रत्यगभिन्नपरमानन्दाखण्डचैतन्यस्य साक्षात्कारलक्षणामखण्डाकारान्त:करणवृत्तिं प्रतिपादयिषुस्तत्साधनभूतश्रवणादेरवश्यानुष्ठेयत्वं तेषां लक्षणानि च क्रमेण दर्शयति–एवम्भूतेत्यादिनाऽद्वैतं वस्तु भासत इत्यन्तेन। एवम्भूतस्योक्तश्रुतियुक्त्यनुभवैर्निरस्तसमस्तोपाधिप्रत्यगभिन्नपरमानन्दचिद्रूपस्य साक्षात्कारपर्यन्तं श्रवणादीन्यनुष्ठेयानीति प्रतिजानीते–तेऽपीति। श्रवणादयोऽपीत्यर्थ:। तत्र श्रवणस्य लक्षणमाह–षड्विधेति। लीनमर्थं गमयतीति लिङ्गशब्दस्य व्युत्पत्तेर्ब्रह्मात्मैकत्वनिश्चायकैरुपक्रमोपसंहारादिषड्विधलिङ्गै: सर्वेषां वेदान्तवाक्यानामद्वितीये ब्रह्मणि तात्पर्यनिश्चय: श्रवणमित्यर्थ:। तानि च लिङ्गानि क्रमेणोद्दिशति-उपक्रमेति। तथा चोक्तम्–"उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्। अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तार्त्पर्यनिर्णय:" इति।।६४।।

अर्थ–अपने स्वरूपभूत चैतन्य का इस प्रकार से साक्षात्कार होने तक श्रवण, मनन, निदिध्यासन और समाधि का अनुष्ठान (अभ्यास) अपेक्षित होने के कारण उन्हें भी प्रदर्शित किया जा रहा है–

सम्पूर्ण वेदान्त-वाक्यों का अद्वितीय ब्रह्मरूप वस्तु (के प्रदिपादन) में तात्पर्य है, इसका ६ प्रकार के लिङ्गों से निश्चय करना 'श्रवण' है। वे लिङ्ग हैं–(१) उपक्रम और

---

१. वृहदारण्कश्रुति: (३।५।१) "तस्माद् ब्राह्मण: पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेद्, बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनि:" पाण्डित्य-बाल्य-मुनिशब्दै: क्रमेण श्रवणमनननिदिध्यासनानि विधत्ते। अयमर्थ: "सहकार्यन्तरविधि: पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत् (ब्रह्मसूत्र ३।४।४७) इति न्यायेन निर्णीत:। तथा च, "तस्याभिध्यानाद् योजनात् तत्त्वभावाद् भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्ति:।" इति श्वेताश्वतरश्रुति: (१।१०) समाधिं विधत्ते।

उपसंहार, (२) अभ्यास, (३) अपूर्वता, (४) फल, (५) अर्थवाद और (६) उपपत्ति।

आगे इन छहों का क्रमश: वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है–

तत्र प्रकरणप्रतिपाद्यस्यार्थस्य तदाद्यन्तयोरुपपादनमुपक्रमोपसंहारौ यथा छान्दोग्ये षष्ठाध्याये प्रकरणप्रतिपाद्यस्याद्वितीयवस्तुनः 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादौ 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' इत्यन्ते च प्रतिपादनम्।

प्रकरणप्रतिपाद्यस्य वस्तुनस्तन्मध्ये पौनःपुन्येन प्रतिपादनमभ्यासः। यथा तत्रैवाद्वितीयवस्तुनि मध्ये तत्त्वमसीति नवकृत्वः प्रतिपादनम्।

प्रकरणप्रतिपाद्यस्याद्वितीयवस्तुनः प्रमाणान्तराविषयीकरणमपूर्वता। यथा तत्रैवाद्वितीयवस्तुनो मानान्तराविषयीकरणंम्।

फलं तु प्रकरणप्रतिपाद्यस्यात्मज्ञानस्य तदनुष्ठानस्य वा तत्र तत्र श्रूयमाणं प्रयोजनम्। यथा तत्र 'आचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य' इत्यद्वितीयवस्तुज्ञानस्य तत्प्राप्तिः प्रयोजनं श्रूयते। प्रकरणप्रतिपाद्यस्य तत्र तत्र प्रशंसनमर्थवादः। यथा तत्रैव "उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्" इत्यद्वितीयवस्तुप्रशंसनम्। प्रकरणप्रतिपाद्यार्थसाधने तत्र तत्र श्रूयमाणा युक्तिरुपपतिः। यथा तत्र "यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" इत्यादावद्वितीयवस्तु-साधने विकारस्य वाचारम्भणमात्रत्वे युक्तिः श्रूयते।।६५।।

उपक्रमोपसंहारौ तावद्दर्शयति तत्र प्रकरणप्रतिपाद्यस्येति। तदुदाहृत्य दर्शयति यथेति। एकमेवाद्वितीयमित्युपक्रम्यैतदात्म्यमिदं सर्वमिति प्रतिपादनमुपक्रमोपसंहारावित्यर्थः। अभ्यासस्य लक्षणमाह पौनःपुन्येनेति। अत्रापि श्रुतिमुदाहरति यथेति। अपूर्वत्वस्य लक्षणमाह प्रमाणान्तरेति। "तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" इत्यादिश्रुतिभिरुपनिषन्मात्रवेद्यत्वप्रतिपादनाद्ब्रह्मणोऽपूर्वत्वमित्यर्थः। अथवा ब्रह्मणः स्वप्रकाशत्वेन स्वव्यवहारिस्वातिरिक्तप्रमाणानपेक्षत्वाद्ब्रह्मणोऽपूर्वत्वमित्यर्थः। क्रमप्राप्तस्य फलस्य लक्षणमाह फलं त्विति। अत्रानुरूपमुदाहरणमाह आचार्यवानित्यादि। श्रवणादिसाधनानां ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानं प्रयोजनं ब्रह्मणः ज्ञानस्य तु तत्प्राप्तिः फलं "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति", "तरति शोकमात्मवित्" इत्यादिश्रुतिभिरित्यर्थः। पञ्चमलिङ्गस्यार्थवादस्य लक्षणमाह प्रशंसनमिति।

प्रकरणप्रतिपाद्याद्वितीयब्रह्मस्वरूपस्तावकवाक्यमर्थवाद इत्यर्थः। अत्रापि श्रुतिमाह "उत तमादेशं" इत्यादि। "येनाश्रुतं श्रुतं भवति" इति। येन सकलप्रपञ्चाधिष्ठान-ब्रह्मस्वरूपश्रवणेनाश्रुतं प्रपञ्चजातमपि श्रुतं भवति। येन ब्रह्मज्ञानेनाज्ञातं सर्वं जगज्ज्ञातं भवति। येन ब्रह्मसाक्षात्कारेण साक्षात्कृतं भवति ब्रह्मणः सर्वतः सम्प्लुतोदकस्थानीयत्वादित्यर्थः। अवशिष्टाया उपपत्तेर्लक्षमणमाह युक्तिरिति। तामुदाहरति यथेति। मृद्विकारेषु घटादिषु विकारनामधेययोर्वाचारम्भणमात्रत्वेन यथा मृत्त्वमेवावशिष्यते नान्यत्तथा चिद्विवर्तस्य प्रपञ्चस्य गिरिनदीसमुद्रात्मकविकारनामधेययोर्वाचारम्भणमात्रत्वाच्चिन्मात्रमेवावशिष्यते रज्जुविवर्तस्य सर्पस्य रज्जुमात्रावशेषवदित्यर्थः।।६५।।

अर्थ–इनमें से 'उपक्रमोपसंहार' है–किसी प्रकरण के प्रतिपाद्य अर्थ का उसके प्रारम्भ और अन्त में उपपादन करना। जैसे, छान्दोग्योपनिषद् के छठें अध्याय में प्रकरण के प्रतिपाद्य अद्वितीय ब्रह्मरूप वस्तु का 'एकमेवाद्वितीयम्' अर्थात् 'एकमात्र अद्वितीय सत् ही था' इन शब्दों के द्वारा प्रारम्भ में और 'एतदात्म्यमिदं सर्वम्' अर्थात् यह सारा जगत्-प्रपञ्च सत्-संज्ञक आत्मा (स्वरूप) वाला है, इन शब्दों द्वारा अन्त में प्रतिपादन किया गया है।

प्रकरण-प्रतिपाद्य वस्तु का उसके मध्य में पुनः-पुनः प्रतिपादन करना 'अभ्यास' है। जैसे, वहीं प्रकरण-प्रतिपाद्य अद्वितीय ब्रह्म वस्तु का उस प्रकरण के मध्य में 'तत्त्वमसि' इस प्रकार से नौ बार प्रतिपादन किया गया है।

प्रकरण-प्रतिपाद्य वस्तु का (श्रुति के अतिरिक्त) किसी अन्य प्रमाण द्वारा विषय न बनाया जाना (अर्थात् किसी अन्य प्रमाण से बोध या ज्ञान न होना) 'अपूर्वता' है। जैसे, उसी प्रकरण में अद्वितीय वस्तु का किसी अन्य प्रमाण से अगम्य होना ('आचार्यवान् पुरुषो वेद' इत्यादि कथन से) सूचित होता है।

किसी प्रकरण के द्वारा प्रतिपाद्य आत्मज्ञान का अथवा आत्मज्ञान के लिए किये जाने वाले साधनानुष्ठान का जो प्रयोजन उस-उस प्रकरण में प्रतिपादित होता है, वही 'फल' कहलाता है। जैसे, वहीं 'तस्य तावदेवचिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये' (६।१४।८) अर्थात् 'आचार्यवान् पुरुष ही आत्मा को जानता है। उसके लिए तभी तक देर है जब तक वह शरीर के बन्धन से मुक्त नहीं होता, तदनन्तर तो वह सत्सम्पन्न अर्थात् ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है', इत्यादि के द्वारा अद्वितीय वस्तु के ज्ञान का प्रयोजन उसकी प्राप्ति बताया गया है।

प्रकरण के प्रतिपाद्य विषय की उसमें स्थान-स्थान पर प्रशंसा 'अर्थवाद' है। जैसे, वहीं 'उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्' (६।१।३) अर्थात् 'क्या तुमने (आचार्य से) उस आदेश[1] (अर्थात् शास्त्राचार्योपदेशैक-गम्य ब्रह्मतत्त्व)

---

१. आदिश्यत इत्यादेशः केवलशास्त्राचार्योपदेशगम्यमित्येतत्। येन वा परं ब्रह्मादिश्यते स आदेशः।
—छा०६।१।३ शाङ्करभाष्यम्

के विषय में पूछा है जिससे न सुना हुआ सुना हुआ, न विचारा गया विचारा गया तथा न जाना हुआ जाना हुआ हो जाता है' इन शब्दों के द्वारा अद्वितीय ब्रह्म रूप वस्तु की प्रशंसा की गई है।

प्रकरण के द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ को सिद्ध या प्रमाणित करने के लिए स्थान-स्थान पर वर्णित युक्ति ही 'उपपत्ति' है। जैसे, वहीं 'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (६।१।४) अर्थात् 'हे सौम्य! जिस प्रकार मृत्तिका के एक पिण्ड को जान लेने भर से उसके विकार या कार्यभूत सारे पदार्थों का ज्ञान हो जाता है, विकार (कार्य) तो वाणी से आरब्ध (उत्पन्न) होने वाला नाम-मात्र है, सत्य तो केवल (कारणभूत) मृत्तिका ही है' इत्यादि शब्दों के द्वारा अद्वितीय वस्तु को सत्य सिद्ध या प्रमाणित करने के लिए समस्त विकारों या कार्यों के केवल वाणी का विकार (तदाश्रित) होने में युक्ति प्रस्तुत की गई है।

विशेष–(१) लिङ्गानि–लीनमर्थं गमयन्तीति लिङ्गानि। अर्थात् जीव और ब्रह्म का ऐक्य रूप जो लीन (छिपा हुआ, अप्रकट) अर्थ है, उसकी अवगति या बोध कराने के कारण उपक्रमादि 'लिङ्ग' कहे गये हैं।

(२) अपूर्वता–'अज्ञातज्ञापकं शास्त्रम्' अर्थात् शास्त्र केवल अज्ञात वस्तु का ज्ञापक होता है, यह सिद्धान्त है मीमांसा शास्त्र का, जिसे वेदान्त भी मानता है। उनके अनुसार श्रुति में केवल उन्हीं विषयों का कथन है जो तर्क और प्रत्यक्ष से अगम्य हैं। श्रुति लोक-सिद्ध वस्तु का प्रतिपादन नहीं करती। उपनिषदों का प्रतिपाद्य अद्वितीय ब्रह्म लोक-सिद्ध भी नहीं, और तर्कादि से स्वतन्त्र रूप से ज्ञातव्य भी नहीं है। इस प्रकार श्रुति या आगम के अतिरिक्त किसी भी प्रमाण, तर्क और युक्ति का स्वतन्त्र या पृथक् रूप से विषय न होने के कारण ही अद्वितीय ब्रह्म की 'अपूर्वता' सिद्ध होती है। यों तो ब्रह्म स्वयम्प्रकाश होने से सामान्यत: शास्त्र का भी विषय नहीं बन सकता है, फिर भी उसे 'औपनिषद' अर्थात् केवल उपनिषदों के द्वारा गम्य इस कारण से कहा जाता है, क्योंकि उपनिषदों के द्वारा ब्रह्म का प्रतिपादन विषय रूप से नहीं अपितु प्रत्यगात्माऽभिन्न होने के कारण अविषय रूप से ही किया जाता है। प्रत्यगात्मा तो विषय नहीं अपितु विषयी है, तब उससे अभिन्न ब्रह्म भी अविषय ही है।

(३) तदनुष्ठानस्य–तस्य आत्मज्ञानस्य अनुष्ठानस्येति तदनुष्ठानस्य। अर्थात् आत्म-ज्ञान में साधन बनने वाले श्रवण, मनन, निदिध्यासनादि का'। आत्मज्ञान में श्रवणादि की साधन रूप से उपस्थिति रहती है।

(४) उपपत्तिः–इसका अर्थ है युक्ति या तर्क। अद्वितीय ब्रह्म की सत्ता की सिद्धि में जो उपपत्ति या युक्ति ग्रन्थकार ने श्रुति के आधार पर दी है, वह इस प्रकार है–मिट्टी के बने हुए घड़े, सकोरे आदि जितने भी कार्य हैं, वे सब मिट्टी ही हैं, उससे अलग कुछ

भी नहीं। घड़ा, सकोरा आदि नाम केवल वाणी के कार्य हैं। इस प्रकार कार्यों की वस्तुतः कोई सत्ता नहीं, वे नाम-मात्र हैं, मिथ्या हैं। सत्य तो केवल मृत्तिका रूप उनका कारण ही है। इसी प्रकार ब्रह्म रूप कारण से उत्पन्न यह सारा चराचर जगत् रूप कार्य परमार्थतः ब्रह्म ही है, उससे पृथक् जगत् की कोई सत्ता नहीं है। इस प्रकार कार्य के स्व-कारण से अभिन्न होने पर ही एक के विज्ञान से सर्व-विज्ञान की श्रुत्युक्त प्रतिज्ञा सिद्ध होती है, जगत् का ब्रह्म से अभेद सिद्ध होने से ही ब्रह्म का अद्वितीय होना भी सिद्ध होता है।

श्रवण का निरूपण करने के अनन्तर ग्रन्थकार मनन, निदिध्यासन और समाधि का निरूपण करते हैं—

मननं तु श्रुतस्याद्वितीयवस्तुनो वेदान्तानुगुणयुक्तिभिरनवरतमनुचिन्तनम्। विजातीयदेहादिप्रत्ययरहिताद्वितीयवस्तुसजातीयप्रत्ययप्रवाहो निदिध्यासनम्। समाधिर्द्विविधः सविकल्पको निर्विकल्पकश्चेति। तत्र सविकल्पको नाम ज्ञातृज्ञानादिविकल्पलयानपेक्षयाऽद्वितीयवस्तुनि तदाकाराकारितायाश्चित्तवृत्तेरवस्थानम्। तदामृन्मयगजादि-भानेऽपि मृद्भानवद् द्वैतभानेऽप्यद्वैतं वस्तु भासते। तदुक्तम्—

'दृशिस्वरूपं गगनोपमं परं सकृद्विभातं त्वजमेकमक्षरम्।
अलेपकं सर्वगतं यदद्वयं तदेव चाहं सततं विमुक्त[1] ओम्।।इति।।६६।।

श्रवणनिरूपणानन्तरं तदुत्तराङ्गस्य मननस्य लक्षणमाह मननं त्विति। षड्विधलिङ्गतात्पर्यपूर्वकं श्रुतस्याद्वितीयब्रह्मणो वेदान्ताविरोधिनीभिर्युक्तिभिर्नैरन्तर्येणानुचिन्तनं मननमित्यर्थः। निदिध्यासनलक्षणमाह विजातीयेति। विजातीयदेहादिबुद्ध्यन्तजडपदार्थनिराकरणेन सजातीयाद्वितीयवस्तुविषयकप्रत्ययप्रवाहीकरणं निदिध्यासनमित्यर्थः। व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिवप्रादुर्भावे सति चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः समाधिः। स च द्विविध इत्याह सविकल्पको निर्विकल्पकश्च। तस्य लक्षणमाह तत्रेति। तत्र तयोः सविकल्पकनिर्विकल्पकयोर्मध्ये सविकल्पकोऽपि द्विविधः। अहं ब्रह्मास्मीति शब्दानुविद्धतयाद्वितीये वस्तुनि चित्तवृत्तेरवस्थानमित्येकः। द्वितीयस्तु ज्ञातृज्ञानज्ञेयत्रिपुटीविलयानपेक्षयाहं ब्रह्मास्मीति शब्दानुविद्धतयाद्वितीये वस्तुन्यविच्छेदेन चित्तवृत्तेरवस्थानमित्यर्थः। ननु "भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधिः" इतिन्यायेनोक्तसविकल्पकसमाध्योः सकलभेदनिराकरणाय प्रवर्तनात्तयोरपि ज्ञात्रादिभेदविषयत्वेन नाद्वैतवस्तुमात्रभानं तत्रेत्याशङ्कयोत्तरमाह—तदेति। तदा सविकल्पकसमाध्यनुभवकाले ज्ञात्रादिभेदप्रतीतावप्यद्वैतं वस्तु

---

१. कर्नल जैकब-धृत 'विमुक्तमोम्' पाठ सुबोधिनीकार नृसिंह सरस्वती के अनुसार है। इसके विपरीत रामतीर्थ ने विद्वन्मनोरञ्जनी में 'विमुक्त ओम्' पाठ ग्रहण करके तदनुसार अर्थ किया है।

भासत एव। सुवर्णमयकुण्डलादिभाने सुवर्णभानवन्मृन्मयगजादिभाने मृद्भानवच्च गजादिभानस्य वाचारम्भणमात्रत्ववज्ज्ञात्रादिभानस्यापि वाचारम्भणमात्रत्वादद्वैतमेव वस्तु भासत इत्यर्थः। यद्वा, सर्वं खल्विदं ब्रह्मैतदात्म्यमिदं सर्वमित्यादिश्रुतिबलात्सर्वमहमिति गिरिनदीसमुद्रात्मकं सर्वं जगत्स्वाभिन्नसच्चिदानन्दब्रह्मत्वेनानुभूय तस्य दग्धपटन्यायेन प्रपञ्चभानेऽप्यद्वैतं सच्चिदानन्दलक्षणं वस्तु भासत एवेत्यर्थः। तदुक्तं भगवता—"वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ" इति। मूलकारोऽप्यस्मिन्नर्थे ग्रन्थान्तरसम्मतिं दर्शयति तदुक्तमिति। ओमिति यत्परं ब्रह्म तदेवाहमित्यन्वयः। किं तदित्याह दृशिस्वरूपमिति। दृशिर्दृष्टिस्तस्याः स्वरूपं द्रष्टृत्वं तद्यस्य परमात्मस्वरूपस्य तद् दृशिस्वरूपं साक्षित्वरूपमित्यर्थः। तदुक्तं भगवता—"उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः। परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः पर" इति। पुनः किंरूपं तत्। गगनोपमम्। गगनमुपमा दृष्टान्तो यस्य तद्गगनोपमं गगनवन्निर्लेपस्वरूपमित्यर्थः। तथा च भगवद्वचनम्—"यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते। सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यत" इति। यद्वा; गगनोपमं गगनवदमूर्तस्वरूपमित्यर्थः। "आकाशशरीरं ब्रह्म" इति श्रुतेः। पुनः किंभूतम्। सकृद्विभातम्। सकृदेकदैव विभातं सर्वदैकस्वरूपेण भासमानं चन्द्रादिप्रकाशवन्न वृद्धिक्षयशीलमित्यर्थः। पुनः किंरूपम्। अजं जन्मरहितम्। एकं निरस्तसर्वोपाधिभेदम्। अक्षरं विनाशधर्मराहित्येन कूटस्थस्वरूपमित्यर्थः। तथा च भगवानाह—"क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यत" इति। अलेपकमसङ्गत्वादविद्यादिदोषरहितमित्यर्थः। "असङ्गो ह्ययं पुरुष" इति श्रुतेः। सर्वगतं सर्वत्र ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु भूतेषु गतं व्याप्तम्। अद्वयं सजातीयविजातीयभेदराहित्येन द्वितीयरहितम्। सततं विमुक्तमिति सर्वदा कार्यकारणात्मकसर्वोपाधिविनिर्मुक्तत्वेन सततैकरूपमित्यर्थः। तथा च भागवते—"बद्धो मुक्त इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुत" इति। तथा चैतादृशं निरतिशयानन्दं यत्परं ब्रह्म तदेवाहमिति भावयतो निषेधप्रतियोगित्वेन तत्तदुपाधिभानात्तत्प्रयुक्तभेदभानेऽप्यद्वैतं भासत एवेत्यर्थः।।६६।।

अर्थ—जिसका श्रवण किया गया, उस अद्वितीय वस्तु ब्रह्म का वेदान्त के अनुकूल तर्कों के द्वारा निरन्तर चिन्तन करना ही 'मनन' है। विजातीय (बेमेल) शरीरादि-विषयक विचारों से रहित, अद्वितीय वस्तु के सजातीय विचारों को (मन में) प्रवाहित करना ही "निदिध्यासन" है। 'समाधि' दो प्रकार की होती है—(१) सविकल्पक और (२) निर्विकल्पक। उनमें ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय विकल्पों के विलय (समाप्ति) की अपेक्षा बिना किये अद्वितीय वस्तु (ब्रह्म) का आकार धारण करने वाली चित्तवृत्ति का उसमें स्थिर होना 'सविकल्पक' समाधि है। उस समय, जिस प्रकार मिट्टी के बने हुए हाथी आदि (खिलौनों) की प्रतीति होने पर भी वस्तुतः मिट्टी की ही प्रतीति होती है कि यह हाथी वस्तुतः मिट्टी ही है, उसी प्रकार द्वैत की प्रतीति होने पर भी वस्तुतः अद्वैत वस्तु की ही प्रतीति होती

रहती है। ऐसा ही (उपदेशसाहस्री में) कहा गया है—

"जो चैतन्य-घन आकाश के समान (सर्वव्यापक) माया से परे स्थित है, जो सदैव एक समान प्रकाशित होने वाला, जन्म-रहित, एक, (सजातीय तथा विजातीय) भेदों से रहित तथा अविनाशी है, जो निर्लिप्त (अविद्या आदि दोषों से रहित), सर्व-व्याप्त (सब में अनुस्यूत) और अद्वितीय (स्वगत आदि भेदों से रहित) है, वहीं मैं हूँ। अतः सदैव विमुक्त हूँ।" ओम् (१०।१)।

विशेष–(१) वेदान्तानुगुणयुक्तिभिः–इस पद के द्वारा मनुष्य की अनियन्त्रित बुद्धि के द्वारा कल्पित शुष्क तर्कजाल का निराकरण किया गया है। वेदान्त दर्शन में तर्क का स्थान तो है किन्तु सत्तर्क का, जो कि उसके द्वारा कथित-प्रतिपादित सिद्धान्त में साधक को प्रतिष्ठित करने में सहायक हो। इसे ही श्रुति का अनुगुण अर्थात् अनुकूल तर्क कहा है। श्रुति-निरपेक्ष शुष्क कुतर्क के लिए वेदान्त में कोई स्थान नहीं है। श्रुति के द्वारा तत्त्व का निश्चय करने के अनन्तर विरोधी या प्रतिपक्षी वितर्कों के निराकरण के लिए श्रुत्युक्त सत्य के अनुकूल तर्क का ग्रहण 'मनन' प्रक्रिया में होता है। एवं मननान्तर्गत असम्भावना आदि दोषों का निराकरण करने वाले तर्कों या युक्तियों का भी ग्रहण होता है। ऐसे तर्क की मनुस्मृति में भी प्रतिष्ठा की गई है–

आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः।।–१२।१०६

'तर्काप्रतिष्ठानात्...' इत्यादि ब्रह्मसूत्र के भाष्य में शङ्कराचार्य ने कुतर्क के अप्रतिष्ठित होने की ओर साधक का ध्यान आकृष्ट किया है, ताकि वह उससे प्रयत्नपूर्वक बचे। अप्रतिष्ठित-अनियन्त्रित तर्क से किसी भी सत् सिद्धान्त की प्रतिष्ठा में सहयोग नहीं मिल सकता। हाँ, उसे उखाड़ने या अप्रतिष्ठित करने में जरूर वह सहायक होता है।

(२) निदिध्यासन–यह शब्द निपूर्वक-ध्यै धातु से सन् तथा ल्युट् प्रत्ययों के लगने से सिद्ध होता है। इसका संक्षेप में अर्थ है 'अविच्छिन्न सजातीय प्रत्यय-प्रवाह, निरन्तर तत्त्वचिन्तन'। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि बाह्य पदार्थों से लेकर बुद्धिपर्यन्त समस्त ज़ड पदार्थ चिद्घन आत्मा के विजातीय पदार्थ हैं। अतः तद्विषयक प्रत्ययों या प्रतीतियों के भी विजातीय होने से उनका परित्याग करके आत्मविषयक सजातीय प्रत्ययों को तैलधारावत् अविच्छिन्न रूप से मन में प्रवाहित करना ही निदिध्यासन है।

(३) सविकल्पक समाधि–सविकल्पक समाधि का अर्थ है वह समाधि जो ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की त्रिपुटी के साथ हो, जिसमें इसका विलय नहीं होता। प्रत्युत इनकी उपस्थिति बनी रहती है। चित्तवृत्ति आत्मतत्त्व से उपरक्त होकर उसी में स्थिर हो जाती है। परन्तु इस बात का भान होता रहता है कि मैं ज्ञाता हूँ, आत्मवस्तु ज्ञेय है, और इसके ज्ञान की प्रक्रिया चल रही है। उस स्थिति का वर्णन करते हुए ग्रन्थकार ने स्पष्ट कहा

है कि जिस प्रकार कुम्हार के द्वारा बनाये गये मिट्टी के हाथी में हाथी की प्रतीति होने पर भी उसके मिथ्यात्व और मिट्टी के सत्यत्व का बोध होता रहता है, उसी प्रकार अद्वैताकार रूप में परिणत हुए चित्त में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की प्रतीति होने पर भी उसके मिथ्यात्व का भान होता रहता है। साथ ही अद्वैत तत्त्व (ब्रह्म) की सत्यता या परमार्थता भी भासित होती रहती है।

(४) दृशिस्वरूपम्—(i) दृशिस्वरूपं चैतन्यघनं 'विज्ञानघनं एव' (बृहदा० २।४।१२) इत्यादिश्रुतेः।—विद्वन्मनोरञ्जनी पृ० १३०।

(ii) दृशिर्दृष्टिस्तस्याः स्वरूपं द्रष्टृत्वं, तद् यस्य परमात्मस्वरूपस्य तद् दृशिस्वरूपं साक्षिस्वरूपमित्यर्थः। तदुक्तं भगवता—"उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः। परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः" इति।—सुबोधिनी, पृ० ४६।

(५) सकृद्विभातम्—'सकृद् एकदैव विभातम् सकृद्विभातम्। सर्वदैकरूपेण भासमानं चन्द्रादिप्रकाशवन्न वृद्धिक्षयशीलमित्यर्थः' (सुबोधिनी पृ० ४७) इसका तात्पर्य यह है कि जो एकबार प्रकाशित होने पर, क्षयशील न होने के कारण फिर (दुबारा) प्रकाशित न हो, अर्थात् सर्वदा एक समान प्रकाशित होने वाला। आत्मा की ज्योति घटने-बढ़ने वाली नहीं, नित्य एकरस रहने वाली है।

(६) गगनोपमम्—'गगनोपमं सर्वगतं "आकाशवत् सर्वगतश्च" इत्यादि श्रुतेः'—विद्वन्मनो०, पृ० १३०। इस प्रकार रामतीर्थ के अनुसार यह विशेषण ब्रह्म की सर्वव्यापकता का बोधक है। नृसिंहाश्रम ने इसका अर्थ 'गगनवन्निर्लेपस्वरूप' किया है और इसके प्रमाण में गीता का 'यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते। सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते" श्लोक उद्धृत किया है। किन्तु इसी अर्थ का बोधक 'अलेपकम्' पद उद्धृत श्लोक में ही आगे आया हुआ है। अतः पुनरावृत्ति दोष बचाने के लिए 'यद्वा' इत्यादि पदों से वैकल्पिक अर्थ यह दिया है—गगनोपमं 'गगनवदमूर्तस्वरूपमित्यर्थः', 'आकाशशरीरं ब्रह्म' (तैत्ति० १।६।२) इति श्रुतेः।

(७) अलेपकम्—निर्लिप्त, असङ्ग अविद्यादि दोषों से रहित।

(८) सर्वगतम्—'सर्वेषु गतं व्याप्तम्' अर्थात् ब्रह्मा से लेकर स्थावरजङ्गमात्मक समस्त भूतों में व्याप्त या अनुस्यूत। मुण्डक श्रुति में यह तथ्य स्पष्ट कथित है—'यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः। (२।२।५)। सारी श्रुतियाँ ब्रह्म के सर्वव्यापी होने के विषय में अनेकशः प्रतिपादन करती हैं। कठ० श्रुति इसी तथ्य को 'एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं-रूपं प्रतिरूपो बहिश्च' इत्यादि प्रकार से प्रतिपादित करती हैं।

(९) सततं विमुक्तम्—यह पाठ होने पर अन्वय इस प्रकार होगा—'दृशिस्वरूपं...सर्वगतमद्वयम् विमुक्तं यत् परमक्षरं तदेवाहम् (अस्मि) "अर्थात् जो चैतन्यघन...विमुक्त अर्थात् कार्यकारणात्मकसर्वोपाधिरहित परम तत्त्व है, वही मैं हूँ—'सततं

विमुक्तमिति सर्वदा कार्यकारणात्मकसर्वोपाधिविनिर्मुक्तत्वेन सततैकरूपमित्यर्थः। तथा च भागवते–"वद्धो मुक्त इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुतः (११।११।१) इति'। "सततं विमुक्तः" पाठ होने पर यह 'अहम् (अर्थात् प्रत्यगात्मा) के साथ अन्वित होगा। उस स्थिति में "विमुक्त" का अहम्परक सटीक-सुस्पष्ट अर्थ वह होगा जो मां॰ कारिका "न विरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः। न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता।।" (२।३२) कारिका में प्राप्त होता है। वस्तुतः आत्मा का बन्ध और मोक्ष तो गुणों के कारण है, स्वतः नहीं।

(१०) ओम्–श्लोकान्त में ॐकार का उच्चारण मङ्गलार्थक है। दृशिस्वरूप अर्थात् चिद्घन आत्मा ॐकार-स्वरूप है और वही मैं हूँ, ऐसा तात्पर्य भी यहाँ ग्राह्य है। नृसिंहसरस्वती की 'ओमिति यत् परब्रह्म तदेवाहमित्यन्वयः' (पृ॰ ४५) व्याख्या से यही तात्पर्य प्रकट होता है।

'ओम्' स्वीकृति का भी द्योतक है। गुरूपदिष्ट आत्मा के नित्यमुक्त स्वरूप को स्वीकार करता हुआ साधक उससे अपना तादात्म्य प्रकट करता है।

सविकल्पक समाधि के निरूपण के अनन्तर अब ग्रन्थकार निर्विकल्पक समाधि के स्वरूप का निरूपण कर रहे हैं–

निर्विकल्पकस्तु ज्ञातृज्ञानादिविकल्पलयापेक्षयांद्वितीयवस्तुनि तदाकाराकारितायाश्चित्तवृत्तेरतितरामेकीभावेनावस्थानम्। तदा तु जलाकाराकारितलवणानवभासेन जलमात्रावभासवदद्वितीयवस्त्वाकाराकारितचित्तवृत्त्यनवभासेनाद्वितीयवस्तुमात्रमवभासते। ततश्चास्य सुषुप्तेश्चाभेदशङ्का न भवति। उभयत्र वृत्त्यभाने समानेऽपि तत्सद्भावासद्भावमात्रेणानयोर्भेदोपपत्तेः।।६७।।

निर्विकल्पकसमाधिस्वरूपमाह निर्विकल्पकस्त्विति। अयं च द्विविधः। चिरकालाभ्यस्तयदुत्तरसविकल्पकसमाध्यनुभवजनितसंस्कारसहकृतायाश्चित्तवृत्तेर्ज्ञात्रादित्रिपुटीलयपूर्वकमद्वैते वस्तुन्येकभावनात्मकः प्रथमः। एतन्निर्विकल्पकसमाध्यभ्यासपाटवेन लुप्तसंस्कारतया ज्ञात्रादित्रिपुटीलयपूर्वकमखण्डाकाराकारितायाश्चित्तवृत्तेर्विनापि स्वस्फूर्तिं केवलचिदानन्दात्मनावस्थानात्मको द्वितीयः। यत्र द्वितीयं पक्षमभिप्रेत्याह ज्ञातृज्ञानादीति। नन्वेवं समाधिसुषुप्त्योर्विक्षेपाभावेन वृत्त्यभानादभेदमाशङ्क्य परिहरति ततश्चेति। तत्र युक्तिमाह उभयत्रेति। समाधिसुषुप्त्योरित्यर्थः। तत्सद्भावेति। समाधावज्ञायमानवृत्तिसद्भावात्सुषुप्तौ वृत्त्यभावाच्च तयोर्भेदोपपत्तेरित्यर्थः।।६७।।

अर्थ–ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय विकल्पों के विलीन हो जाने की अपेक्षा से अद्वितीय वस्तु (ब्रह्म) में उसके आकार से आकारित चित्तवृत्ति का आत्यन्तिक रूप से स्थित हो

जाना निर्विकल्पकसमाधि है। उस समय अद्वितीय वस्तु के आकार से आकारित चित्तवृत्ति का भान न होकर अद्वितीय वस्तु (ब्रह्म) मात्र का ही भान होता है, जैसे (जल में घुलने पर) जल का आकार या रूप धारण करने वाले नमक का भान नहीं होता, जल-मात्र का ही भान होता है। इसी से सुषुप्ति और इस (निर्विकल्पक समाधि) में अभेद होने की शङ्का नहीं होती है, क्योंकि दोनों में चित्तवृत्ति का भान न होने की समानता होने पर भी समाधि में उसका अस्तित्व होने और सुषुप्ति में न होने से इन दोनों का भेद सिद्ध होता है।

विशेष—उभयत्र वृत्त्यभाने समानेऽपि तत्सद्भावासद्भावमात्रेणानयोर्भेदोपपत्तेः— सुषुप्ति और निर्विकल्पक समाधि दोनों में ही चित्तवृति का भान नहीं होता। इस माने में दोनों समान हैं। भेद तो इस बात में है कि जहाँ सुषुप्ति में चित्तवृत्ति या बुद्धि ही नहीं रहती, क्योंकि उस समय वह अपने कारण अज्ञान में लय को प्राप्त हो जाती है, उसी के रूप से अवस्थित रहती है, वहाँ निर्विकल्पक समाधि में बुद्धिवृत्ति अखण्डब्रह्म-वस्त्वाकाराकारित रूप से अवस्थित रहती है।[1] निर्विकल्पक-समाधि में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भेद समाप्त हो जाता है, एकमात्र ज्ञेय (ब्रह्म) का ही भान होता है। चित्तवृत्ति अस्तित्व में होती हुई भी निरुद्ध हो जाने से ज्ञेयस्वरूप हो जाती है। यथा जल में विलीन लवण का जल में अस्तित्व होने पर भी लवण का भान नहीं होता, जलमात्र का ही भान होता है। इसी तथ्य को स्वामी विद्यारण्य ने 'ध्यातृध्याने परित्यज्य क्रमाद् ध्येयैकगोचरम्। निवातदीपवच्चित्रं समाधिरभिधीयते।।" कहकर समझाया है। अर्थात् सविकल्पक समाधि में भासित होने वाले ध्याता, ध्यान और ध्येय में से अभ्यास के बल से जब चित्त ध्याता और ध्यान का परित्याग कर देता है और ध्येयमात्र ही उसका विषय रह जाता है, तब वह वायुरहित स्थान में रखे दीपक की लौ की भाँति निष्कम्प, निश्चल हो जाता है। यही निर्विकल्पक समाधि की अवस्था है।

निर्विकल्पक के इस लक्षण से सुषुप्ति और समाधि में अभेद होने की शङ्का भी उठती है किन्तु वह निराधार है। जैसा कि वेदान्तसारकार ने उक्त व्याख्येय पङ्क्तियों में कहा है, सुषुप्ति की अवस्था में चित्तवृत्ति अज्ञान में विलीन हो जाती है और उसकी सत्ता भी समाप्त हो जाती है, जबकि निर्विकल्पक समाधि में चित्तवृत्ति की सत्ता बनी रहती है। केवल उसका निरोध हो जाता है। यही बात माण्डूक्यकारिका में भी कही गयी है—"लीयते हि सुषुप्ते तन्निगृहीतं न लीयते। तदेव निर्भयं ब्रह्म ज्ञानालोकं समन्ततः"। (३।३५) अर्थात् सुषुप्ति में चित्त अपने कारणभूत अज्ञान में लीन हो जाता है जिससे उसका अभाव हो जाता है किन्तु निर्विकल्पक समाधि में निगृहीत हो जाने से उसका केवल भान नहीं होता,

---

१. सुषुप्तौ बुद्धिरेव नास्ति, बुद्धेः कारणात्मनावस्थानस्य तल्लक्षणात्। इह तु बुद्धिवृत्तेरद्वितीय-वस्त्वाकाराकारिताया अवस्थानाङ्गीकारात् सुषुप्तेर्भेदोपपत्तेरित्यर्थः।—विद्वन्मनो०, पृ०१३०

लय न होने से अस्तित्व तो रहता ही है। इसमें प्रमाण यह है कि समाधि से उठने पर अर्थात् व्युत्थान-काल में समाधिकालिक वृत्ति का योगी को 'मैं इतने काल तक समाधि में था' इस रूप में स्मरण होता है और स्मरण सदैव अनुभव-मूलक होता है—यह तो सर्वविदित ही है। इस प्रकार समाधिकालिक चित्तवृत्ति के स्मरण से उस काल में उसके अस्तित्व का अनुमान होता है। यही निगृहीत चित्त कालान्तर में अज्ञानकृत ग्राह्य-ग्राहक रूप मल-द्वय से रहित होकर अद्वय-अभय ब्रह्म हो जाता है, जैसा कि कारिका के शाङ्करभाष्य से स्पष्ट है।[१]

अब निर्विकल्पक समाधि के अंगों का निरूपण ग्रन्थकार कर रहे हैं—

अस्याङ्गानि यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयः। तत्र अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः। शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः। करचरणादिसंस्थानविशेषलक्षणानि पद्मस्वस्तिकादीन्यासनानि। रेचकपूरककुम्भकलक्षणाः प्राणनिग्रहोपायाः प्राणायामाः। इन्द्रियाणां स्वस्वविषयेभ्यः प्रत्याहरणं प्रत्याहारः। अद्वितीयवस्तुन्यन्तरिन्द्रियधारणं धारणा। तत्राद्वितीयवस्तुनि विच्छिद्य विच्छिद्यान्तरिन्द्रियवृत्तिप्रवाहो ध्यानम्। समाधिस्तूक्तः सविकल्पक एव।।६८।।

उक्तसमाधेः साधनापेक्षायामाह अस्याङ्गानीति। तानि च साधनानि क्रमेणोद्दिशति यमेति। यमाद्यष्टाङ्गानि समाधेरन्तरङ्गसाधनानीत्यर्थः। प्रथमं यमस्य लक्षणमाह तत्रेति। तेषु यमाद्यष्टाङ्गेषु मध्येऽहिंसादयः पञ्च यमा अवश्यानुष्ठेया इत्यर्थः। तदनन्तरं नियमानाह-शौचेति। शौचादयः पञ्च नियमा इत्यर्थः। आसनं लक्षयति करेति। प्राणायामलक्षणमाह रेचकेति। "इडया पूरयेद्वायुं मुञ्चेद्दक्षिणयानिलम्। यावच्छ्वासं समासीनः कुम्भयेत्तं सुषुम्णया।" यदा योगी पद्मासन उपविश्य योगमभ्यसति तदा गुल्फाभ्यां गुदमूलं निष्पीड्य खेचरीमुद्रासाहाय्येन प्राणधारणया सुषुम्णामार्गेण मूलाधारात्कुण्डलिनीमुत्थाप्य स्वाधिष्ठानमणिपूरानाहतविशुद्धाज्ञानिर्वाणाख्यषट्चक्रभेदक्रमेण सहस्रदलकमलकर्णिकायां विद्यमानपरमात्मना सह संयोज्य तत्रैव चित्तं निर्वातदीपवदचलं कृत्वा स्वात्मानन्दरसं

---

१. द्रष्टव्य, मा०का० ३।३५ का शां०भा०—लीयते सुषुप्तौ हि यस्मात् सर्वाभिः अविद्यादिप्रत्ययबीजवासनाभिः सह तमोरूपमविशेषरूपं बीजभावमापद्यते तद् विवेकविज्ञानपूर्वकं निगृहीतं निरुद्धं सन्न लीयते तमोबीजभावं नापद्यते तस्माद्युक्तः प्रचारभेदः सुषुप्तस्य सेमाहितस्य (च) मनसः। यदा ग्राह्यग्राहकाविद्याकृतमलद्वयवर्जितं, तदा परमद्वयं ब्रह्मैव तत् संवृत्तमित्यतः तदेव निर्भयम्, द्वैतग्रहणस्य भयनिमित्तस्याभावात्—दशोपनिषच्छाङ्करभाष्य (वाणीविलास प्रेस संस्करण), पृ० ३२२-२३

पिबतीत्येतत्प्राणायामफलम्। स च द्विविधोऽगर्भः सगर्भश्चेति। "मुञ्चेद्दक्षिणया वायुं मात्राहीनमनन्यधीः। पूरयेद्वामया तद्वत्कुम्भयेच्च सुषुम्णया। यावच्छ्वासं जितश्वासो भवेन्मासाज्जितेन्द्रिय" इति। प्रणवोच्चाररराहित्येनोक्त रेचकपूरककुम्भकक्रमेण प्राणनिरोधोऽगर्भप्राणायामः। "रेचयेत्षोडशेनैव तद्-द्वैगुण्येन पूरयेत्। कुम्भयेच्च चतुःषष्ट्या प्रणवार्थमनुस्मरन्" इति वचनात्षोडशसंख्याकं प्रणवं मनसा जपन्दक्षिणया वायुं विरेच्य द्वात्रिंशत्संख्याकं प्रणवं मनसा समुच्चरन्वामया वायुमापूर्य चतुःषष्टिसंख्याकं प्रणवं मनसा जपंस्तदर्थं चाकारोकारमकारार्धमात्रात्मक-सार्धत्रिवलयाकारं कुण्डलिनीरूपं चिदानन्दकन्दं च मूलादिब्रह्मरन्ध्रान्तमनुसन्दधत्सुषुम्णया चित्तमपि तदेकप्रवणं कुर्वन्यावच्छ्वासं कुम्भयेत्। तदुक्तमाचार्यैः—"षोडशतद्-द्विगुणचतुःषष्टि च मात्राणि तानि च क्रमशः। रेचकपूरककुम्भकभेदैस्त्रिविधः प्रभञ्जनायाम" इति प्राणायामप्रकारः। क्रमप्राप्तं प्रत्याहारं निरूपयति—इन्द्रियाणामिति। श्रोत्रादीनामिन्द्रियाणां स्वस्वविषयेभ्यः शब्दादिभ्यः सकाशात्पाषाणोपरिप्रयुक्तः शरसंघातस्तद्वत्प्रत्यावर्तनं प्रत्याहारः। नन्विन्द्रियाणां स्वस्वविषयेभ्यो निवर्तनं प्रत्याहार इत्युक्तं तन्न सम्भवति शब्दादिविषयाणां सुखसाधनत्वेन वैषयिकसुखव्यतिरिक्तनिरतिशयानन्दसद्भावे प्रमाणाभावाद्धैरण्यगर्भाद्यमृतभोगस्येश्वरेणापि त्यक्तुमशक्यत्वादिति चेन्न मूढैः कर्मजडैर्विषयलम्पटैस्त्यक्तुमशक्यत्वेऽपि शुद्धान्तःकरणेन संसाराविद्यकत्वदर्शिना विषयदोषदर्शनेन तुच्छीकृतशब्दादिविषयप्रपञ्चेन पुरुषोत्तमेन त्यक्तुं शक्यत्वात्। अन्यथा संसार एव लोलुप्येत। "तस्मान्न्यासमेषां तपसामतिरिक्तमाहुः", "एतमेव लोकमीप्सन्तः प्रव्राजिनः प्रव्रजन्ति", "एतत्सर्वं भूःस्वाहेत्यप्सु परित्यज्यात्मानमन्विच्छेत्", "त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः", "ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्", "यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेद्वनाद्गृहाद्वा", "सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज", "संसारमेव निःसारं दृष्ट्वा सारदिदृक्षया। प्रव्रजन्त्यकृतोद्वाहाः परं वैराग्यमाश्रिताः। प्रत्यग्विविदिषासिद्ध्यै वेदानुवचनादयः। ब्रह्मावाप्त्यै श्रुतत्यागमीप्सन्तीति श्रुतेर्बलात्", इत्यादिश्रुतिस्मृतिभिस्तथा "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्", "एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति", "एषोऽस्य परमानन्दः", "आत्मैवानन्दः", "यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्", "आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि" इत्यादिश्रुतिभिश्च नित्यात्मसुखस्य प्रतिपादितत्वाच्छब्दादिवैषयिकसुखव्यतिरिक्तनिरतिशयानन्दसद्भावे प्रमाणाभावादित्येतदपि निरस्तं बोद्धव्यम्। सम्प्रति धारणां लक्षयति—अद्वितीयेति। सर्वेषां बुद्धिसाक्षितया विद्यमानेऽद्वितीयवस्तुनि चित्तनिक्षेपणं धारणेत्यर्थः, धारणापाटवाभावेन चित्तस्थैर्याभावात्। अद्वितीयवस्तुनि विच्छिद्य विच्छिद्य चित्तवृत्तिप्रवाहीकरणं ध्यानमित्याह-तत्राद्वितीयेति। समाधिरुक्त एव सविकल्पकः स्मर्तव्य इत्याह-समाधिस्त्विति।।६८।।

अर्थ—इस (निर्विकल्पक समाधि) के अंग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, और समाधि। इनमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, (और)

अपरिग्रह—ये यम हैं। शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान—ये नियम हैं। हाथ, पैर आदि को किसी स्थिति-विशेष में रखना ही जिनका लक्षण है, वे पद्म, स्वस्तिक आदि आसन हैं। जिनका लक्षण रेचक, पूरक और कुम्भक करना है, प्राणवायु को निगृहीत-नियन्त्रित करने के वे उपाय प्राणायाम कहलाते हैं। इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से हटा लेना प्रत्याहार है। अद्वितीय वस्तु में अन्त:करण को लगाना धारणा है। अद्वितीय वस्तु में अन्त:करण की वृत्ति का रुक-रुक कर प्रवाहित होना ध्यान है। समाधि तो पूर्वोक्त सविकल्पक ही है।

विशेष—अस्याङ्गानि यमनियम—समाधय:—इस वाक्य में निर्विकल्पक समाधि के जो आठ अङ्ग गिनाये गये हैं, ये ही पातञ्जल योगसूत्र २।२९ "यमनियमासनप्राणायाम-प्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि"— में योग के आठ अङ्ग कहे गये हैं। इससे यह तथ्य प्रकट होता है कि शाङ्करवेदान्त योगदर्शन की साधन-प्रक्रिया की उपयोगिता को स्वीकार करता है। ब्रह्मसूत्र २।१।३—एतेन योग: प्रयुक्त:—के भाष्य में शङ्कराचार्य ने "इयमभ्यधिकाशङ्काऽतिदेशेन निर्वर्त्यते, अर्थैकदेशसम्प्रतिपत्तावप्यर्थैकदेशविप्रतिपत्ते: पूर्वोक्ताया दर्शनात्।" कथन करके इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि यद्यपि योगदर्शन का एक अंश अर्थात् सिद्धान्त-पक्ष में अद्वैत वेदान्त से स्पष्ट मतभेद है, तथापि एक अंश अर्थात् प्रक्रिया-पक्ष में सम्प्रतिपत्ति, साम्य, ऐकंमत्य है। किन्तु इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि योगाङ्गों को अद्वैतवेदान्त में, अधिकाधिक स्थान देने की प्रवृत्ति परवर्ती आचार्यों में विशेष रूप से देखी जाती है। परिव्राजकाचार्य सदानन्दयति ऐसे अद्वैतियों में अग्रगण्य हैं।

(१) यम—यम (उपरमे) धातु से "यम: समुपनिविषु च" (अष्टा० ३।३।६३) सूत्र से अप् प्रत्यय लगने पर निष्पन्न होता है, ऐसा भट्टोजि मानते हैं (एषु अनुपसर्गे च यमेरप् वा—सि०कौ०)। किन्तु माधवाचार्य ने अपनी धातुवृत्ति में अप् की जगह अच् प्रत्यय माना है ('यमस्समुपनिविषु च' पक्षेऽच्, तदभावे घञ्—पृ० २८३) जो ठीक नहीं लगता, क्योंकि अच् प्रत्यय के अपवाद-सूत्र "ॠदोरप् ३।३।५६ से अप् का ही प्रकरण ३।३।६४ तथा उसके आगे तक चलता है। इसी से प्रस्तुत सूत्र में अप् की अनुवृत्ति होती है, अमरकोश की अपनी टीका में कृष्णमित्र ने भी भट्टोज़ि का ही अनुसरण किया है (अमर० ३।२।१८)। "शरीरसाधनापेक्षं नित्यं यत् कर्म तद्यम:" (अमर० २।७।४८) के अनुसार शरीर रूप साधन से नित्य किया जाने वाला कर्म 'यम' है। इसे स्पष्ट करते हुए कृष्णमित्र ने "यच्छत्यनेनेति यम: शरीरमात्रेणं साध्यं यावज्जीवं कर्म सत्यास्तेयादि" कहा है। इससे स्पष्ट है कि अहिंसा सत्य इत्यादि पञ्च यम यावज्जीवन करणीय हैं, जब कि 'नियम' यावज्जीवन करणीय न होकर हेतु-विशेष से समय-समय पर करणीय है। अमर०२।७।४९ की "नियमस्तु स यत्कर्मानित्यमागन्तुसाधनम्" एवं उसकी टीका से यह

बात स्पष्ट है–"नतु यावज्जीवम्। आगन्तुभिः समयविशेषादिभिर्हेतुभिः साध्यमुपवासस्नानादि, तन्नियमः" (पृ० २७८)। इसके विपरीत टीकाकार महेश्वर ने 'यत् कर्म नित्यमागन्तु०' पाठ मानकर यत् कर्म बाह्य साधनं नित्यं, स नियमः' इत्यादि अर्थ किया है। इससे लगता है कि 'नियम' के नित्यानित्यत्व को लेकर मतभेद पहले से ही रहा है। आगे नियम के प्रसंग में इस पर विचार होगा।

'यच्छत्यनेनेति यमः' इस विग्रह का तात्पर्य यह है कि जिस अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह रूप निषेधात्मक कर्म-पञ्चक द्वारा अपने को हिंसा, असत्यभाषण, स्तेय अर्थात् चोरी, मैथुन तथा आध्यात्मिक साधना के लिए अनपेक्षित पदार्थों के संग्रह आदि निषिद्ध कर्मों को करने से रोकता है, वे नियन्त्रणात्मक कर्म 'यम' हैं। इन नियन्त्रणात्मक कर्मों से इन्द्रियाँ नियन्त्रित होती हैं। इन पाँच कर्मों के स्वरूप इस प्रकार हैं–"वाङ्मनःकायैः परपीडावर्जनमहिंसा" (विद्वन्मनो०); 'अहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः' (योगभाष्य)। अर्थात् वाणी, मन और शरीर से दूसरों को पीड़ा न पहुँचाना, सर्वथा-सर्वदा सभी प्राणियों के साथ द्रोहरहित होना अहिंसा है। सत्यं यथार्थं भाषणम् (विद्वन्०)। अर्थात् यथार्थ भाषण करना 'सत्य' है। यह यथार्थ भाषण सर्वभूतहितकर होना चाहिए। यदि किसी यथार्थ भाषण से किसी प्राणी को कष्ट होता है तो ऐसा सत्य पुण्य नहीं प्रत्युत पुण्याभास अर्थात् पाप का ही कारण होगा, क्योंकि पूर्वोक्त अहिंसा का अतिक्रमण इससे होता है। योगसूत्र-भाष्यकार व्यासदेव ने इस तथ्य को सुस्पष्ट करते हुए कहा है कि–"सत्यं यथार्थे वाङ्मनसे। यथा दृष्टं यथाऽनुमितं यथा श्रुतं तथा वाङ् मनश्चेति। परत्र स्वबोधसङ्क्रान्तये वागुक्ता, सा यदि न वञ्चिता भ्रान्ता वा प्रतिपत्तिबन्ध्या वा भवेदिति। एषा सर्वभूतोपकारार्थं प्रवृत्ता न भूतोपघाताय। यदि च एवमप्यभिधीयमाना भूतोपघातपरैव स्यात्, न सत्यं भवेन् पापमेव भवेद्। तेन पुण्याभासेन पुण्यप्रतिरूपकेण कष्टतमं प्राप्नुयात्, तस्मात् परीक्ष्य सर्वभूतहितं सत्यं ब्रूयात्।"

स्वेच्छा से न दी हुई परायी वस्तु को ग्रहण करने से बचना 'अस्तेय' है। इतना ही नहीं परायी वस्तु के प्रति स्पृहा तक न होना अस्तेय है, क्योंकि किसी वस्तु के अपहरण के पूर्व ही एतद्विषयक भाव मन में उठते हैं जो अस्तेय-क्रिया की निष्पत्ति के प्रथम पादन्यास हैं। अतएव दूसरे की वस्तु का केवल अपहरण करना ही नहीं अपितु उसके प्रति स्पृहा भी न करना 'अस्तेय' है। अर्थात् मनोभौतिक (Psyco-physical) रूप से परायी वस्तु के अपहरण से विरत रहना ही 'अस्तेय' है। व्यासदेव के 'स्तेयमशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परतः स्वीकरणम्। तत्प्रतिषेधः पुनरस्पृहारूपमस्तेयमिति (योगभाष्य २।३०) इस वचन का यही तात्पर्य है। सच बात तो यह है कि चोरी का प्रतिषेध-रूप अस्तेय मुख्यतः स्पृहा-रूप मनोवृत्ति का ही प्रतिषेध है, क्योंकि शरीर से चौर्य कर्म करने के पूर्व तद्विषयक विचार मन में उठते हैं, अन्यथा तो चोरी सम्भव ही नहीं हो सकती।

ब्रह्मचर्य है–'गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः', (व्यासभाष्य २।३०) अर्थात् उपस्थ (जननेद्रिय) नामक गुप्तेन्द्रिय का निग्रह। अथवा यह भी अर्थ हो सकता है कि जितेन्द्रिय व्यक्ति का अपनी उपस्थेन्द्रिय पर संयम रखना ब्रह्मचर्य है। इस वैकल्पिक अर्थ को देने का रहस्य यह है कि केवल उपस्थ-कृत मैथुन कर्म पर ही नहीं प्रत्युत उसके लिए उत्तेजना देने वाले स्मरण, सम्भाषण, स्तन-जघन इत्यादि अंगों के स्पर्श इत्यादि कर्मों पर भी नियंत्रण अत्यावश्यक है, क्योंकि इसके अभाव में वास्तविक मैथुन कर्म पर नियंत्रण करने का प्रयास सफल नहीं हो सकता। इसी कारण से धर्मशास्त्र, स्मृति आदि ग्रन्थों में अष्टविध सभी कर्मों को 'मैथुन' कहा गया है।

तात्पर्य यह हैं कि मात्र उपस्थेन्द्रिय पर नियंत्रण से ही ब्रह्मचर्य सम्भव नहीं है अपितु स्मरणादि मैथुनों का भी त्याग कर वीर्य की रक्षा करना ब्रह्मचर्य है। इसीलिए रामतीर्थ का कथन है 'ब्रह्मचर्यमष्टाङ्गमैथुनवर्जनम्'। अपने समर्थन में रामतीर्थ ने दक्षसंहिता भी उद्धृत की है जो इस प्रकार है–

"स्मरणं कीर्त्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च।
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः"।।–दक्षसंहिता, अ०७

'अपरिग्रह' है–'समाध्यनुष्ठानानुपयुक्तस्य वस्तुमात्रस्यासंग्रहः' (विद्वन्मनो०) अर्थात् समाधि के अनुष्ठान में अनपेक्षित वस्तुओं का परित्याग। साधक को चाहिए कि वह जिन और न्यूनातिन्यून कोपीन, दण्ड, कमण्डल, आसन इत्यादि जितनी भर वस्तुओं की निर्वाहमात्रार्थ अपेक्षा हो उतनी ही अपने पास रखे एवं उससे अधिक का परित्याग कर दे। विषयभोग की वस्तुओं से तो सर्वथा-सर्वदा दूर ही रहे। इस प्रकार समाधि की असाधनभूत जो वस्तुएं हैं, उनका संग्रह न करना 'अपरिग्रह' है। सांसारिक वस्तुओं के प्रति आसक्ति बहुत ही कष्टदायिनी होती है। सर्व प्रथम तो उसका अर्जन तथा दूसरा अर्जित की रक्षा करना बड़ा ही कष्टदायक होता है और कालान्तर में उसके नष्ट हो जाने का क्लेश भी व्यक्ति को बहुत ही व्यथित करता है। इस प्रकार के सातत्य से व्यक्ति क्लेशं से आत्यन्तिक रूप से सम्पृक्त हो जाता है। विषयों के संग्रह उनके भोग की इच्छा भी उत्पन्न करते ही हैं जो एक प्रकार से कष्ट में ही प्रवृत्ति है, इस लिए विषयों का संग्रह त्याज्य है। इसी दृष्टि से योगभाष्यकार ने कहा है कि "विषयाणामर्जनरक्षणक्षय-सङ्गहिंसादोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रहः" (योगभाष्य २।३०)।

जाति, देश, काल और समय (आचार-परम्परा) से सीमित न होते हुए, सार्वदेशिक और सार्वकालिक ये यम 'महाव्रत' कहे जाते हैं। ऐसा ही महर्षि पतञ्जलि का कथन है–"जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्" (योगसूत्र २।३१)।

(२) नियम–यम की ही तरह नियम भी पाँच हैं– "शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वर-

प्रणिधानानि नियमाः' (योगसूत्र २।३२)। इसके पूर्व 'यम' के स्वरूप पर विचार करते समय 'नियम' के स्वरूप पर भी संक्षेप से विचार किया गया है। वहाँ यम को यावज्जीवन किया जाने वाला कहा गया है, जबकि 'नियम' को एक मत से नित्य और दूसरे मत से अनित्य अर्थात् हेतु-विशेष से कभी-कभी किया जाने वाला कर्म बताया गया है। द्विविध शौचों में से बाह्य तो स्पष्ट ही हेतु-विशेष से कभी-कभी (दिन भर नहीं) किया जाने वाला कर्म है। इसी प्रकार योगभाष्योक्त कृच्छ्र, चान्द्रायण, सान्तपन इत्यादि व्रत रूप तप भी हेतु-विशेष से समय-विशेष पर ही किये जाने वाले व्रत हैं। स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान, चित्तमलों का आक्षालन रूप आभ्यन्तर शौच तथा सन्तोष तो नित्य ही करणीय हैं। इस प्रकार 'नियम' के अन्तर्गत जो कर्म हैं, वे नित्यानित्य-उभयात्मक हैं, ऐसा प्रतीत होता है।

शौच–जैसा अभी कहा गया, बाह्य तथा आभ्यन्तर के भेद से शौच दो प्रकार का होता है। इसके विषय में याज्ञवल्क्य-गीता का कथन इस प्रकार है–

"शौचं तु द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यन्तरं तथा। मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं भावशुद्धिस्तथान्तरम्।" ईश्वर-गीता में भी प्रायः ऐसा ही कहा गया है–

"बाह्यमाभ्यन्तरं शौचं द्विधा प्रोक्तं द्विजोत्तमाः।
मृज्जलाभ्यां भवेद् बाह्यं मनःशुद्धिरथान्तरम्।।"

योगभाष्यकार ने योगसूत्र (२।३२) की व्याख्या करते हुये 'शौच' को "मृज्जलादिजनितं मेध्याभ्यवहरणादि च बाह्यम्, आभ्यन्तरं चित्तमलानामाक्षालनम्" कहा है। तात्पर्य यह है कि मिट्टी, जल, गोबर इत्यादि से शरीर आदि की सफाई करना, और शुद्ध-पवित्र वस्तुओं को ही खाना-पीना बाह्य शौच है। बाह्य मलिनता से आभ्यन्तर अर्थात् चित्त भी मलिन हो जाता है, यह सर्वानुभूत और सर्वविदित है। इसी लिये बाह्य शौच सर्वथा अपेक्षित है। किन्तु अन्ततः तो यह भी आभ्यन्तरिक शौच एवं तज्जन्य चित्त-प्रसाद के लिए ही होता है, अतः आन्तरिक शौच ही मुख्य है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मान, ईर्ष्या, असूया तथा खिन्नता आदि आन्तरिक अशौच हैं, अतः इनका प्रक्षालन करना ही आभ्यन्तर शौच है। उक्त दोनों प्रकार के शौच से प्रसन्न एवं एकाग्र मन से ही साधक इन्द्रिय-निग्रह में समर्थ होकर अनेक विघ्न पार करके क्रमशः आध्यात्मिक साधना के उच्च-उच्चतर सोपानों पर आरूढ़ होता हुआ, अन्ततः आत्मसाक्षात्कार के उच्चतम शिखर पर आरूढ होने में समर्थ हो जाता है।

सन्तोष–टीकाकार रामतीर्थ ने "सन्तोषो यदृच्छालाभसन्तुष्टिरलाभे चाविषादः" (विद्वन्मनो०) कहा है। अर्थात् प्रारब्धानुसार प्राप्त वस्तु-मात्र से संतुष्टि और न प्राप्त वस्तु के प्रति अविषाद ही संतोष है। भारतीय मनीषियों ने संतोष को परम सुख कहा है। अनिच्छा अथवा परेच्छा–किसी से भी प्रारब्धाधीन अनुकूल या प्रतिकूल वस्तु की प्राप्ति

'यदृच्छालाभ' है। व्यासदेव ने योगभाष्य में 'सन्निहितसाधनादधिकस्यानुपादित्सा' को सन्तोष कहा है। अर्थात् (प्रारब्ध से) उपस्थित जीवन-साधन से अधिक के संग्रह की इच्छा का अभाव ही 'सन्तोष' है।

तप–"तपो द्वन्द्वसहनम्। द्वन्द्वश्च जिघत्सापिपासे शीतोष्णे, स्थानासने, काष्ठमौनाकारमौने च। व्रतानि चैषां यथायोगं कृच्छ्रचान्द्रायणसान्तपनादीनि" (योगभाष्य २।३२)। इसके अनुसार भूख-प्यास, शीत-उष्ण, खड़ा होना–बैठना, काष्ठवत् पूर्ण मौन-वाचिक मौन तथा शरीर की अनुकूलता के अनुसार कृच्छ्र-चान्द्रायण-सान्तपन इत्यादि व्रत द्वन्द्व-सहन हैं। इङ्गित अर्थात् इशारे से भी अपने मन्तव्य को प्रकट न करना काष्ठ-मौन है। मुँह से कुछ न बोलना आकार-मौन है, यद्यपि इङ्गित के द्वारा स्वाभिप्राय-प्रकाशन वर्जित नहीं है। भूख-प्यास में शीत-उष्ण की भाँति परस्पर विरोध न होने पर भी मिथुन-भाव होने में द्वन्द्वता कही जाती है। व्यासदेव के अनुसार कृच्छ्र चान्द्रायणादि व्रत भी 'तप' हैं और योगी के द्वारा परिपालनीय हैं। मनु ने भी पापों के विनाश के लिए किये जाने वाले कृच्छ्र, चान्द्रायण और सान्तपन आदि प्रायश्चित्त-व्रतों को तप कहा है। किन्तु रामतीर्थ ने 'तपो नाशनात् परम्' (महानारा० २१।२) श्रुति का प्रामाण्य मानते हुए भोगों के परित्याग को सबसे बड़ा तप कहा है। साथ ही उन्होंने कृच्छ्र, सान्तपन तथा चान्द्रायणादि व्रतों को धातु-वैषम्य-कारक होने के कारण समाधि का विरोधी कहा है। धातु-वैषम्य की स्थिति में युक्त आहारविहार वाले के लिए ही एकमात्र शक्य योग का अनुष्ठान असम्भव है जिसके कारण रामतीर्थ ने इन्हें समाधि-विरोधी माना है।

स्वाध्याय–"स्वाध्यायान्मा प्रमदः" (तैत्ति० १।११।१) इत्यादि श्रुति-वचनों द्वारा स्वाध्याय का महत्त्व प्रकट किया गया है। स्वाध्याय किसका? उपनिषद् आदि आध्यात्मिक शास्त्रों का, जैसा कि 'उपनिषदमावर्तयेत्' इत्यादि वचनों द्वारा विहित है। योगभाष्यकार ने 'स्वाध्याय' को "प्रणवादिपवित्राणां जपः मोक्षशास्त्राध्ययनं वा" (योगभाष्य २।१, ३२) अर्थात् ओङ्कारादि पवित्र मंत्रों का जप तथा उपनिषदादि मोक्षशास्त्रों का अध्ययन बताया है। "प्रणव" का अर्थ है–ॐ। 'प्रकृष्टं यथा स्यात् तथा नूयते स्तूयते ब्रह्मानेनेति प्रणवः' अर्थात् जिस प्रतीक के द्वारा ब्रह्म की स्तुति की जाय, वह प्रणव है। एकाक्षर और ब्रह्म का प्रतीक होने से ही इसे गीता इत्यादि में 'एकाक्षर ब्रह्म कहा गया है–"ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्। यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्।।" (गीता ८।१३), इस प्रणवात्मक ॐ का जप-चिन्तन 'ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्' (मुण्डक० २।२।६), 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' (छा० १।१।१), 'यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः छन्दोभ्योऽध्यमृतात् सम्बभूव। स मेन्द्रो (परमेश्वर इत्यर्थः शा०भा०) मेधया स्पृणोतु' (तैत्ति० १।४।१) इत्यादि श्रुतिवचनों में प्रतिपादित है। यह जप तीन प्रकार का होता है–श्रव्य, उपांशु तथा मानस। जिसे दूसरा कोई सुन सके, वह श्रव्य कहलाता है। 'उपांशु जप' वह

है जिसे कोई दूसरा न सुन सके। समीपस्थ होने पर भी यह जप सुना नहीं जा सकता। तीसरा जप वह है जिसमें उच्चारणार्थ जिह्वा, ओष्ठादि भी नहीं हिलते, उसे 'मानस' जप कहते हैं। मनु ने कहा है कि दर्श-पौर्णमास आदि विधियज्ञों से ये जप क्रमशः दस, सौ तथा सहस्र गुना अधिक होते हैं (मनु० २।८५)।

ईश्वर-प्रणिधान—योगभाष्य के शब्दों में 'ईश्वरप्रणिधानं सर्वक्रियाणां परमगुरावर्पणं तत्फलसंन्यासो वा' (योगभाष्य २।१) है। योगसूत्र २।३२ (शौचसन्तोषतपः-स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः) के भाष्य में 'ईश्वरप्रणिधानं परमगुरौ सर्वकर्मार्पणम्' कहा गया है। इस प्रकार स्व-कृत समस्त वैदिक-लौकिक कर्मों को, अथवा उनके फलों को परमगुरु परमेश्वर को समर्पित कर देना ईश्वर-प्रणिधान है। इसकी गीता के अनेक सन्दर्भों से पुष्टि होती है। सर्वाधिक सुस्पष्ट भगवद्वचन इस प्रकार हैं—

"अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि।।
अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्"।।—१२।१०,११

भगवद्वचन से स्पष्ट है कि भगवान् श्रीकृष्ण जी ने भगवदर्थ निष्काम कर्म और उसमें भी अशक्त होने पर कर्मों के फलों का त्याग—ये भगवत्प्रसाद के सबसे सरल उपाय बताये हैं। इनके द्वारा भगवदर्चन-भगवदाराधन करके उन्हें प्रसन्न करना एवं उनकी कृपा प्राप्त करना सबसे सरल हैं। जब अर्चन-आराधन चिन्तन, ध्यान या समाधान जैसे मानसिक उपचारों द्वारा किया जाता है, तब वह ईश्वरप्रणिधान कहा जाता है। ऐसा मत विद्वन्मनोरञ्जनीकार रामतीर्थ का है—"ईश्वरप्रणिधानं तस्य मानसैरुपचारैरभ्यर्चनम्" (पृष्ठ १३१)। इसके प्रमाण में उन्होंने श्वेताश्वतर उपनिषद् का "तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये" (६।१८) उद्धृत किया है।

(३) आसन—महर्षि पतञ्जलि "स्थिरसुखमासनम्" (२।४६) कहते हैं—स्थिरं च तत् सुखं चेति स्थिरसुखम्—अर्थात् जो निश्चल तथा सुखकर हो। पद्मासन, वीरासन, भद्रासन, स्वस्तिक, दण्डासन, सोपाश्रय, पर्यङ्क, क्रौञ्चनिषदन हस्तिनिषदन, उष्ट्रनिषदन, समसंस्थान इत्यादि आसनों के उल्लेख योगभाष्य इत्यादि ग्रन्थों में हुये हैं।

"सुखेनैव भवेद् यस्मिन्नजस्रं ब्रह्मचिन्तनम्। आसनं तद् विजानीयान्नेतरत् सुखनाशनम्" (अपरोक्षानु० ११२)। अर्थात् जिस स्थिति में सुख से निरन्तर ब्रह्मचिन्तन होता रहे, उसे 'आसन' कहते हैं। सुख को नष्ट करने वाला आसन "आसन" नहीं है। इन सारे आसनों में 'सिद्धासन' और 'पद्मासन' को योगियों ने प्रमुख माना है—

"आसनेभ्यः समस्तेभ्यो द्वयमेतदुदाहृतम्। एकं सिद्धासनं प्रोक्तं द्वितीयं

पद्मासनम्।।" (गोरक्षसंहिता)।

(४) प्राणायाम–प्राणायाम में रेचक, पूरक और कुम्भक ये तीन क्रियाएं करनी होती हैं। प्राणवायु को नासिका के किसी एक छेद से विशेष रूप से धीरे-धीरे बाहर निकालना 'रेचक' कहलाता है। जिस नासिका-छिद्र से रेचक किया गया हो उसी नासिका-छिद्र से प्राणवायु को अन्दर खींचना 'पूरक' कहलाता है। पूरक से धीरे-धीरे खींची गयी वायु को अन्दर रोक रखना 'कुम्भक' कहलाता है। योगसूत्र के अनुसार प्राणायाम का सामान्य लक्षण है–'तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः (२।४९)। अर्थात् आसन के सिद्ध हो जाने पर बाहर से अन्दर खींची जाने वाली श्वास-वायु एवं अन्दर से बाहर निकाली जाने वाली प्रश्वास वायु की स्वाभाविक गति का विच्छेद प्राणायाम है। श्वास वायु को भीतर रोकने को तथा प्रश्वासवायु को बाहर रोक रखने को कुम्भक कहा जाता है। प्रारम्भ में १,१,१ काल-मात्रा, और थोड़ा अभ्यास हो जाने पर १,२,१ कालमात्रा रेचक, पूरक तथा कुम्भक प्राणायामों में क्रमशः लगनी चाहिए। १,४,१ मात्राओं वाला प्राणायाम दुष्कर है। प्राणायाम द्वारा श्वास-प्रश्वास की गति के विच्छेद से इन्द्रिय तथा मन पर विजय प्राप्त करना सरल हो जाता है।

(५) प्रत्याहार–इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों से हटकर चित्त के स्वरूप का सा हो जाना 'प्रत्याहार' है। योगसूत्र २।५४–"स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः" में ऐसा ही कहा गया है। अपरोक्षानुभूति के अनुसार समस्त सांसारिक विषयों में आत्मभाव का दर्शन कर मन को उसी में लीन कर देना प्रत्याहार है– "विषयेष्वात्मतां दृष्ट्वा मनसश्चितिमज्जनम्। प्रत्याहारः स विज्ञेयोऽभ्यसनीयो मुमुक्षिभिः।।" (श्लोक १२१)। मूल के 'अनुकार इव' को समझाते हुए योगभाष्यकार ने कहा है कि जैसे मधुमक्खियाँ उड़ते हुए मधुमक्खियों के राजा के पीछे उड़ जाती हैं और बैठते हुए उसके पीछे बैठ जाती हैं, वैसे ही इन्द्रियाँ भी चित्त का निरोध होने पर निरुद्ध हो जाती हैं।[1]

(६) धारणा–'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा:' (३।१) इस योगसूत्र एवं इसके भाष्य के अनुसार नाभिचक्र, हृत्पुण्डरीक, शीर्षज्योति, नासिकाग्र इत्यादि आन्तरिक अथवा देवमूर्ति इत्यादि बाह्य देश में चित्त को सात्त्विक वृत्ति द्वारा बाँधना धारणा है। शङ्कर के अनुसार– "यत्र-यत्र मनो याति ब्रह्मणस्तत्र दर्शनात्। मनसो धारणं चैव धारणा सा परा मता।" (अपरोक्षा० १२३) अर्थात् मन का सर्वत्र ब्रह्म को ही देखना एवं उसी में स्थिर हो जाना सर्वोत्तम धारणा है। इसी के अनुरूप सदानन्द का 'अद्वितीये वस्तुन्यन्तरिन्द्रियधारणं धारणा' लक्षण है जिसकी व्याख्या करते हुए नृसिंह सरस्वती ने 'सर्वेषां बुद्धिसाक्षितया विद्यमानेऽद्वितीयवस्तूनि चित्तनिक्षेपणं धारणा' ऐसा कहा है। भागवत में परम पुरुष के

---

१. यथा मधुकरराजं मक्षिका उत्पतन्तमनूत्पतन्ति, निविशमानमनुनिविशन्ते तथेन्द्रियाणि चित्तनिरोधे निरुद्धानि (२।५४ का भाष्य)।

समग्र रूप में चित्त को धारण करना धारणा है एवं समग्र से अवियुक्त चित्त को एकैक पादादि अङ्गों में लगा देना ध्यान है—

"मनः कर्मनिराक्षिप्तं शुभार्थे धारयेद् धिया। तत्रैकावयवं ध्यायेदव्युच्छिन्नेन चेतसा। मनो निर्विषयं युङ्क्त्वा ततः किञ्चन न स्मरेत्"[1] (२।१।१८-१९)।

(७) ध्यान—योग दर्शन में चित्तवृत्ति का तैलधारावत् अद्वितीय ब्रह्म में प्रवाहित होना ध्यान कहा गया है—'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्' (३।२)। अद्वैत वेदान्त में इसे उससे थोड़ा भिन्न माना गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में चित्तवृत्ति का रुक-रुक कर (जलधारावत्) प्रवाहित होना 'ध्यान' कहा गया है। योग के 'ध्यान' की अवस्था यहाँ 'सविकल्पक समाधि' की अवस्था के अनुरूप प्रतीत होती है।

(८) समाधिस्तूक्तः सविकल्पक एव—निर्विकल्पक (समाधि) के आठवें अङ्ग के रूप में जो समाधि बताई गई है वह पूर्वोक्त सविकल्पक समाधि ही है जिसमें ज्ञाता, ज्ञान आदि द्वैत की प्रतीति रहने पर भी अद्वैत तत्त्व की प्रतीति ठीक उसी प्रकार होती है, जैसे मिट्टी के बने हाथी में हाथी की प्रतीति होने के साथ ही उसके उपादान या मूलतत्त्व मिट्टी की भी प्रतीति होती है।

अब निर्विकल्पक के अभ्यास-काल में उत्पन्न होने वाले आन्तरिक विघ्नों का विवरण प्रस्तुत करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं—

एवमस्याङ्गिनो निर्विकल्पकस्य लयविक्षेपकषायरसास्वादलक्षणाश्चत्वारो विघ्नाः सम्भवन्ति। लयस्तावदखण्डवस्त्वनवलम्बनेन चित्तवृत्तेर्निद्रा। अखण्डवस्त्वनवलम्बनेन चित्तवृत्तेरन्यावलम्बनं विक्षेपः। लयविक्षेपाभावेऽपि चित्तवृत्तेः रागादिवासनया स्तब्धीभावाद-खण्डवस्त्वनवलम्बनं कषायः। अखण्डवस्त्वनवलम्बनेनापि चित्तवृत्तेः सविकल्पकानन्दास्वादनं रसास्वादः। समाध्यारम्भसमये सविकल्पकानन्दास्वादनं वा।।६९।।

उक्तयमाद्यष्टाङ्गसहितनिर्विकल्पकसमाधेर्निर्विघ्नानुष्ठानसिद्ध्यर्थं विघ्नज्ञानव्यतिरेकेण निवारणस्य कर्तुमशक्यत्वादस्य चतुरो विघ्नान्दर्शयति एवमस्येति। तत्राद्यं विघ्नं लक्षयति लय इति। लयो द्विविधः। चिरकालमुक्ताष्टाङ्गसहितनिर्विकल्पकसमाध्यभ्यास-पाटवेनातितप्तलोहतलक्षिप्तजलबिन्दुवत्तैलरहितदीपकलिकावच्च प्रत्यगभिन्ने परमानन्दे चित्तवृत्तेर्लयः प्रथमः। द्वितीयस्तु मूर्च्छावस्थावदालस्येन चित्तवृत्तेर्बाह्यशब्दादिविषयग्रहानादरे सति प्रत्यगात्मस्वरूपानवभासनाद्वृत्तेः स्तब्धीभावलक्षणनिद्रारूपः। तत्राद्यमङ्गीकृत्य द्वितीयस्य

---

१. शुभार्थेभगवद्रूपे मनसः धारणां कुर्यात्। अव्युच्छिन्नेन समग्ररूपादवियुक्तेन चेतसा एकमेकं पादाद्यवयवं ध्यायेत्। आश्रयविशेषे सामान्यतश्चित्तस्थिरीकरणं धारणा। अवयवविभावनया तद्दार्ढ्यं ध्यानम्।—श्रीधरी

विघ्नत्वेन तत्त्यागाय तत्स्वरूपमाह–अखण्डेति। द्वितीयं विघ्नमाह–अखण्डेति। अखण्ड-वस्तुग्रहणायान्तर्मुखतया प्रवृत्तायाश्चित्तवृत्तेश्चिदनवलम्बनेन त्रस्तपक्षिवत्पुनर्बाह्य-विषयग्रहणाय प्रवृत्तिर्विक्षेप इत्यर्थः। तृतीयं विघ्नं माह–लयविक्षेपेति। रागादयस्त्रिविधा बाह्या आभ्यन्तरा वासनामात्ररूपाश्चेति। बाह्याः पुत्रादिविषयाः। आभ्यन्तरा मनोराज्यादयः। संस्काररूपा वासनामयाः। तत्रानेकजन्माभ्यस्त-बाह्याभ्यन्तर-रागाद्यनुभवजनितसंस्कारैः कलुषीकृतं चित्तं कथञ्चिच्छ्रवणादिसाधनेनान्तर्मुखमपि चैतन्यग्रहणसामर्थ्याभावान्मध्य एवं स्तब्धीभवति। यथा राजदर्शनाय स्वगृहान्निर्गत्य राजमन्दिरं प्रविष्टस्य कस्यचित्पुरुषस्य द्वारपालनिरोधेन स्तब्धीभावस्तथा परित्यक्तबाह्यविषयस्याखण्डवस्तुग्रहणाय प्रवृत्तस्योद्बुद्धरागादिसंस्कारैः स्तब्धीभावादखण्ड-वस्त्वग्रहणं कषाय इत्यर्थः। चतुर्थं विघ्नमाह–अखण्डेति। उक्तसविकल्पकसमाध्योर्मध्ये द्वितीयः शब्दाननुविद्धत्रिपुटीविशिष्टस्तस्मिन्य आनन्दो बाह्यशब्दादिविषयप्रपञ्चभार-त्यागप्रयुक्तो न तु चैतन्यप्रयुक्तः। यथा निधिग्रहणाय प्रवृत्तस्य निधिपरिपालकभूतप्रेताद्यावृतस्य निधिप्राप्त्यभावेऽपि भूताद्यनिष्टनिवृत्तिमात्रेण कोऽपि महानानन्दो भवति तथा सविकल्पकसमाधावखण्डवस्त्वनवलम्बनेन नित्यानन्दरसास्वादनाभावेऽप्यनिष्टबाह्य-प्रपञ्चनिवृत्तिजन्यानन्दं सविकल्पकरूपं ब्रह्मानन्दभ्रमेणास्वादयति तद्रसास्वादनमित्यर्थः। लक्षणान्तरमाह समाध्यारम्भेति। निर्विकल्पकसमाध्यारम्भकालेऽनुभूय-मानसविकल्प-कानन्दत्यागासहिष्णुतया पुनस्तस्यैवास्वादनं रसास्वाद इत्यर्थः।।६६।।

अर्थ–(आठ) अङ्गों वाली इस निर्विकल्पक समाधि में लय, विक्षेप, कषाय और रसास्वादन (नामक) चार विघ्न होते हैं। अखण्ड वस्तु (ब्रह्म) का अवलम्बन न करने से चित्तवृत्ति का सो जाना ही 'लय' है। अखण्ड वस्तु का अवलम्बन न करने के कारण चित्तवृत्ति का अन्य वस्तुओं का अवलम्बन करना 'विक्षेप' है। लय और विक्षेप के अभाव होने पर भी रागादि वासनाओं के कारण चित्तवृत्ति के स्तब्ध हो जाने से अखण्ड वस्तु का अवलम्बन न करना 'कषाय' है। अखण्ड वस्तु का अवलम्बन न करने पर भी चित्तवृत्ति का सविकल्पक समाधि के आनन्द का आस्वादन करने लगना 'रसास्वाद' है। अथवा (निर्विकल्पक) समाधि के आरम्भ-काल में सविकल्पक के आनन्द का आस्वादन करना 'रसास्वाद' है।

विशेष–निर्विकल्पक की सिद्धि यमादि आठ अंङ्गों के सम्यक् अभ्यास से सम्पन्न होती है। किन्तु यमादि के सम्यक् अभ्यास रहने पर भी कभी-कभी निर्विकल्पक के अभ्यास में अवरोध या विघ्न उत्पन्न हो जाता है जिसके कारण निर्विकल्पक समाधि की सिद्धि में विलम्ब होता है और कभी-कभी तो सिद्धि नहीं भी हो पाती। ये विघ्न या अवरोध चार हैं जो लय, विक्षेप, कषाय और 'रसास्वादन' नाम से जाने जाते हैं। प्रस्तुत प्रकरण में समाधि के ये चारों विघ्न बताये गये हैं। जिनका स्वरूप इस प्रकार है–

(१) लय—जब योगी का चित्त शब्दादि बाह्य विषयों का ग्रहण न करता हुआ ब्रह्म का भी ग्रहण करने में आलस्य कर जाता है, ग्रहण करने से विमुख हो जाता है, तब यह 'लय' कहलाता है। समाधिकाल में जब चित्त शब्दादि विषयों से विरत हो ब्रह्म की ओर अग्रसर होता है, किन्तु आलस्य के कारण उसका भान न होने से निद्रित हो जाता है तो यह समाधि का 'लय' नामक विघ्न कहा जाता है।

(२) विक्षेप—यदि विषयों से विरत चित्त अखण्ड वस्तु की ओर अग्रसर हो किन्तु उसे न प्राप्त कर पाने की दशा में पुनः विषयों का चिन्तन करने लग जाय तो यही विक्षेप है।

(३) कषाय—लय और विक्षेप का विजयी चित्त अनेक जन्मों के विषयासक्ति के संस्कार के कारण न तो अद्वितीय वस्तु का अवलम्बन कर पाता है, और न ही विक्षेप पर विजय प्राप्त कर लेने से विषयों की ओर ही उन्मुख होता है, तो विषय एवं ब्रह्म दोनों के आलम्बन के अभाव में स्तब्ध हो जाता है। यही कषाय है।

(४) रसास्वादन—जब चित्त अखण्ड वस्तु का अवलम्बन न करता हुआ भी उस अखण्ड वस्तु का सविकल्पक समाधि की स्थिति में रसास्वादन करता है, तब यह रसास्वादन नामक विघ्न है। यह अद्वैतरहित द्वैत की स्थिति का आनन्द होता है।

उक्त विघ्नों से रहित चित्त का जब अखण्ड चैतन्य के साथ अभेद हो जाता है, तब यह स्थिति निर्विकल्पक समाधि कही जाती है। इस बात का कथनं ग्रन्थकार करते हैं—

अनेन विघ्नचतुष्टयेन विरहितं चित्तं निर्वातदीपवदचलं सदखण्डचैतन्यमात्रमवतिष्ठते यदा तदा निर्विकल्पकः समाधिरित्युच्यते। तदुक्तम्—

'लये सम्बोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत्पुनः।
सकषायं विजानीयाच्छमप्राप्तं न चालयेत्।
नास्वादयेद्रसं तत्र निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत्'।। इति,
'यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता'।इति च।।७०।।

प्रोक्तविघ्नचतुष्टयनिवृत्तेः फलमाह—अनेनेति। लयादिविघ्नाभावसहितं चित्तं यदा निर्वातदीपवदचलमखण्डचैतन्यमात्रमवतिष्ठते तदा निर्विकल्पकसमाधिरित्यर्थः। लयादिविघ्नसद्भावे तन्निवृत्तिप्रकारे च वृद्धसम्मतिमाह—तदुक्तमिति। पूर्वोक्तनिद्रालक्षणे लये जाते सति तन्निवृत्त्यर्थं चित्तं सम्बोधयेच्चित्तगतजाड्यादिपरित्यागेन चित्तमुद्बोधयेत्। उक्तविक्षेपयुक्तं चित्तं यदा भवति तदा विषयवैराग्यादिना चित्तं शमयेद्बहिर्मुखतां परित्यज्यान्तर्मुखं कुर्यात्। उक्तरागादिकषायसहितं चित्तं यदा भवेत्तदा विजानीयादियं रागादिवासना बाह्यविषयप्रापिका न त्वखण्डवस्तुप्रापिकातो नेयं समीचीनेति विविच्य प्रत्यक्प्रवणवासनायाः सकाशादियं निकृष्टातस्त्याज्येयमिति जानीयादित्यर्थः। यद्वा

सम्यग्वस्तुन्यप्राप्तं चित्तं यदा भवति तदा तच्चित्तं कषायसहितं जानीयात्। तच्चित्तं यावता कालेन रागादिवासनाक्षयसहितं भवति तावत्कालं तच्चित्तं स्वस्थानान्न चालयेदिति न कम्पयेत्। वासनाक्षयानन्तरं चित्तं स्वत एव प्रत्यक्प्रवणं भवतीत्यर्थः। नास्वादयेदिति पूर्वोक्तं सविकल्पकरसं विषयप्रपञ्चभारत्यागजन्यं नास्वादयेन्नानुभवेत्। तत्र युक्तिमाह—निःसङ्ग इति। यतो निःसङ्गो वैषयिकसुखदुःखादिसङ्गरहितोऽतः प्रज्ञया युक्तो भवेत्स्थिरप्रज्ञो भवेदित्यर्थः। तदुक्तं भगवता—"प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्। आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यत" इति। तस्माल्लयादिविघ्नाभावविशिष्टचित्तस्य चिन्मात्रतयावस्थानं निर्विकल्पकसमाधिरित्यर्थः। तत्र भगवानाह—यथा दीप इति।

अथ निर्विकल्पकसमाधौ स्वगुरूपदिष्टमार्गेण यथामति किञ्चिद्विचार्यते। पञ्चभूमिकोपेतस्य चित्तस्य भूमिकात्रयपरित्यागेनावशिष्टभूमिकाद्वयं समाधिरित्युच्यते। कास्ताः पञ्चभूमिकाः। क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रं निरुद्धं चेति पञ्च चित्तभूमिकाः। तत्रासुरसम्पल्लोकशास्त्रदेहवासनासु वर्तमानं क्षिप्तमित्युच्यते। निद्रातन्द्रादिग्रस्तं चित्तं मूढमित्युच्यते। कादाचित्कध्यानयुक्तं बहिर्गमनशीलमप्युक्तक्षिप्ताद्विशिष्टतया विक्षिप्तं। चित्तमित्युच्यते। तत्र क्षिप्तमूढयोः समाधित्वशङ्कैव नास्ति। विक्षिप्ते तु चेतसि विक्षेपान्तर्गततया दहनान्तर्गतबीजवच्चित्तस्य सद्य एव विनाशात्तदपि न समाधिः। एकाग्रतां पतञ्जलिः सूत्रयति—"शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणाम" इति। अस्यार्थः। शान्तोऽतीतः। उदितो वर्तमानः। प्रत्ययश्चित्तवृत्तिः। अतीतप्रत्ययो यं पदार्थं परिगृह्णात्युदितोऽपि तमेव चेद्गृह्णीयात्तदा तावुभौ तुल्यप्रत्ययौ भवतः। तादृश एव चित्तस्य परिणाम एकाग्रतेत्युच्यते। एकाग्रताभिवृद्धिलक्षणं समाधिं सूत्रयति—"सर्वार्थैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य परिणामः समाधिः" इति। रजोगुणेन चाल्यमानं चित्तं क्रमेण सर्वार्थान्पदार्थान्परिगृह्णाति तस्य रजोगुणस्य निरोधाय क्रियमाणेन प्रयत्नविशेषेण दिने दिने योगिनः सर्वार्थता क्षीयत एकाग्रता चोदेति तादृशश्चित्तस्य परिणामः समाधिरित्यर्थः। अस्य समाधेरष्टाङ्गेषु यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहाराः पञ्च बहिरङ्गानि। हिंसादिभ्यो निषिद्धेभ्यो योगिनं कर्मभ्यो यमयन्ति निवर्तयन्तीत्यहिंसादयो यमाः। जन्महेतून् काम्यधर्मान्निवर्त्य मोक्षहेतौ निष्कामधर्मे नियमयन्ति प्रेरयन्तीति शौचादयो नियमाः। यमनियमयोरनुष्ठानवैलक्षण्यं स्मर्यते—"यमान्सेवेत सततं न नित्यं नियमान्बुधः। यमान्पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन्"।। इति। बुद्ध्या यमनियमौ समीक्ष्य यमबहुलेषु प्रयत्नेषु बुद्धिमनुसन्दधीत। आसनप्राणायामप्रत्याहारा व्याख्याताः। ध्यान-धारणासमाधित्रयं मनोविषयत्वात्सम्यक्प्रज्ञातसमाधेरन्तरङ्गं यमादिकं तु बहिरङ्गम्। तथा च केनापि पुण्येनान्तरङ्गे प्रथमं लब्धे सति बहिरङ्गलाभाय नातिप्रयासः कर्तव्यः। यद्यपि पतञ्जलिना भौतिकभूततन्मात्रेन्द्रियाहङ्कारविषयाः सम्प्रज्ञातसमाधयो बहुधा प्रपञ्चितास्तथापि तेषामन्तर्धानाकाशगमनादिसिद्धिहेतुतया मुक्तिहेतुसमाधिविरोधित्वान्नास्माभिस्तत्रादरः

क्रियते। तथा चोक्तं वासिष्ठे—"श्रीराम उवाच। जीवन्मुक्तशरीराणां कथमात्मविदां वर। शक्तयो नेह दृश्यन्त आकाशगमनादिकाः। श्रीवसिष्ठ उवाच। अनात्मविदमुक्तोऽपि सिद्धिजालानि वाञ्छति। द्रव्यमन्त्रक्रियाकालयुक्त्याप्नोत्येव राघव। नात्मज्ञस्यैष विषय आत्मज्ञो ह्यात्मनात्मदृक्। आत्मनात्मनि सन्तुष्टो नाविद्यामनुधावति। ये केचन जगद्भावास्तानविद्यामयान्विदुः। कथं तेषु किलात्मज्ञस्त्यक्ताविद्यो निमज्जति। द्रव्यमन्त्रक्रियाकालयुक्तयः साधुसिद्धिदाः। परमात्मपदप्राप्तौ नोपकुर्वन्ति काञ्चन" इति। आत्मविषयस्तु सम्प्रज्ञातसमाधिर्वासनाक्षयस्य निरोधसमाधेश्च हेतुस्तस्मात्तत्रादरः कृतः। अथ पञ्चभूमिकारूपश्चित्तस्य निरोधलक्षणः समाधिर्निरूप्यते। तं च समाधिं सूत्रयति—"व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणाम" इति। व्युत्थानसंस्काराः समाधिविरोधिनस्ते च निषिद्धहेतुना योगिप्रयत्नेन प्रतिदिनं प्रतिक्षणं चाभिभूयन्ते तद्विरोधिनश्च संस्काराः प्रादुर्भवन्ति। तथा सति निरोध एकैकस्मिन् क्षणे चित्तमनुगच्छति। सोऽयमीदृशश्चित्तस्य परिणामो भवति यदा तदासम्प्रज्ञातसमाधिरुच्यत इत्यर्थः।।७०।।

अर्थ—इन चार प्रकार के विघ्नों से रहित चित्त जब वायु-रहित स्थान में रखे गये दीपक की भाँति निश्चल-निष्कम्प होता हुआ अखण्ड चैतन्य-मात्र रूप से स्थित होता है। तब वह स्थिति निर्विकल्पक समाधि कही जाती है। (तात्पर्य यह है कि अन्य सभी विषयों का सर्वथा त्याग करके अखण्ड चिन्मात्र का अवलम्बन करने वाली अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति ही समाधि है) जैसा कि (मनीषियों द्वारा) कहा गया है—

"लय होने (नींद आ जाने) पर चित्त को जगाना चाहिए। विक्षिप्त (अर्थात् विषयों में भटक गये) चित्त को शान्त करना चाहिए, कषाय (अर्थात् रागादि) से युक्तचित्त को विशेष रूप से समझना चाहिए और शम को प्राप्त हो जाने पर चित्त को चलायमान नहीं करना चाहिए। उस समय रस (सविकल्पकसमाधि-जन्य आनन्द) का आस्वादन नहीं करना चाहिए, (प्रत्युत) विवेकबुद्धि से उसकी ओर से निःस्पृह हो जाना चाहिए।" (माण्डूक्यकारिका ३।४४-४५)। यह भी कहा गया है कि—

"जिस प्रकार वायु-रहित प्रदेश में रखा हुआ दीपक निश्चल-निष्कम्प होता है, वही उपमा (योगी के समाहित चित्त की) बताई गई है।" (भगवद्गीता ६-१९)। तात्पर्य यह है कि योगी का अखण्ड चैतन्य-मात्र रूप से अवस्थित समाहित चित्त निवातस्थ दीप की निष्कम्प-अचल ज्योति (लौ) की भाँति सतत प्रकाशरूप से स्थित रहता है।

विशेष—लय अवस्था में मन यद्यपि प्रसन्न रहता है, फिर भी अद्वैत की स्थिति में विघ्न-स्वरूप होने के कारण वह निगृहीतव्य है। समाधि के लिए लय की अवस्था को प्राप्त चित्त को जगाना आवश्यक है। यदि विषय-चिन्तन की ओर मन प्रवृत्त हो रहा हो तो वैराग्य की भावना से उसे शान्त करना चाहिए। कषाय-युक्त चित्त को, मेरा चित्त कलुषित

है, ऐसा समझकर उसे एकरस अद्वितीय ब्रह्म में ही केन्द्रित करना चाहिए। लय, विक्षेप और कषाय से रहित शान्त चित्त को चञ्चल नहीं होने देना चाहिए। सविकल्पक समाधि में साधक को जो सुख मिल रहा था, उसका न तो आस्वादन करना चाहिए और न ही उसके प्रति आसक्ति रखनी चाहिए। अपितु, यह सुख अविद्या-परिकल्पित होने के कारण मिथ्या है—ऐसा सोच कर उससे निःस्पृह हो जाना चाहिए। उसे बुद्धिपूर्वक सविकल्यकसमाधि के आनन्द से असम्पृक्त रहना चाहिए।

इस प्रकार चारों विघ्नों की निवृत्ति हो जाने पर योगी का चित्त वायु-रहित प्रदेश में रखे हुए दीपक की भाँति निश्चल हो जाता है। जैसा कि माण्डूक्य-कारिका में कहा गया है कि—

"यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः।
अनिङ्गनमनाभासं निष्पन्नं ब्रह्म तत्तदा"।।—३।४६

अर्थात् जब चित्त न लय को प्राप्त होता है और न विक्षेप को, एवं वायु-रहित प्रदेश में रखे दीपक की लौ के समान निश्चल होकर अपना अवभास खो देता है तब वह ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार समाधि-पर्यन्त साधनों के अनुष्ठान से पूर्वोक्त प्रकार से आत्म-साक्षात्कार हो जाने पर अविद्या और उसका समस्त कार्य (संसार) निवृत्त हो जाता है। यदि उसी समय प्रारब्ध का भोग समाप्त होने से योगी का शरीर-पात हो जाय तो उसे सद्यः मुक्ति मिल जाती है जिसे "विदेह मुक्ति" कहा जाता है। ऐसा ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म में लीन हो जाता है, उसके साथ एकीभाव को प्राप्त हो जाता है। किन्तु प्रारब्ध के शेष रहने पर भोग द्वारा उस का क्षय होने तक ब्रह्मवेत्ता का शरीर उसी प्रकार चलता रहता है, जैसे दण्ड से चलाई गई चाक उसके हटा लिये जाने पर पूर्व वेगारब्ध संस्कार से तब तक चलती रहती है जब तक कि वह 'वेग' चक्कर काटने से समाप्त नहीं हो जाता। 'तिष्ठति संस्कार-वशाच्चक्रभ्रमिवद् धृतशरीरः' (सांख्य का० ६७) कथन द्वारा ईश्वरकृष्ण भी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं। शरीर धारण करते हुए बन्धन-विमुक्त होने से उसे 'जीवन्मुक्त' (जीवन् एव मुक्तो जीवन्मुक्तः) कहा जाता है।

अथ जीवन्मुक्तलक्षणमुच्यते। जीवन्मुक्तो नाम स्वस्वरूपाखण्डब्रह्मज्ञानेन तदज्ञानबाधनद्वारा स्वस्वरूपाखण्डब्रह्मणि साक्षात्कृतेऽज्ञानतत्कार्य-सञ्चितकर्मसंशयविपर्ययादीनामपि बाधितत्वादखिलबन्धरहितो ब्रह्म-निष्ठः।

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे"।।इत्यादिश्रुतेः।।७१।।

एतत्समाधिद्वयं जीवन्मुक्तस्यैव सम्भवति नान्यस्येति मनसि निधाय प्रथमं जीवन्मुक्तस्वरूपं प्रतिपादयितुं प्रतिजानीते—अथेति। तस्य लक्षणमाह—जीवन्मुक्तो नामेत्यादिना ब्रह्मनिष्ठ इत्यन्तेन। अत्राखिलबन्धरहितो ब्रह्मनिष्ठो जीवन्मुक्त इति तस्य लक्षणम्। जीवतः पुरुषस्य हि कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखदुःखलक्षणोऽखिलो यश्चित्तधर्मः स क्लेशरूपत्वाद्बन्धो भवति तेन रहितः परित्यक्तबन्धनो ब्रह्मणि निष्ठा तदेकपरता यस्य स ब्रह्मनिष्ठो जीवन्मुक्त इत्यर्थः। सकलबन्धराहित्ये हेतुमाह—स्वस्वरूपेति। गुरुश्रुतिस्वानुभवैर्ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानेन मूलाज्ञान-तत्कार्यसञ्चितकर्मादीनामपि बाधितत्वात्सर्वबन्धराहित्यमुपपद्यते। तथा च श्रुतिः—भिद्यत इति।।७१।।

अर्थ—अब जीवन्मुक्त का लक्षण कहा जा रहा है। जीवन्मुक्त वह है जो अपने स्वरूपभूत अखण्ड ब्रह्म के ज्ञान से तद्विषयक अज्ञान के बाध द्वारा अपने स्वरूपभूत अखण्ड ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाने पर अज्ञान और उसके कार्य, सञ्चित कर्म, संशय, विपर्यय आदि के भी बाधित हो जाने पर सम्पूर्ण बन्धनों से रहित ब्रह्मनिष्ठ (ब्रह्मवेत्ता) है।

"उस परापर, अर्थात् कारणकार्यात्मक (सर्वात्मक) ब्रह्म का (आत्मभाव से) दर्शन कर लेने पर इस (जीवन्मुक्त) के हृदय की गाँठें खुल जाती हैं, सभी प्रकार के संशय नष्ट हो जाते हैं, एवं (प्रारब्ध को छोड़कर) सभी कर्म क्षीण हो जाते हैं।" (मुण्डको० २।२।८) इत्यादि श्रुति से (जीवन्मुक्त का पूर्वोक्त लक्षण प्रमाणित-समर्थित होता है)।

विशेष—(१) जीवन्मुक्त—जीते हुए ही मुक्त—कर्मबन्धनों से रहित हो जाना। साधक को यह स्थिति तब प्राप्त होती है जब वह चित्त के कर्त्तृत्व-भोक्तृत्व, सुख-दुःखादि धर्मों को आत्मधर्म समझना बन्द कर देता है। यह स्थिति उसे तब प्राप्त होती है जब उसे ब्रह्म के साथ अपनी अभिन्नता, अपने ऐक्य का ज्ञान होने के अनन्तर ब्रह्मसाक्षात्कार के उदय के साथ ही अज्ञान—देहबुद्ध्यध्यास—का बाध हो जाता है। अखण्ड ब्रह्म का साक्षात्कार होते ही अज्ञान और अज्ञान-मूलक सम्पूर्ण प्रपञ्च की निवृत्ति हो जाती है, जिससे साधक चित्तधर्म के बन्धनों से मुक्त हो जाता है। इसी तथ्य को उद्धृत मुण्डक श्रुति "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशया..." इत्यादि श्लोक द्वारा कथित है। इस प्रकार ब्रह्मज्ञान को ही जीवन्मुक्ति का साधन कहा गया है। श्रवण-मननादि साधन के अनुष्ठान से जो ब्रह्मज्ञान अपेक्षित है, वह साधन-रूप परोक्ष ब्रह्मज्ञान होता है। यह श्रुत-मत ज्ञान सतत निदिध्यासन के द्वारा कालान्तर में साक्षात्कार अर्थात् अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान में परिणत हो जाता है।

(२) अखण्डब्रह्मज्ञानेन तदज्ञानबाधन द्वारा................बाधितत्वात्—"तदज्ञानबाधन-द्वारा" यह पद ब्रह्मसाक्षात्कार की प्रक्रिया की ओर संकेत करता है। "मैं ब्रह्म हूँ" इस प्रकार अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति का उदय होने पर पहले ब्रह्म-विषयक अज्ञान का विनाश होता है, तब ब्रह्म-साक्षात्कार होता है। तब न अज्ञान रहता है, न संसार और न चित्त-वृत्ति एवं चिदाभास ही, क्योंकि ब्रह्मसाक्षात्कार हो जाने पर सदसदनिर्वचनीय अज्ञान

एवं तज्जन्य सूक्ष्म एवं स्थूल कार्य बाधित हो जाते हैं। साथ ही उस अज्ञान के फलभूत सञ्चित कर्म, संशय और विपर्यय–सभी का बाध हो जाता है।

(३) सञ्चित–प्रस्तुत खण्ड में 'सञ्चित' तथा अगले खण्ड में क्रियमाण और प्रारब्ध का उल्लेख है। ये कर्म तीन प्रकार के होते हैं–(१) सञ्चित कर्म, (२) प्रारब्ध कर्म, (३) क्रियमाण कर्म। इनमें ज्ञानोत्पत्ति से पूर्व किये गये कर्म, जिन्होंने अभी फल देना प्रारम्भ नहीं किया है, सञ्चित कर्म कहलाते हैं।[1] जिन कर्मों का भोग जीव को प्राप्त हो रहा है, जिनके कारण वर्तमान शरीर है, प्रारब्ध कर्म कहलाते हैं। क्रियमाण कर्म वे हैं जिन्हें व्यक्ति इस जन्म में करता है। ग्रन्थ की पङ्क्तियों में जो सञ्चित कर्म का बाधित होना कहा गया है उन (संचित कर्मों) में क्रियमाण कर्मों का भी अन्तर्भाव है, क्योंकि ज्ञानोदय के पूर्व के क्रियमाण कर्म तो सञ्चित की कोटि में आ जाते हैं और ज्ञानोत्तरकाल तथाकथित क्रियमाण कर्म कर्तृत्वं-बुद्धि के न होने से स्वतः बाधित हो जाते हैं, बनते ही नहीं। अतएव मात्र प्रारब्ध कर्म ही शेष बचते हैं। उनका बिना भोग के नाश नहीं होता। ध्यान देने योग्य है कि मन, वाणी और शरीर से क्रियमाण जो भी कर्म हैं, वे क्रिया के समाप्त होते ही संचित कर्म हो जाते हैं।

(४) संशयविपर्ययादीनामपि बाधितत्वात्–देहादि से भिन्न शुद्ध चैतन्यात्मा के अस्तित्व में विचिकित्सा होना, अथवा ब्रह्मात्म-विज्ञान से मोक्ष होता है या नहीं, ऐसी विकल्प-बुद्धि का प्रकट होना संशय है।[2] देहादि–आत्मा से भिन्न–पदार्थों में आत्मबुद्धि का होना विपर्यय या विपरीत ज्ञान है। जीवन्मुक्ति के समय सञ्चित कर्म के साथ ये संशय, विपर्यय तथा बाह्य प्रपञ्च में सत्यत्व की धारणा भी बाधित हो जाती है।

(५) ब्रह्मनिष्ठ–इसका विशेषण 'अखिलबन्धरहितः' दिया गया है, जिसका तात्पर्य है कि मुक्ति से भिन्न दशा में जीव सांसारिक बन्धनों में जकड़ा रहता है तथा जीवनमुक्त होने की स्थिति में अखिल ऐहिक एवं आमुष्मिक बन्धनों को तोड़कर अखण्ड सच्चिदानन्द ब्रह्म में अवस्थित हो जाता है। इसी को ब्रह्मनिष्ठ कहा जाता है। जैसा कि रामतीर्थ ने लिखा है कि "ब्रह्मनिष्ठत्वं वेदान्तवेद्यब्रह्मात्मनावस्थितत्वम्" अर्थात् वेदान्तवेद्य ब्रह्म रूप से अवस्थित हो जाना ही ब्रह्मनिष्ठता है। सुबोधिनी टीका में इस बात को इस प्रकार कहा गया है कि ब्रह्म में निष्ठा अर्थात् 'तदेकपरता' जिसमें है, वह ब्रह्मनिष्ठ है। यहाँ निष्ठा का अर्थ 'तदेकपरता' के बजाय 'एकीभाव' लेना अधिक अच्छा है, जिससे अतिव्याप्ति न हो।

---

१. सञ्चितं कर्म ज्ञानोत्पत्तेः प्रागुत्पन्नमनारब्धम्।–विद्वन्मनोरञ्जनी, पृष्ट १३२

२. संशयो देहाद्यतिरिक्तो ब्रह्मस्वरूप आत्मा भवति न वेति, अथवा ब्रह्मात्मविज्ञानान्मोक्षो भवेन्न वेत्यादिविचिकित्सा। विपर्ययो देहादिषु आत्माभिमानादिलक्षणः। आदिशब्दाद् ब्राह्मप्रपञ्चे सत्यत्वबुद्धिः। एतेषां बाधितत्वान्मुक्त इत्यर्थः।–विद्वन्मनोरञ्जनी, पृ० १३२

इस प्रकार यह स्पष्ट हुआ कि समस्त बन्धनों से रहित तथा ब्रह्म में एकीभाव को प्राप्त होने वाला ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मज्ञ है।

(६) तस्मिन्दृष्टे परावरे–'परावर' ब्रह्म का विशेषण है। पूर्वभावी होने से 'पर' कारण को और पश्चाद्भावी होने से 'अवर' कार्य को कहते हैं। ब्रह्म ही कार्य और कारण दोनों होता है। इसी कारण इसे सर्वात्मक कहा गया है। इससे भिन्न वस्तु का नित्य अभाव रहता है। ब्रह्म से जो कुछ भी भिन्न प्रतीत होता है, वह बाधित हो जाता है। रामतीर्थ ने अपनी विद्वन्मनोरञ्जनी टीका में 'परावरे' की अलग व्याख्या की है। उनके अनुसार– "पर (सर्वश्रेष्ठ) हिरण्यगर्भ भी जिसकी अपेक्षा अवर (न्यून) है, उस ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर" हृदय की अहंकार रूपी गाँठ खुल जाती है। बिना इसके खुले मनुष्य दुःख-बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता। शङ्कराचार्य ने बुद्धि में रहने वाले अविद्यायुक्त काम को हृदयग्रन्थि कहा है जो आत्मतत्त्व का साक्षात्कार होने पर विनष्ट हो जाती है।–"हृदयग्रन्थिरविद्यावासनाप्रचयो बुद्ध्याश्रयः काम, 'कामा येऽस्य हृदि श्रिताः' इति श्रुत्यन्तरात्" (मुण्डको० २।२।८ का शां०भा०)। वस्तुतः काम को अविद्यावासनाप्रचयः कहने से उसकी ग्रन्थिरूपता स्पष्ट है।

जैसा पहले कहा गया, ब्रह्म-साक्षात्कार करने वाले के संशय, विपर्यय आदि नष्ट हो जाते हैं, साथ ही साथ कर्मों का भी लय हो जाता है। लेकिन प्रारब्ध कर्म का नहीं, क्योंकि प्रारब्ध कर्म के कारण ही तो वर्तमान शरीर है। भुक्त-शेष प्रारब्ध को तो जीवन्मुक्ति की स्थिति में भी भोगना ही है। इसमें "नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि", "अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्" इत्यादि स्मृति-वाक्य प्रमाण हैं।

जीवन्मुक्त शरीर और इन्द्रियों से व्यवहार करता है या नहीं? करता है तो बद्ध पुरुष जैसा ही है, और यदि नहीं करता है तो इनका कोई उपयोग नहीं। फिर क्यों धारण करता है इन्हें जीवन्मुक्त? उत्तर में ग्रन्थकार का यह कथन है–

अयं तु व्युत्थानसमये मांसशोणितमूत्रपुरीषादिभाजनेन शरीरेण, आन्ध्यमान्द्यापटुत्वादिभाजनेनेन्द्रियग्रामेण, अशनायापिपासाशोकमोहादिभाजनेनान्तःकरणेन च पूर्वपूर्ववासनया क्रियमाणानि कर्माणि भुज्यमानानि ज्ञानाविरुद्धारब्धफलानि च पश्यन्नपि बाधितत्वात्परमार्थतो न पश्यति। यथेन्द्रजालमिदमिति ज्ञानवांस्तदिन्द्रजालं पश्यन्नपि परमार्थमिदमिति न पश्यति। 'सचक्षुरचक्षुरिव सकर्णोऽकर्ण इव' इत्यादिश्रुतेः। उक्तं च–

'सुषुप्तवज्जाग्रति यो न पश्यति, द्वयं च पश्यन्नपि चाद्वयत्वतः।
तथा च कुर्वन्नपि निष्क्रियश्च यः, स आत्मविन्नान्य इतीह निश्चयः'।।इति ७२।।

नन्वेतादृशस्य जीवन्मुक्तस्य देहेन्द्रियादिभानमस्ति न वेत्याशङ्क्य दग्धपटन्यायेनेन्द्रजाल-निर्मितसौधसमुद्रादिवच्च बाधितानुवृत्त्या मिथ्यात्वेनं भानेऽपि परमार्थतया भान नेत्याह-अयमित्यादिना न पश्यतीत्यन्तेन। अस्मिन्नर्थे श्रुतिमाहसचक्षुरिति। आचार्यवचनं प्रमाणयति उक्तं चेति। इह जगति स एवात्मविन्नान्य इति मे निश्चय इत्यन्वयः। स क इत्यपेक्षायामाह-य–इति। यः कोऽपि महापुरुषो ब्रह्मात्मैकत्वसाक्षात्कारेण निरस्तसमस्तभेदबुद्धिः सुषुप्तावस्थायां यथा द्वैतं न पश्यति तथा ब्रह्मदृष्टिदार्ढ्येन जाग्रदवस्थायामपि द्वैतं न पश्यति तद्दृष्ट्या ब्रह्मव्यतिरिक्तजडपदार्थाभावात्स तथोक्तः। किञ्च, कदाचिद्‌त्थानदशायामांविद्यक-संस्कारलेशवशाद्भिक्षाटनादिव्यवहारेण द्वयं पश्यन्नपि समाध्यभ्याससामर्थ्यवशादद्वयत्वेन पश्यति स च तथोक्तः। यश्च लोकसङ्ग्रहार्थं नित्यादिकर्माणि कुर्वन्नप्यात्मनि कर्तृत्वाभावनिश्चयेन निष्क्रियः कर्मरहितो भवति कर्मफलेन न लिप्यते स जीवन्मुक्तो, नात्र संशयः कर्त्तव्य इत्यर्थः।।७२।।

अर्थ–यह (जीवन्मुक्त) समाधि से उठने पर, मांस रक्त-मल-मूत्र आदि के भाजन (पात्र) शरीर के द्वारा, अन्धता-मन्दता-अपटुता आदि के भाजन इन्द्रिय-समूह के द्वारा, भूख-प्यास-शोक-मोह आदि के भाजन अन्तःकरण के द्वारा पूर्व-पूर्व वासना से किये जाते हुए (क्रियमाण) कर्मों को तथा भोगे जाते हुए ज्ञानाविरोधी प्रारब्ध (कर्मों) के फलों को (साक्षिभाव से) देखता हुआ भी (अज्ञान के) बाधित हो जाने से वस्तुतः नहीं देखता। जैसे 'यह इन्द्रजाल है' ऐसा जानने वाला व्यक्ति उस इन्द्रजाल को देखता हुआ भी 'यह सत्य है' ऐसा वस्तुतः नहीं देखता। "वस्तुतः आँख वाला होने पर भी आँखरहित की भाँति तथा कान वाला होने पर भी कानरहित की भाँति (होता है)" इत्यादि श्रुति से (यह बात प्रमाणित होती है)। ऐसा कहा भी गया है कि "जो व्यक्ति जागरणकाल में द्वैत को देखता हुआ भी अद्वैत-बुद्धि के कारण, सोये हुए व्यक्ति की भाँति (वस्तुतः) नहीं देखता और कर्म करता हुआ भी जो निष्क्रिय रहता है, वही आत्मज्ञ है दूसरा नहीं। वेदान्त का ऐसा ही निश्चय है।" (उपदेशसाहस्री १०।३)।

विशेष–(१) श्लोकान्वयः–य जाग्रति द्वयं पश्यन्नपि अद्वयत्वतः सुषुप्तवन् न पश्यति तथा च कुर्वन् अपि यः निष्क्रियः स आत्मवित् इतरः न इति इह निश्चयः।

(२) 'अयं तु व्युत्थानसमये......................परमार्थतो न पश्यति–प्रस्तुत वाक्य बद्ध तथा जीवन्मुक्त का भेद स्पष्ट करने के लिए कहा गया है। बद्ध और जीवन्मुक्त, दोनों ही शरीर और इन्द्रियों आदि से समान व्यवहार करते हैं। लेकिन दोनों में अन्तर यह है कि बद्ध व्यक्ति अज्ञान के कारण अर्थात् निग्रह, संयम, नियमादि पूर्वोक्त साधनाओं के अभाव के कारण इन्द्रिय और शरीर के प्रति ममता भाव रखता हुआ इनसे होने वाले कर्मों तथा उनके फलों के प्रति क्रमशः कर्त्ता एवं भोक्ता का भाव रखता है, जिससे इनसे होने वाले सुख-दुःख के बन्धन से वह मुक्त नहीं हो पाता। इसके विपरीत जीवन्मुक्त ब्रह्मज्ञान

द्वारा अज्ञान का विनाश हो जाने से उक्त प्रकार के कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व के भाव से रहित हो जाता है। इसी कारण वह क्रियमाण कर्मों का तथा प्रारब्ध के भोग का साक्षिमात्र रहता है। वह कर्म एवं कर्मों के फलों में अलिप्त रहता है, तथा इन्द्रजाल के करतबों की भाँति ही अज्ञान-जन्य फलों को मिथ्या समझता है।[1] यह जीवन्मुक्त प्रारब्ध-भोग की समाप्ति पर शरीर-पात होने के बाद विदेह-मुक्ति प्राप्त करता है।

(३) अशनायापिपासाशोकमोहभाजनेनान्तःकरणेन—ग्रन्थकार पूर्व में अशनाया और पिपासा को प्राण का धर्म बता आये हैं परन्तु यहाँ उन्हें अन्तःकरण का धर्म बता रहे हैं। यहाँ सांख्य का प्रभाव परिलक्षित होता है, क्योंकि सांख्यकारिका (२९) में प्राणादि पञ्च वायुवों को अन्तःकरण का सामान्य व्यापार माना गया है—'सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च।' एवं सांख्य के अनुसार प्राणादि के धर्म वस्तुतः अन्तःकरण के ही धर्म हुये। प्राणादि को अन्तःकरण का व्यापार मानने से 'अन्तःकरण' में उनका अन्तर्भाव हो जाने के कारण ही सांख्य की सृष्टिप्रक्रिया में प्राणों की सृष्टि का कहीं भी पृथक् या स्वतंत्र रूप से उल्लेख नहीं है।

(४) सचक्षुरचक्षुरिव सकर्णोऽकर्ण इव—इसकी मनोरञ्जनीकार-कृत व्याख्या इस प्रकार है—

"चक्षुरादिमानपि प्रपञ्चरूपाद्यदर्शनाच्चक्षुरादिहीन इव भवतीत्यर्थः"। अर्थात् जगत्प्रपञ्च के रूपादि का दर्शन न होने से वह जीवन्मुक्त चक्षुरादि इन्द्रियों से युक्त होने पर भी उनसे रहित-सा हो जाता है। अथवा इसका यह भी अर्थ ले सकते हैं कि 'प्रपञ्चरूपाद्यदर्शनात् वस्तुतोऽचक्षुरपि अन्येषां दृष्टौ सचक्षुरिवाभाति' अर्थात् जीवन्मुक्त देहेन्द्रियादि से व्यवहार करता हुआ-सा दिखाई पड़ने पर भी परमार्थतः कोई व्यवहार नहीं करता।

अब जीवन्मुक्त के कुछ ऐसे बाहरी लक्षण भी ग्रन्थकार बता रहे हैं जिनसे उन्हें जीवन्मुक्त जाना-समझा जा सके—

अस्य ज्ञानात् पूर्वं विद्यमानानामेवाहारविहारादीनामनुवृत्तिवच्छुभवासनानामेवानुवृत्तिर्भवति, शुभाशुभयोरौदासीन्यं वा। तदुक्तम्—

---

१. द्रष्टव्य, सुबोधिनी, पृ० ५४—नन्वेतादृशस्य जीवन्मुक्तस्य देहेन्द्रियादिभानमस्ति न वेत्याशङ्क्य दग्धपटन्यायेनेन्द्रजालनिर्मितसौधसमुद्रादिवच्च बाधितानुवृत्त्या मिथ्यात्वेन भानेऽपि परमार्थतया भानं नेत्याह अयमित्यादिना न पश्यतीत्यन्तेन।....आचार्यवचनं प्रमाणयति—उक्तं चेति। स एवात्मवित्। सः कः....कदाचिदंव्युत्थानदशायामाविद्यकसंस्कारलेशवशाद् भिक्षाटनादिव्यवहारेण द्वयं पश्यन्नपि समाध्यभ्याससामर्थ्यवशाददद्वयत्वेन पश्यति, स तथोक्तः। यश्च लोकसंग्रहार्थं नित्यादिकर्माणि कुर्वन्नपि आत्मनि कर्तृत्वाभावनिश्चयेन निष्क्रियः कर्मरहितो भवति कर्मफलेन न लिप्यते, स जीवन्मुक्तः।

'बुद्धाद्वैतसतत्त्वस्य यथेष्टाचरणं यदि।
शुनां तत्त्वदृशां चैव को भेदोऽशुचिभक्षण'।।इति।।
'ब्रह्मवित्त्वं तथा मुक्त्वा स आत्मज्ञो न चेतरः'।।इति।। ७३।।

नन्वस्य जीवन्मुक्तस्य योगीश्वरस्य मम पुण्यपापलेपो नास्तीत्यभिमानवशाद्यथेष्टाचरण-प्रसङ्गमाशङ्क्य परिहरति–अस्य ज्ञानादिति। अस्य पूर्वोक्तजीवन्मुक्तस्य ज्ञानात्प्रागेव शान्त्यादिगुणैरशुभवासनाया निवारितत्वात्संसारदशायामप्रयत्नेनाहारादिप्रवृत्तिवत्तत्त्व-ज्ञानोत्तरमपि शुभानामेव वासनानामनुवृत्तिर्भवति नाशुभानामित्यर्थः। ननु शुभवासनानुवृत्तेरपि प्रयोजनाभावात्किं तदनुवृत्त्येत्यत आह–शुभाशुभयोरिति। तस्माज्जीवन्मुक्तस्य यथेष्टाचरणप्रसङ्गो नास्तीति भावः। अस्मिन्नर्थे ग्रन्थान्तरं संवादयति तदुक्तमिति। जीवन्मुक्तस्य ब्रह्मज्ञानित्वाभिमानो नास्तीत्यत्रापि सम्मतिमाह–ब्रह्मवित्त्वमिति। ननु विदुषां यथेष्टाचरणप्रसङ्गो नास्तीत्युक्तं, तदनुपपन्नं "न मातृवधेन न पितृवधेन", "यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते। हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते।।", "हयमेधशतसहस्राण्यथ कुरुते ब्रह्मघातलक्षाणि। परमार्थविन्न पुण्यैर्न च पापैर्लिप्यते मनुजः", "अश्वमेधसहस्राणि ब्रह्महत्याशतानि च। कुर्वन्नपि न लिप्येत यद्येकत्वं प्रपश्यति", "सभयादभयं प्राप्तस्तदर्थं यतते च यः। स पुनः सभयं गन्तुं स्वतन्त्रश्चेन्न हीच्छति", "आरब्धकर्मनानात्वाद् बुद्धानामन्यथान्यथा। वर्तनं तेन शास्त्रार्थे विभ्रान्तव्यं न पण्डितैः" इत्यादिश्रुतिस्मृत्यभियुक्तवाक्यैर्विदुषां यथेष्टाचरणत्वाङ्गीकारादिति चेत्सत्यं तेषां वचनानां विद्वत्स्तुतिपरत्वेन, तत्कर्तव्यमित्यत्र तात्पर्याभावात्। तदुक्तमाचार्यैः–"अधर्माज्जायतेऽज्ञानं यथेष्टाचरणं ततः। धर्मकार्ये कथं तत्स्याद्यत्र धर्मो विनश्यति" इति।।७३।।

अर्थ–इस जीवन्मुक्त में ज्ञान से पूर्व होने वाले (चिर अभ्यस्त) आहार-विहार की ही तरह, शुभ संस्कारों की ही अनुवृत्ति होती है। अथवा शुभ और अशुभ दोनों के ही प्रति उसमें उदासीनता हो जाती है। ऐसा कहा गया है कि–

"जिसको अद्वितीय आत्मतत्त्व के यर्थाथ स्वरूप का साक्षात्कार हो गया है, ऐसा जीवन्मुक्त पुरुष भी यदि स्वेच्छाचरण करे, तो अभक्ष्य-भक्षण करने के विषय में कुत्तों और तत्त्वदर्शियों में भेद ही क्या रह जायेगा?" (नैष्कर्म्यसिद्धि ४।६२)। और यह भी कि ब्रह्मज्ञता (मैं ब्रह्मज्ञानी हूँ) के अभिमान को छोड़कर ही वह आत्मज्ञ बनता है, कोई अन्य (आत्मज्ञ) नहीं बन सकता है (उपदेशसाहस्री १२।१३)।

विशेष–(१) अस्य ज्ञानात् पूर्व................अनुवृत्तिर्भवति–ज्ञानोत्पत्ति के पूर्व साधक की जो आदतें रहती हैं, वे संस्कार रूप में ज्ञानोत्पत्ति के बाद भी बनी रहती हैं। ये आदतें मानसिक एवं भौतिक, दोनों होती हैं। साथ ही यह भी ध्यातव्य है कि जीवन्मुक्त

की ये आदतें पूर्व और पश्चात् शुभ ही होती हैं, क्योंकि दुर्वासनाओं के शिकार व्यक्ति को ज्ञानोत्पत्ति हो ही नहीं सकती। इस लिए ज्ञानोत्पत्ति होने पर शुभवासनाओं की ही अनुवृत्ति होती है। सच तो यह है कि ज्ञान हो जाने से ज्ञानी में आहार-विहार इत्यादि में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं देखा जाता है। ज्ञानी का बाह्य आचरण जिस प्रकार से पूर्ववत् अनुवर्तित होता है, उसी प्रकार से उसके आन्तरिक भाव या विचार भी। चूँकि ज्ञानोदय के पूर्व सुदीर्घ काल तक जीवन्मुक्त ने शुभ संस्कारों और विचारों का ही निरन्तर अभ्यास किया है, अतः ज्ञानोत्तर-काल में भी उन्हीं का अनुवर्तन सम्भव है न कि अशुभ वासनाओं एवं विचारों का। उनकी तो कथमपि सम्भावना ही नहीं है क्योंकि ऐसी सम्भावना का कोई कारण ही नहीं है।

(२) शुभाशुभयोरौदासीन्यं वा—ग्रन्थकार के कथन का तात्पर्य यह है कि आत्मज्ञ जीवन्मुक्त पुरुष में या तो शुभवासनाओं की ही अनुवृत्ति होती है अन्यथा शुभ-अशुभ दोनों के ही प्रति उपेक्षाभाव आ जाता है। बृहदारण्यक के "अमौनं मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः" (३।५।१) वाक्य में 'ब्राह्मण' अर्थात् ब्रह्मभावापन्न जीवन्मुक्त का सर्वत्र समभाव या औदासीन्य ही प्रकट किया गया है।

(३) ब्रह्मवित्त्वं तथा...........................न चेतरः—साधक को 'मैं ब्रह्मविद् हूँ' इस प्रकार का अभिमान जब तक रहता है, तब तक समझना चाहिए कि अभी उसे ब्रह्म-बोध नहीं हुआ है। जब साधक का ब्रह्मज्ञता का उक्त अभिमान छूट जाता है, तभी उसे सच्चा ब्रह्मविद् समझना चाहिए। केनोपनिषद् के 'यदि मन्यसे सुवेदेतिदभ्रमेवापि[१] नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपम्' (२।१) तथा 'यस्यामतं तस्य मतं, मतं यस्य न वेद सः' (२।३) वाक्य इस तथ्य का उद्घाटन करते हैं। सत्य तो यह है कि ब्रह्म तो स्वयं ज्ञानस्वरूप है, चिद्रूप है। अतः वह ज्ञाता का अपना आत्मा ही है, ज्ञान का विषय नहीं। फिर उसे जानने का अभिमान होना तो सर्वथा मिथ्याज्ञान या अज्ञान ही है न? फिर जिस साधक में यही अभिमान शेष हो, वह भला आत्मज्ञ या जीवन्मुक्त कैसे हो सकता है? केन० २।१ का शाङ्करभाष्य जो इसका समर्थक है, इस प्रकार है—"यदि वेद्यं वस्तु विषयीभवति तत् सुष्ठु वेदितुं शक्यम्...सर्वस्य हि वेदितुः स्वात्मा ब्रह्मेति सर्ववेदान्तानां सुनिश्चितोऽर्थः। इह च तदेव प्रतिपादितं प्रश्नप्रतिवचनोक्त्या 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' (१।२) इत्याद्यया, 'यद्वाचाऽनभ्युदितं' (१।४) इति च विशेषतोऽवधारितम्। ब्रह्मवित्सम्प्रदायनिश्चयश्चोक्तः 'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदिताधि' (१।३) इति, उपसंहरिष्यति च 'अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्' (२।३) इति। तस्माद् युक्तमेव शिष्यस्य सुवेदेति बुद्धिं निराकर्तुम्।।"

इतनी महत्त्वपूर्ण बात बताने वाली उपदेशसाहस्री की प्रस्तुत उद्धृत पंक्ति के विषय

१. दभ्रम् अल्पमेवेत्यर्थः।

में कर्नल जी०ए० जैकब द्वारा की गई टिप्पणी आश्चर्यकारी है। वेदान्तसार के अपने संस्करण के स्वदत्त अंग्रेजी टिप्पणी के पृ० १६२ पर उन्होंने इस प्रकार लिखा है–

"The third line is quoted by Vidyaranya in his Jivanmuktiviveka by way of warning the knower of Brahma against conceit (Vidyamala), but it is difficult to account for its abrupt insertion by Sadananda, and it would be better to omit it, as Ramatirtha appears to have done."

इस विषय में हमारी अपनी सोच यह है कि इस पंङ्क्ति को हटा देने से, इसके जीवन्मुक्तज्ञानी के विषय में उद्घाटित एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य सर्वथा अप्रकाशित ही रह जायगा। उपदेशसाहस्री के इस अंश को विद्यारण्य ने अपने जीवन्मुक्तिविवेक में उद्धृत किया है। सम्भवत: इस उद्धरण को प्रस्तावित करने वाली पंक्ति किसी तरह छूट गई। नृसिंह सरस्वती की सुबोधिनी टीका की "जीवन्मुक्तस्य ब्रह्मज्ञानित्वाभिमानो नास्तीत्यत्रापि सम्मतिमाह–ब्रह्मवित्त्वमिति" इस सम्भावना की ओर प्रबल सङ्केत करती प्रतीत होती है।

तदानीममानित्वादीनि ज्ञानसाधनान्यद्वेष्टृत्वादयः सद्गुणाश्चलङ्कार-वदनुवर्तन्ते। तदुक्तम्–

उत्पन्नात्मावबोधस्य ह्यद्वेष्टृत्वादयो गुणाः।
अयत्नतो भवन्त्यस्य न तु साधनरूपिणः।।इति।।७४।।

नन्वेयं "अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवं" इत्यादिस्मृत्युक्तसाधनस्य "अद्वेष्टा सर्वभूतानां" इत्यादिवचनैः प्रतिपाद्यमानाद्वेष्टृत्वादिगुणसमूहस्य विदुषां सम्पाद्यमानत्वश्रवणात्तेन सह विरोधमाशङ्क्यामानित्वादिसम्पादनस्य च विविदिपासन्न्या-सविषयत्वाद्विदुषां तु लक्षणत्वेनालङ्कारवदनुवर्तनान्न विरोध इत्याह–तदानीमिति। जीवन्मुक्तावस्थायामित्यर्थः। अस्मिन्नर्थे वार्तिकसम्मतिमाह–तदुक्तमिति। अस्य विद्वत्सन्न्यासिनो जीवन्मुक्तस्याद्वेष्टृत्वादयो गुणा अप्रयत्नेन स्वत एव भवन्ति न तु साधनरूपिणस्तं प्रति ते साधनरूपा न भवन्ति। तत्र हेतुमाह–उत्पन्नेति। यत उत्पन्न आत्मावबोधो ब्रह्मात्मैकत्वनिश्चयरूपस्ततस्तस्य ते गुणा लक्षणत्वेनैव भवन्तीत्यन्वयः।।७४।।

अर्थ–उस समय (जीवन्मुक्तावस्था में) अभिमान-राहित्य आदि ज्ञान के साधन तथा द्वेषराहित्य आदि सद्गुण अलंकार के समान अनुवर्तित होते रहते हैं। ऐसा कहा गया है–"जिसको आत्म-साक्षात्कार हो गया है, उसे द्वेप-राहित्य आदि गुण बिना प्रयास के ही सिद्ध हो जाते हैं, साधन के रूप में नहीं रहते (प्रत्युत सहज-स्वाभाविक बन जाते हैं)"(नैष्कर्म्यसिद्धि ४।६९।)।

विशेष–**अलङ्कारवदनुवर्तन्ते**–अमानित्व, अदम्भित्व, अहिंसा, क्षान्ति, आर्जव, आत्मनिग्रह इत्यादि ज्ञान के साधन रूप में गीता १३।७-११ में वर्णित हैं। इसी प्रकार

अद्वेष्टृत्व, मैत्री, करुणा, अनहङ्कार, अनपेक्षा, दृढ़ निश्चय इत्यादि गुण भी गीता १२।१३-१९ में वर्णित हैं। अन्यत्र भी इनके वर्णन हुये हैं। जीवन्मुक्ति के पूर्व आत्मज्ञानार्थ ये सप्रयास अर्जित किये जाते थे। आत्म-साक्षात्कार के अनन्तर फलरूप से जीवन्मुक्ति प्राप्त हो जाने पर पूर्वाभ्यास-वश इनकी अनुवृत्ति स्वतः विना प्रयास होती है। इसी से इन्हें साधन न कह कर जीवन्मुक्त ब्रह्मज्ञ का श्रीवर्धक 'अलंकार' कहा है ग्रन्थकार ने, और नैष्कर्म्यसिद्धि के उद्धरण से अपनी बात की पुष्टि की है। अन्ततः सौ बातों की एक बात कहने की यह है कि जिसको उस ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार हो गया है, उसके द्वेषराहित्य आदि गुण स्वतः सिद्ध हो जाते हैं।

जैसा पहले भी कहा जा चुका है, ब्रह्मज्ञ जीवन्मुक्ति-काल में प्रारब्ध को भोग द्वारा क्षीण करता हुआ, उसकी समाप्ति पर देहपात के अनन्तर ही विदेह-मुक्त (परम मुक्त) हो जाता है। इस तथ्य का उद्घाटन ग्रन्थकार अब ग्रन्थ के उपसंहार रूप में इस प्रकार कर रहे हैं–

किं बहुनाऽयं देहयात्रामात्रार्थमिच्छानिच्छापरेच्छाप्रापितानि सुखदुःखलक्षणान्यारब्धफलान्यनुभवन्नन्तःकरणाभासादीनामवभासकः संस्तदवसाने प्रत्यगानन्दपरब्रह्मणि प्राणे लीने सत्यज्ञानतत्कार्यसंस्कारा-णामपि विनाशात् परमकैवल्यमानन्दैकरसमखिलभेदप्रतिभासरहितमखण्डं ब्रह्मावतिष्ठते। 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' 'अत्रैव समवलीयन्ते', 'विमुक्तश्च विमुच्यत' इत्यादिश्रुतेः।।७५।।

इतया प्रबन्धेन प्रतिपादितेऽस्मिन्वेदान्तसाराख्ये ग्रन्थे श्रीमत्परमगुरुपरमहंस-परिव्राजकाचार्यसदानन्दयोगीन्द्रेण महापुरुषेणाथ वेदान्तो नामेत्यारभ्य साधनचतुष्टयसम्पन्नस्य प्रमातुरधिकारिणो मूलाज्ञाननिवृत्तिपरमानन्दप्राप्तिसिद्धये प्रतीयमानाविद्यकसकल-प्रपञ्चजातस्य ब्रह्मण्यध्यारोपापवादपुरःसरं सविस्तरं निष्प्रपञ्चत्वं प्रतिपाद्य तत्साधनं च श्रवणादिकं सप्रपञ्चमभिधाय तस्यैवाधिकारिणस्तत्त्वमस्यादिवाक्यश्रवणानन्तरं ब्रह्मात्मैकत्वसाक्षात्कारेण निरस्तसमस्तभेदबुद्धेर्जीवन्मुक्तत्वं प्रदर्शितम्। एतावतैव कार्यसिद्धेः किं बहुलेखेनेति मनसि निधाय सम्प्रत्यस्यैव जीवन्मुक्तस्य स्वप्रकाशात्मानन्दानुभवैकनिष्ठस्य भेदप्रतीत्यभावेऽप्यविद्यालेशवशात्प्रारब्धं कर्म भुञ्जानो भिक्षाटनादिदेहयात्रामात्राक्रियाविशिष्टो ब्रह्मीभूत एवावतिष्ठत इत्युपसंहरति–किं बहुनेत्यादिना। प्रारब्धं त्रिविधम्। स्वेच्छाकृतं भिक्षाटनादि। समाध्यवस्थायां शिष्यादिभिर्दीयमानमन्नादिकं परेच्छाकृतम्। समाध्यवस्थायां व्युत्थानदशायां वाकाशफलपातवदकस्माज्जायमानं पाषाणपतनकण्टकवेधादिकमनिच्छाकृतम्। स चायं जीवन्मुक्तः प्रोक्तत्रिविधप्रारब्धप्रापितं सुखदुःखमनुभवन्बुद्ध्यादिसाक्षितया सर्वावभासकः

सम्भोगेनारब्धकर्मक्षये सति प्रत्यगभिन्नपरमात्मनि प्राणादिलयानन्तरं प्रनष्टाविद्यकसंसार कृतकृत्यः सन् गलितसकलभेदप्रतिभासो ब्रह्मैवावतिष्ठत इति सकलवेदरहस्यतात्पर्यमित्यर्थः। अयं जीवन्मुक्तो बुद्ध्याद्युपाधिविलये सति घटाद्युपाधिविनिर्मुक्ताकाशवन्मुक्त इत्युपचारव्यवहारभाग्भवति बद्धत्वस्याप्यवास्तवत्वात्। तदुक्तमाचार्यैः—"न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बन्धो न च साधकः। न मुमुक्षुर्न वा मुक्त इत्येषा परमार्थता"। अस्य जीवन्मुक्तस्योपाधिविगमसमये प्राणाख्यं लिङ्गशरीरमतितप्तलोहक्षिप्तनीरबिन्दुवत्प्रत्यगभिन्नपरमानन्दे लीनत्वात्स्थूलशरीरं नोत्तिष्ठतीति। अत्र श्रुतिमाह—न तस्येति। अयं जीवन्मुक्तो जीवन्नेव दृश्यमानाद्रागद्वेषादिबन्धनाद्विशेषेण मुक्तः सन् वर्तमानदेहपाते सति भाविदेहबन्धाद्विशेषेण मुच्यत इत्यत्रापि श्रुतिमाह—विमुक्तश्चेति। बृहदारण्यकेऽपि—"यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुत" इति। वासिष्ठेऽपि "जीवन्मुक्तपदं त्यक्त्वा स्वदेहे कालसात्कृते। भवत्यदेहमुक्तत्वं पवनोऽस्पन्दतामिव" इति। "असङ्गो ह्ययं पुरुषः", "आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः", "अस्नाविरं शुद्धमपापविद्धं" इत्यादिश्रुत्या प्रत्यगात्मनो नित्यत्वपरिपूर्णत्वकूटस्थत्वश्रवणादुत्पत्त्याप्तिविकृतिसंस्कारचतुर्विधक्रियाफलविलक्षणत्वेन विद्यया नित्यनिवृत्ताविद्यानिवृत्तिमात्रेण प्राप्त एवात्मा पुनः प्राप्त इत्युपचर्येत। अधिष्ठानस्य गमनाभावेऽध्यस्तस्य लोकान्तरगमनायोगान्न सालोक्यादिमुक्तिसम्भवः। नन्वप्राप्तस्य क्रियासाध्यस्य वस्तुनो विद्यमानानर्थनिवृत्तेश्च पुरुषार्थत्वं दृष्टमत्र तदभावात्कथं पुरुषार्थत्वमिति चेन्न। तयोरेव पुरुषार्थत्वमिति नियमाभावात्स्वच्छायायामारोपितरक्षसो विस्मृतकण्ठगतचामीकरस्य भ्रान्तपुरुषस्याप्तवाक्येन तयोर्निवृत्त्याप्त्योरपि पुरुषार्थत्वदृष्टेः। अत्र सङ्ग्रहः—"आत्माज्ञानमलं निरस्तममलं प्राप्तं च तत्त्वं परं, कण्ठस्थाभरणादिवद्भ्रमवशाच्छायापिशाची यथा। आप्तोक्त्याप्तिनिवृत्तिवच्छ्रुतिशिरोवाक्याद्गुरोरुत्थिताद्, ध्वस्तध्वान्तनिरासतः परसुखं प्राप्तं तयोरुच्यत" इति। न च मुक्तानामपि वसिष्ठभीष्मप्रभृतीनामपरोक्षज्ञानिनां पुनर्देहान्तरश्रवणात्केवलज्ञानोत्पत्तिसमय एवाल्पज्ञानामस्माकं मुक्तिर्भवतीति कथं विश्वसिमोऽतो ज्ञानव्यतिरिक्तमप्युपायान्तरं किञ्चित्कर्त्तव्यमिति वाच्यं शास्त्रप्रामाण्यादेव तदुपपत्तेः। "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति", "तरति शोकमात्मवित्" इत्यादिश्रुतिभिर्ज्ञानोत्पत्तिसमयमेव मुक्तिप्रतिपादनात्। तदुक्तं शेषेण—"तीर्थे श्वपचगृहे वा नष्टस्मृतिरपि परित्यजन्देहम्। ज्ञानसमकालमुक्तः कैवल्यं याति हतशोक" इति। वसिष्ठादीनां त्वाधिकारिकपुरुषत्वेन यावदधिकारं प्रारब्धवेगप्रयुक्तशापादिना स्वीकृतावान्तरदेहपातेऽपि तद्देहभाविभोगस्य निवारयितुमशक्यत्वात्प्रारब्धस्य विना भोगेन क्षयानुपपत्तेः। "यावदधिकारमवस्थितिरधिकारिणाम्" इति भगवद्व्यासैर्विशेषितत्वात्। अस्मदादीनां च प्रारब्धकर्मणोऽनेकदेहारम्भकत्वसम्भवेऽपि चरमदेहं विनापरोक्षज्ञानो-

त्पत्तेरसम्भवात्। वामदेवेन तथा दृष्टत्वात्। अन्यथा गर्भस्थस्य श्रवणाद्यभावेन ज्ञानोत्पत्त्यनुपपत्तेः। ननु ज्ञानिनामपि स्वप्नावस्थायां देहान्तरस्वीकारान्मुक्तानामपि पुनर्देहान्तरस्वीकारः किं न स्यादिति चेन्न। कण्ठे स्वप्नं समाविशदित्यादिवाक्येषु कण्ठान्निर्गमनाभावश्रवणात्। देहान्तरप्राप्तेस्तु तदन्तरप्रतिपत्तावित्यत्र देहान्निर्गमनश्रवणाद्वैषम्यम्। तदुक्तं स्कान्दे–"यस्मिन्देहे दृढं ज्ञानमपरोक्षं विजायते। तद्देहपातपर्यन्तमेव संसारदर्शनम्। पुरापि नास्ति संसारदर्शनं परमार्थतः। कथं तद्दर्शनं देहविनाशादूर्ध्वमुच्यते। तस्माद् ब्रह्मात्मविज्ञानं दृढं चरमविग्रहे। जायते मुक्तिदं ज्ञानं प्रसादादेव मुच्यत" इति। तस्मात्सुष्ठुक्तं विमुक्तश्च विमुच्यत इति।।७५।।

नित्यशुद्धपरिपूर्णमद्वयं सच्चिदात्मकमखण्डमक्षरम्।
सर्वदासुखमबोधतत्कृतैर्वर्जितं सदहमस्मि तत्परम्।।
गोवर्धनप्रेरणया विमुक्तक्षेत्रे पवित्रे नरसिंहयोगी।
वेदान्तसारस्य चकार टीकां सुबोधिनीं विश्वपतेः पुरस्तात्।।
जाते पञ्चशताधिके दशशते संवत्सराणां पुनः
सञ्जाते दशवत्सरे प्रभुवरश्रीशालिवाहे शके।
प्राप्ते दुर्मुखवत्सरे शुभशुचौ मासेऽनुमत्यां तिथौ
प्राप्ते भार्गववासरे नरहरिष्टीकां चकारोज्ज्वलाम्।।

इतिश्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमत्कृष्णानन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यनृसिंहसरस्वतीकृता
सुबोधिन्याख्या वेदान्तसारटीका
समाप्ता

अर्थ–अधिक कहने से क्या? यह जीवन्मुक्त केवल शरीर चलाने भर के लिए स्वेच्छा, अनिच्छा या परेच्छा से प्राप्त कराये गये प्रारब्ध (कर्म) के सुख-दुःख रूप फलों का (निर्लेपभाव से) अनुभव करता हुआ, अन्तःकरण की विषयाकारवृत्तियों को (साक्षि-रूप से) प्रकाशित करता हुआ, उस प्रारब्ध कर्म का क्षय होने पर प्रत्यगानन्द रूप परब्रह्म में प्राण के लीन हो जाने पर (प्रारब्धकर्माक्षिप्त) अज्ञान और उसके (प्रपञ्च रूप) कार्यों तथा संस्कारों का भी (पूर्व सिद्ध ज्ञान से) विनाश हो जाने से, परम कैवल्य-रूप आनन्दैकरस समस्त भेद-प्रतीतियों से रहित, अखण्ड ब्रह्मरूप में स्थित होता है। "उस (ब्रह्मज्ञ) के प्राण उत्क्रमण नहीं करते हैं" (बृहदा० ४।४।६), "वे यहीं अर्थात् इस परमात्मा में ही लीन हो जाते हैं" (बृहदा० ३।२।११), तथा (अविद्या-कृत कामकर्मादि बन्धनों से) "विमुक्त हुआ यह जीवन्मुक्त विमुक्त (अर्थात् विदेहमुक्त) हो जाता है।" (कठ० २।२।१) इत्यादि श्रुतियों से (पूर्वोक्त कथन प्रमाणित होता है)।

विशेष–(१) देहयात्रामात्रार्थम्–जीवन्मुक्त केवल शरीर की अवस्थिति के लिए

प्रारब्ध का भोग करता है, इन्द्रियों की तृप्ति के लिए नहीं।

(२) अन्तःकरणाभासादीनामवभासकः—आभास अर्थात् अन्तःकरण की विषयाकार वृत्ति। ज्ञान के पूर्व जीवात्मा-साधक- अन्तःकरण की वृत्तियों से सुखी तथा दुःखी होता था, परन्तु तत्त्वज्ञानान्तर आत्मज्ञ वही साधक सिद्ध होकर जीवन्मुक्ति-काल में समस्त विषयाकार वृत्तियों का निरपेक्ष द्रष्टा-मात्र रहता है।

(३) 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति', 'अत्रैव समवलीयन्ते'—उत्क्रमण का अर्थ है ऊपर की ओर गमन करना। यह वेदान्त दर्शन का पारिभाषिक शब्द है। प्राण अर्थात् वागादि इन्द्रिय, (पञ्च) प्राण, मन और बुद्धि इत्यादि से बना सप्तदशात्मक लिङ्ग-शरीर देह-पात के समय उससे निकलकर ऊपर की ओर वायु-मण्डल से होते हुए कर्मानुसार विभिन्न लोकों को जाते हैं। सामांन्य भाषा में इसे ही मृत्यु कहते हैं। अज्ञानी के प्राण तो देह से निकल कर ऊपर जाते हैं और ऊर्ध्वाधोलोकों का भ्रमण करते हुए कालान्तर में पुनः जन्म ग्रहण करते हैं। किन्तु आत्मज्ञ जीवन्मुक्त के प्राण देह से निकल कर ऊर्ध्वगमन न करके परमात्मा में ही लीन हो जाते हैं और कारण के अभाव में पुनर्जन्म न ग्रहण कर स्वरूपापन्न हो जाते हैं।

(४) विमुक्तश्च विमुच्यते—'विमुक्त' का अर्थ है—जीवन्मुक्त, और 'विमुच्यते' का अर्थ है—विशेष रूप मुक्त हो जाता है। जीवन्मुक्त अर्थात् जीवित रहते हुए, शरीरादि धारण करते हुए 'मुक्त' अर्थात् अविद्या तथा तत्कृत काम-कर्मादि से मुक्त, विमुक्त अर्थात् शरीरादि के बन्धन से भी मुक्त। यही विशेष रूप से मुक्त होना है। तात्पर्य यह है कि आत्मज्ञ अज्ञानकृत रागद्वेषादि बन्धनों से छूटकर जीवन्मुक्त होता है, फिर शरीर-पात होने पर भावी जन्मों के बन्धन से सदा-सदा के लिए छूट कर विदेह-मुक्त हो जाता है।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यसदानन्दविरचितो

वेदान्तसारः

समाप्तः

●●●

पारिभाषिकशब्द-कोश

आधुनिक समय में ग्रन्थ-लेखन एक विशिष्ट कला के रूप में विकसित हो चुका है। विभिन्न प्रयोजनों से लिखे गये विभिन्न विधाओं वाले ग्रन्थों में विविध विशिष्टतायें विकसित हुई हैं। संस्कृत भाषा में लिखित शास्त्र-ग्रन्थों की व्याख्यात्मक कृतियों में जहाँ भाषान्तर के साथ विशिष्ट सन्दर्भों की व्याख्यायें प्रस्तुत की जाती हैं, वहीं ग्रन्थ के आदि में भूमिका तथा विषय-सूची के साथ ग्रन्थ के अन्त में मूल ग्रन्थ के रचयिता के जन्म-काल, वृत्त, सम्प्रदाय आदि को लेकर एकाधिक परिशिष्ट देखने को मिलते हैं। कभी-कभी इनमें से कुछ का अन्तर्भाव 'भूमिका' में ही कर लिया जाता है। परन्तु ग्रन्थ में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों का व्याख्यात्मक कोश पाठकों की ऐसी अपेक्षा है जिसे ग्रन्थान्त में देना आवश्यक है। इससे उन्हें ग्रन्थ का अध्ययन करने में विशेष सुविधा होती है। ये शब्द अकारादि वर्णों के क्रम से संगृहीत होते हैं। इससे किसी भी शब्द का अर्थ जानने की अपेक्षा होने पर उसके आदि के वर्ण से उसे सरलतया ढूँढ़ लिया जाता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के 'पारिभाषिकशब्द-कोश' में संगृहीत शब्दों को अकारादि वर्णों के क्रम से न देकर, सन्दर्भ के क्रम से दिया गया है। इसका एक विशेष कारण है। यद्यपि ऐसा करने से पाठकों को शब्द ढूँढ़ने में थोड़ी कठिनाई हो सकती हैं, फिर भी कोश के पृष्ठों की संख्या के अधिक न होने से कुछ अधिक परेशानी नहीं होगी। लेकिन इसमें उनका लाभ कहीं ज्यादा है। इस बात को उदाहरण द्वारा विशेष रूप से स्पष्ट किया जा सकता है। जैसे, 'समष्टि' की धारणा के स्पष्टीकरण के लिये 'व्यष्टि' की धारणा, और 'व्यष्टि' की स्पष्ट धारणा के लिये 'समष्टि' का स्पष्टीकरण अपेक्षित है। दोनों ही परस्पर सापेक्ष शब्द हैं। मूलग्रन्थ में भी ये साथ-साथ एक ही सन्दर्भ में आये हुये हैं। अब यदि इन्हें वर्ण-क्रमानुसार रखा जाय तो ये एक-दूसरे से बहुत दूर हो जायेंगे और तब इनकी वह स्पष्ट धारणा पाठकों के मन नहीं हो पायेगी जिसके लिये यह परिशिष्ट–'पारिभाषिकशब्द-कोश'–ग्रन्थ के अन्त में पृथक् दिया गया है। इसी प्रकार ईश्वर, अन्तर्यामी तथा नियन्ता शब्द भी हैं। तीनों शब्दों से एक ही तत्त्व–मायोपहित ब्रह्म–ग्राह्य है, परन्तु दृष्टि-भेद से पृथक्-पृथक् तीन अर्थों में उसके तीन नाम पड़े। अकारादिवर्ण-क्रम के अनुसार तीनों दूर-दूर अलग-अलग पड़ जायेंगे और इनकी धारणा के सुस्पष्टीकरण में जो कठिनाई होगी वह तो होगी ही, पाठक को इनकी सुस्पष्ट धारणा होने में प्रभूत कठिनाई होगी। इसी प्रकार जीवन्मुक्त एवं विदेहमुक्त जैसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पारिभाषिक शब्द हैं। ग्रन्थकार ने जीवन्मुक्त को थोड़े विस्तार से स्पष्ट किया है, जब कि विदेहमुक्त के विषय में अलग से कुछ विशेष न कहकर 'विमुक्तश्च विमुच्यते'

एतन्मात्र श्रुति उद्धृत कर दी है। ऐसा करके भी उसकी स्पष्ट धारणा कराने में वह समर्थ हो गया है। अब यदि ये वर्ण-क्रम के अनुसार रखे जायँ तो 'ज' से आरम्भ होने वाला शब्द 'जीवन्मुक्त' परिशिष्ट के प्रायेण प्रारम्भिक भाग में और 'व' से आरम्भ होने वाला 'विदेहमुक्त' शब्द परिशिष्ट के प्रायेण अन्तिम भाग में आयेगा। तब फिर विदेहमुक्त की धारणा को स्पष्ट करने के लिये 'जीवन्मुक्त' शब्द का पूरा सन्दर्भ देना होगा। इससे लेखक को शब्दार्थ का स्पष्टीकरण करने में तो विशेष आयास करना ही होगा, पाठक को उसकी स्पष्ट धारणा करने में कई पृष्ठ उलट कर पूर्व-व्याख्यात 'जीवन्मुक्त' का पूरा सन्दर्भ देखना होगा।

इसी विचार से ग्रन्थ की आनुपूर्वी-क्रम—से ही 'परिशिष्ट' में शब्दों को रखने के लिये विवश होना पड़ा। हमें पूर्ण विश्वास है कि ऐसा करने से सुधी पाठकों को थोड़ी कठिनाई से विशेष लाभ प्राप्त हो सकेगा। इसी दृष्टि से अगले पृष्ठों में 'वेदान्तसार' के प्रमुख पारिभाषिक शब्दों का कोश दिया जा रहा है।

●

शब्द	पृ०सं०	व्याख्या
सच्चिदानन्दम्	२२	सत्ता, चैतन्य तथा आनन्द स्वरूप वाला आत्मा (ब्रह्म)। ये आत्मा (ब्रह्म) के गुण या धर्म नहीं अपितु उसके स्वरूप हैं। आत्मा सत्तात्मक, चिदात्मक एवं आनन्दात्मक है। ये तीनों आत्मा के पृथक्-पृथक् स्वरूप नहीं हैं। एक ही नित्य तत्त्व या वस्तु एक दृष्टि से सत्, दूसरी दृष्टि से चित् तथा तीसरी दृष्टि से आनन्द है। वस्तु एक ही है, उसे देखने की दृष्टि पृथक्-पृथक् है।
अखण्डम्	२२	देश-कृत, काल-कृत एवं वस्तु-कृत खण्ड या परिच्छेद से रहित आत्मा (ब्रह्म)।
अवाङ्मनसगोचरम्	२२	यह 'सच्चिदानन्दम्' की भाँति ब्रह्म का विध्यात्मक नहीं अपितु निषेधात्मक विवरण है। इस विवरण या निरूपण का आधार बृहदारण्यक उपनिषद् का 'नेति नेति' (बृ० २।३।६), 'अस्थूलमनणु' (३।८।८), तैत्तिरीय का 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' (तै० २।४।१), कठ० का 'नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा' (कठ० २।३।१८) तथा केनोपनिषद् के 'यद्वाचाऽनभ्युदित न' एवं 'यन्मनसाम् मनुते' इत्यादि अनेक वचन हैं।
अखिलाधारम्	२३	समस्त आकाशादि प्रपञ्चों का आश्रय, अधिष्ठान या कारण। यह आत्मा या ब्रह्म का 'तटस्थ'—समीपस्थ—लक्षण है, 'स्वरूप'-लक्षण नहीं। स्वरूप-लक्षण तो 'सच्चिदानन्द' है। राजा के छत्र-चामर इत्यादि की भाँति 'अखिलाधार' आत्मा का कादाचित्क अर्थात् कभी-कभी रहने वाला अनित्य धर्म है, 'सच्चिदानन्द' की भाँति स्वरूप या नित्य धर्म नहीं है।
द्वैतभानम्	२४-२५	द्वैत-बुद्धि, भेदज्ञान, भेदप्रतीति।
वेदान्तः	२५	'वेदानामन्तोऽवसानभागो वेदान्तः। एवं वेदान्तशब्दो मुख्यतः वेदभागभेदेषु प्रयुक्तः। शारीरकसूत्रादिषु तूपचरितः'।—विद्वन्मनो० (उपनिषद्-वाङ्मय, उपनिषद्-ग्रन्थराशि)।
उपनिषद्	२६	यह शब्द उप+नि+षद्लृ (सद्) धातु+क्विप् प्रत्यय (कर्ता के अर्थ में) से बना है। 'उप' का अर्थ है समीप। 'नि' का अर्थ है निश्चयपूर्वक। षद्लृ धातु के तीन अर्थ हैं—विशरण अर्थात् विनाश, गति अर्थात् प्राप्ति, तथा अवसादन अर्थात्

शब्द	पृ०सं०	व्याख्या
		शिथिलीकरण। 'उपनिषद्' के विषय में ये तीनों ही अर्थ संगत या घटित होते हैं।
शारीरकसूत्रादीनि	२७	'शरीरमेव शरीरकम् (स्वार्थे कन्प्रत्यय:, अनुकम्पायां वा) तत्र भव: शारीरक: (शरीरक+अण्प्रत्यय) जीव:। स सूत्र्यते संक्षेपेण याथातथ्यतो निरूप्यते यैस्तानि शारीरक-सूत्राणि'। अर्थात् अनुदिन शीर्यमाण तुच्छशरीर में रहने वाले नित्य जीवात्मा के वास्तविकत्व अर्थात् ब्रह्मत्व का निरूपण करने वाले सूत्र 'शारीरिक-सूत्र' हुये। 'जीवो ब्रह्मैव' ऐसा प्रतिपादन करने के कारण ये 'ब्रह्मसूत्र' नाम से भी अभिहित हुये। उपनिषदों पर आधृत होने के कारण ये 'वेदान्तसूत्र' नाम से भी प्रसिद्ध हुये। समास-गत 'आदि' शब्द से भगवद्गीता गृहीत है। एवं उपनिषदों तथा ब्रह्मसूत्रों के शाङ्करभाष्य इत्यादि भी।
प्रकरणम्	२७	"शास्त्रैकदेशसम्वद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम्। आहु: प्रकारणं नाम ग्रन्थभेदं विपश्चित:"।। (पराशरोप-पुराण) अर्थात् किसी शास्त्र के किसी एक भाग या अंश-विशेष से सम्वद्ध, किन्तु अपेक्षानुसार उसके अन्य भाग से भी सम्वद्ध होने वाले ग्रन्थ-विशेष को 'प्रकरण' कहते हैं। वेदान्त के कुछ विशिष्ट प्रतिपाद्यों को विषय वनाने वाला 'वेदान्तसार' प्रकरण है, जवकि उसके सम्पूर्ण प्रतिपाद्य को विषय वनाने वाला वेदान्तसूत्र या ब्रह्मसूत्र 'शास्त्र' है।
अनुबन्ध:	२६	'अनुवध्यतेऽनेनेति अनुबन्ध:' (अनु+वध+करणे घञ्)। इस प्रकार इसका शाब्दिक अर्थ है—किसी ग्रन्थ के अनिवार्य या अपरिहार्य अङ्ग (Indispensable Elements); अपेक्षायें, शर्तें (Preliminary Requisites)।
अनुबन्ध-चतुष्टय	२७	
(i) अधिकारी	३६	अर्थात् ग्रन्थ के अध्ययन के लिये योग्य व्यक्ति, उचित पात्र। आगे (पृ० ३४ पर) साधन-चतुष्टय से सम्पन्न प्रमाता को 'अधिकारी' कहा गया है।
(ii) विषय:	३६	ग्रन्थ का प्रतिपाद्य। जीव-ब्रह्मैक्य ही वेदान्त का प्रतिपाद्य है, एवं यह ऐक्य दोनों के चैतन्य-स्वरूप होने में है।
(iii) सम्बन्ध:	३६	प्रतिपाद्य विषय तथा ग्रन्थ के वीच का प्रतिपाद्य-प्रतिपादक

शब्द	पृ०सं०	व्याख्या
		सम्बन्ध। जीवब्रह्मैक्य अर्थात् शुद्ध चैतन्य प्रमेय है, एवं वेदान्त उसका प्रतिपादक प्रमाण है। दोनों एक-दूसरे के प्रतिपाद्य-प्रतिपादक हैं।
(iv) प्रयोजन	३६	अध्ययन का उद्देश्य या लक्ष्य। यह लक्ष्य ऐक्य-विषयक अज्ञान की निवृत्ति तथा उसके सम-काल ही जीव को स्वरूप 'आनन्द' की प्राप्ति है।
काम्य कर्म	२६	स्वर्गादि अभीष्ट लोकों की प्राप्ति के साधनभूत ज्योतिष्टोम इत्यादि सकाम कर्म।
निषिद्ध कर्म	२६	नरकादि अनिष्ट लोकों की प्राप्ति के हेतु-भूत ब्रह्महत्या, स्वर्णचौर्य इत्यादि वर्जित कर्म।
नित्यकर्म	२६	न किये जाने पर 'प्रत्यवाय' अर्थात् पाप के हेतु बनने वाले सन्ध्यावन्दन, पञ्चमहायज्ञ इत्यादि कर्म।
नैमित्तिक कर्म	२६	पुत्र-जन्म आदि निमित्त-विशेष से सम्बद्ध जातेष्टि या जातकर्म इत्यादि।
प्रायश्चित्त-कर्म	२६	पापों के क्षय के लिये किये जाने वाले कृच्छ्र, चान्द्रायण आदि व्रत।
उपासन-कर्म	२६	सगुण ब्रह्म को विषय बनाने वाले मानसिक व्यापार अर्थात् ध्यान, जैसे 'शाण्डिल्य विद्या' इत्यादि। चित्त की एकाग्रता इसका फल है।
शाण्डिल्य-विद्या	३१	छान्दोग्य० ३।१४।१ में 'शाण्डिल्य-विद्या' का वर्णन इस प्रकार है– "सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादर एव म आत्माऽन्तर्हृदय एतद् ब्रह्म, एतंमितः प्रेत्याभिसम्भवितास्मीति यस्य स्यादद्धा न विचिकित्सास्तीति ह स्माह शाण्डिल्यः शाण्डिल्यः।"
साधन-चतुष्टयम्	३३	नित्यानित्यवस्तुविवेक, इहामुत्रार्थफलयोगविराग, शमादिषट्क-सम्पत्ति, तथा मुमुक्षुत्व।
शमादिषट्क-सम्पत्तिः	३४-३५	शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान तथा श्रद्धा–इन छः की सम्यक् प्राप्ति।
(i) शमः	३४-३५	'शमस्तावच्छ्रवणादिव्यतिरिक्तविषयेभ्येभ्यो मनसो निग्रहः'। अर्थात् 'शम' है–श्रवण-मनन-निदिध्यासन से भिन्न विषयों से मन को रोकना या हटा लेना।

शब्द	पृ०सं०	व्याख्या
(ii) दमः	३४-३५	'दमो बाह्येन्द्रियाणां तद्व्यतिरिक्तविषयेभ्यो निवर्तनम्'। अर्थात् 'दम' है—बाह्य इन्द्रियों को श्रवणादि से भिन्न विषयों से हटा लेना।
(iii) उपरतिः	३४-३५	'विहितानां कर्मणा विधिना परित्यागः'। अर्थात् वेदविहित सन्ध्या-वन्दन, अग्निहोत्र इत्यादि नित्य कर्मों का विधि (प्राजापत्येष्टि)-पूर्वक परित्याग (अर्थात् संन्यास ग्रहण कर लेना)।
(iv) तितिक्षा	३४-३५	'तितिक्षा' शीतोष्णादि-द्वन्द्वसहिष्णुता। अर्थात् सर्दी-गर्मी, मान-अपमान, जय-पराजय, लाभ-हानि, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वो (परस्पर विरोधी युग्म भावों) को सहन करना।
(v) समाधानम्	३४-३५	'निगृहीतस्य मनसः श्रवणादौ तदनुगुणविषये च समाधिः समाधानम्'। अर्थात् वशीभूत मन की श्रवण इत्यादि एवं उनके अनुकूल विषयों में स्थिरता या एकाग्रता 'समाधान' है।
(vi) श्रद्धा	३४-३५	'गुरूपदिष्टवेदान्तवाक्येषु विश्वासः श्रद्धा'। अर्थात् गुरुवचनों एवं वेदान्त-वाक्यों में विश्वास अर्थात् सत्यबुद्धि का नाम 'श्रद्धा' है।
श्रोत्रियः	३८-३९	'छान्दस, वेदाध्यायी, वेदज्ञ'। 'छन्दोऽधीते' अर्थात् वेद पढ़ता है, इस अर्थ में 'छन्दस्' के स्थान में 'श्रोत्र' का निपातन होता है। फिर 'घ' प्रत्यय लगने पर 'श्रोत्रिय' शब्द बनता है। इसी अर्थ में 'तदधीते तद्वेद' (अष्टा० ४।२।५९) सूत्र से पक्ष में अण् प्रत्यय लगने पर 'छान्दस' शब्द बनता है।
अध्यारोपापवाद-न्याय	३८	अज्ञान द्वारा ब्रह्म में विविध (अनन्त) प्रपञ्च का मिथ्या आरोप ही 'अध्यारोप' है। ब्रह्म 'अध्यारोप' का अधिष्ठान है। 'नेह नानास्ति किञ्चन' (बृहदा० ४।४।१९) इत्यादि श्रुति-वचनों का अनुसरण करते हुये अज्ञानाध्यारोपित विविध प्रपञ्च का निषेध 'अपवाद' है। इसी 'अध्यारोपापवाद' न्याय अर्थात् नियम से परम कृपालु ब्रह्मनिष्ठ गुरु अधिकारी शिष्य को उपदेश देता है।
अध्यारोपः	४०	'असर्पभूतायां रज्जौ सर्पारोपवद् वस्तुन्यवस्त्वा-रोपोऽध्यारोपः'। यह अध्यारोप का सदानन्दपरिव्राजक-कृत लक्षण है। परिव्राजक के शब्दों में 'वस्तु' है सच्चिदानन्द,

शब्द	पृ०सं०	व्याख्या
		अनन्त, अद्वय ब्रह्म। सुबोधिनीकार नृसिंहसरस्वती ने इसी बात को 'कालत्रयानपायी आत्मैव वस्तु' इस रूप में कहा है। आरोपित की जाने वाली 'अवस्तु' का विवरण है–'अज्ञानादि-सकलजडसमूह'।
अज्ञानम्	४०	'अज्ञानं तु सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं ज्ञानविरोधि भावरूपं यत्किञ्चिदिति'। अर्थात् 'अज्ञान' ज्ञान का अभाव नहीं अपितु उसका विरोधी है, त्रिगुणात्मक है, तथा सदसत् से भिन्न, भावात्मक 'कुछ' अर्थात् अनिर्वचनीय है।
समष्टिः	४४	सबको व्याप्त करने वाली उपाधि, माया।
व्यष्टिः	४४	विशिष्ट या एक को व्याप्त करने वाली उपाधि, अविद्या।
उपाधिः	४४	'उपाधि' उस हेतु को कहते हैं जो किसी वस्तु के अपने स्वरूप से भिन्न रूप में प्रकाशित या प्रकट होने में प्रयोजक होता है। जैसे–रस्सी के सर्प रूप में प्रकट होने में, दिखाई पड़ने में प्रयोजक हेतु है देखने वाले व्यक्ति का अज्ञान। यह उपाधि व्यष्टि अज्ञान अर्थात् 'अविद्या' नाम से जानी-कही जाती है। इससे उपहित चैतन्य जीव-संज्ञक है।
ईश्वरः	४५	मायोपहित चैतन्य की 'ईश्वर' संज्ञा है। यह जगत् का कारण है। 'ईश्वर' के ही पर्याय 'अव्यक्तम्' तथा 'अन्तर्यामी' शब्द भी हैं।
अव्यक्तम्	४५	सांख्यदर्शन के अनुसार 'अव्यक्त' त्रिगुणात्मक प्रकृति का वाचक है। कठोपनिषद्, के 'महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः' (१।३।११) मंत्र में स्थित 'अव्यक्त' शब्द से वे त्रिगुणात्मक प्रकृति को ही ग्रहण करते हैं। इसके विपरीत शङ्कराचार्य इसे 'महानात्मा हिरण्यगर्भ के कारणभूत 'पुरुष' अर्थात् परमात्मा में ओतप्रोत समस्त कार्यकारण-शक्ति का समाहार' मानते हैं। इसे 'अव्याकृत' तथा 'आकाश' नामों से भी जाना जाता है। अभेद-दृष्टि से "आकाशस्तल्लिङ्गात्" (ब्रह्मसूत्र १।१।२२) में 'आकाश' भी ईश्वर का ही वाचक कहा गया है। किन्तु प्रस्तुत सन्दर्भ में 'अव्यक्तात् पुरुषः परः' कथित होने से, 'अव्यक्त' को 'पुरुष' अर्थात् सर्व-व्यापक ईश्वर की कार्यकारण-शक्ति का समाहार कहा गया।

शब्द	पृ०सं०	व्याख्या
अन्तर्यामी	४५	"सर्वेषां जीवानामन्तर्हृदये स्थित्वा बुद्धिनियामकत्वेनान्तर्यामीत्युच्यते" (सुबोधिनी)। अर्थात् समस्त जीवों के अन्तर् अर्थात् हृदय में स्थित होकर बुद्धि का नियमन-नियंत्रण करने के कारण ईश्वर 'अन्तर्यामी' कहा जाता है। उसे ही समस्त जगत्प्रपञ्च का नियामक होने से 'नियन्ता' कहा जाता है।
आनन्दमयकोशः	४२, ४६	समष्टि-अज्ञान तथा व्यष्टि-अज्ञान। इन्हें दो कारणों से आनन्दमय कोश कहा गया है—आनन्द-प्रचुर होने के कारण 'आनन्दमय', तथा 'आच्छादक' होने के कारण 'कोश'। 'कोश' शब्द 'कुश्' धातु से बना है जिसका अर्थ 'ढकना' है। ये क्रमशः ईश्वरोपाधि और प्राज्ञोपाधि है।
प्राज्ञ	४८	'प्रायेण अज्ञः प्राज्ञः' अर्थात् अल्पज्ञ। इस अर्थ में यह शब्द मलिनसत्त्वप्रधान व्यष्टि-अज्ञान उपाधि वाले अल्पज्ञ जीव के लिये प्रयुक्त हुआ है। सामान्यतः संस्कृत में इसका प्रयोग 'बुद्धिमान्' के अर्थ में होता है, जैसे महाभारत-कालीन मतिमान् विदुरजी के लिये 'महाप्राज्ञ' शब्द प्रयुक्त होता था। इस अर्थ में इसका विग्रह होगा—प्रकर्षेण जानातीति प्रज्ञः। प्रज्ञ एव प्राज्ञः (प्रज्ञ+स्वार्थे अण्प्रत्ययं)।
तुरीयम्	५१	चतुर्+छ प्रत्यय। छ को 'ईय' आदेश होता है। आदिम वर्ण 'च' का लोप हो जाता है। अतः 'तुरीय' शब्द बनता है। इसका अर्थ 'चतुर्थ' होता है। इसी अर्थ में 'तुर्य' शब्द भी बनता है। यह 'यत्' प्रत्यय लगने पर बनता है। प्रस्तुत सन्दर्भ में यह शब्द 'शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते' (माण्डूक्य ७) के अनुसार निरुपाधि अर्थात् अनुपहित शुद्ध चैतन्य के लिये प्रयुक्त हुआ है।
वाच्यम्, लक्ष्यम्	५१	शब्द की अभिधा शक्ति से प्राप्त अर्थ 'अभिधेय' या 'वाच्य', तथा लक्षणा शक्ति से प्राप्त अर्थ 'लक्ष्य' कहा जाता है। शुद्ध चैतन्य अज्ञानादि प्रपञ्च और उससे उपहित चैतन्य से, तपाये गये लौह-पिण्ड से तद्गत अग्नि की भाँति, पृथक् न प्रतीत होता हुआ 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) इत्यादि महावाक्य का वाच्यार्थ कहा जाता है, और पृथक् प्रतीत होता हुआ लक्ष्यार्थ कहा जाता है।

शब्द	पृ०सं०	व्याख्या
आवरण-शक्तिः	५३	अज्ञान की दो शक्तियों में से एक। इसका विवरण 'वेदान्तसार' के शब्दों में इस प्रकार है–"अज्ञानं परिच्छिन्नमप्यात्मानमपरिच्छिन्नमसंसारिणमवलोकयितृ-बुद्धिपिधायकतयाच्छादयतीव।" अर्थात् अज्ञान परिमित होता हुआ भी प्रमाता की बुद्धि को ढक लेने के कारण अपरिमित (सर्वव्यापी) एवं असंसारी आत्मा को ढक सा लेता है, ढक लेता हुआ प्रतीत होता है, वस्तुतः तो ढक ही नहीं सकता। भला कहीं परिच्छिन्न भी अपरिमित-अपरिच्छिन्न को ढक सकता है?
विक्षेप-शक्तिः	५५	यह अज्ञान की दूसरी शक्ति है जिसका विवरण इस प्रकार है–"विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादिब्रह्माण्डान्तं जगत् सृजेत्" (वाक्यसुधा १३)। अर्थात् अज्ञान अपनी विक्षेपशक्ति के द्वारा स्वावृत आत्मा में सूक्ष्मशरीर से लेकर स्थूलब्रह्माण्ड-पर्यन्त समस्त जगत्प्रपञ्च की सृष्टि कर देता है।
निमित्तोपादन-कारणम्	५५	"शक्तिद्वयवदज्ञानोपहितं चैतन्यं स्वप्रधानतया निमितं, स्वोपाधिप्रधानतयोपादनम्।" (वेदान्तसार)। इसका तात्पर्य यह है कि अपनी दोनों शक्तियों से युक्त अज्ञान से उपहित चैतन्य–ईश्वर–अपनी अर्थात् चैतन्य की प्रधानता से जगत् का निमित्तकारण, एवं अपनी उपाधि (अर्थात् अज्ञान) की प्रधानता से उपादान कारण है।
सूक्ष्मभूतम्/ तन्मात्रम्	५८	तमःप्रधान, एवं विक्षेपशक्ति से युक्त अज्ञान से उपहित चैतन्य से जिन आकाशादि की उत्पत्ति होती है, वे सूक्ष्मभूत कहलाते हैं। अपञ्चीकृत अवस्था में होने के कारण ये भूत सूक्ष्म होते हैं। इन सूक्ष्मभूतों की 'तन्मात्र' भी संज्ञा है। इन सूक्ष्म भूतों में स्थूलता पञ्चीकृत अर्थात् पाँचों का परस्पर मिश्रण होने के अनन्तर ही आती है। तब आकाशादि की संज्ञा उनकी स्थूलता के कारण 'महाभूत' होती है। 'पञ्चीकरण' प्रक्रिया महाभूतों की उत्पत्ति के प्रसंग में ग्रन्थकार स्वयं बतायेंगे।
सूक्ष्मशरीरम्	६०	"सूक्ष्मशरीराणि सप्तदशावयवानि लिङ्गशरीराणि। अवयवास्तु ज्ञानेन्द्रिय-पञ्चकम्, बुद्धिमनसी, कर्मेन्द्रिय-पञ्चकं चेति।" (वेदान्तसार, पृ० ६०) सांख्य दर्शन में मन

शब्द	पृ०सं०	व्याख्या
		और बुद्धि के अतिरिक्त अहंकार को भी समाविष्ट करने से अवयवों की संख्या अठारह हो जाती है। एक भेद और भी है, वह यह है कि वेदान्त के पञ्च वायु या पञ्च प्राण के स्थान में सांख्य में पञ्च तन्मात्र गृहीत हैं। इसे लिङ्गशरीर क्यों कहते हैं? इसलिये कि इसके द्वारा प्रत्यगात्मा के अस्तित्व का ज्ञापन होता है–'लिङ्ग्यते ज्ञाप्यते प्रत्यगात्माऽनेनेति लिङ्गम्, तच्च तत् शरीरं चेति लिङ्गशरीरम्।' अर्थात् प्रत्यगात्मा की सत्ता का लिङ्ग-अनुमापक, ज्ञापक–होने से ही सूक्ष्म शरीर 'लिङ्गशरीर' कहा जाता है। यह कैसे? इस प्रकार से:–'इन्द्रियाँ और प्राण स्वयं अचेतन होने के कारण, अचेतन (जड़) रथादि की ही भाँति, स्वातिरिक्त किसी चेतन के द्वारा अधिष्ठित होकर ही प्रवृत्तिशील (क्रियाशील) होते हैं, अतः इनकी क्रिया या प्रवृत्ति इनसे भिन्न किसी चेतन तत्त्व का अनुमान कराती हैं'। यह तत्त्व शरीरान्तर्गत होने से 'प्रत्यगात्मा' कहा जाता है।
विज्ञानमय-कोशः	६२	पञ्च ज्ञानेन्द्रियों के सहित बुद्धि विज्ञानमय कोश कही जाती है। यह कोश ज्ञान-शक्ति से युक्त कर्तृरूप होता है। स्वरूपतः अकर्ता-अभोक्ता चिदात्मा इस कोश से आवृत्त होकर कर्ता हो जाता है।
पायुइन्द्रियम्	६३	गुदा, मलत्यागेन्द्रिय।
उपस्थेन्द्रियम्	६३	जननेद्रिय, मूत्रेन्द्रिय।
प्राणः	६३	प्राग्गमनवान् नासाग्रवर्ती वायु।
अपानः	६३	अवाग्गमनवान् पाय्वादिस्थानवर्ती वायु।
व्यानः	६३	विष्वग्गमनवान् अखिलशरीरवर्ती वायु।
उदानः	६३	ऊर्ध्वगमनवान् कण्ठस्थानीय उत्क्रमण वायु।
समानः	६३	शरीरमध्यगत अशितपीतान्नादिसमीकरणकारी वायु, खाये-पिये पदार्थों को पचाने वाला वायु।
मनोमय-कोशः	६३	पञ्चज्ञानेन्द्रियों के सहित मन मनोमय कोश कहा जाता है। यह इच्छाशक्ति से युक्त करण-रूप होता है।
प्राणमय-कोशः	६५	पञ्च कर्मेन्द्रियों के सहित पञ्चप्राण मिलकर प्राणमय कोश कहे जाते हैं। यह कोश क्रियाशक्ति से युक्त कार्य-रूप होता

शब्द	पृ०सं०	व्याख्या
		है।
हिरण्यगर्भः	६८	'हिरण्यस्य हिरणमयस्याण्डस्य गर्भः हिरण्यगर्भः'। हैम अण्ड से उत्पन्न होने के कारण ही ब्रह्माजी का एक नाम हिरण्यगर्भ भी पड़ा। वह अण्ड भी इसी कारण से ब्रह्माण्ड कहा जाता है। भागवत, मनुस्मृति आदि के अनुसार परम पुरुष भगवान् नारायण के सङ्कल्प-मात्र से जल की उत्पत्ति हुई जिसमें उन्होंने शक्ति रूप बीज डाल दिया। यही बीज सुवर्णमय अण्ड बन गया जिसमें से समस्त लोकों के पितामह ब्रह्मा जी उत्पन्न हुये—'तस्मिन् जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोक-पितामहः।' ज्ञान-शक्ति से युक्त समष्टि-विज्ञानमय कोश ही हिरण्य अण्ड है, उससे उपहित या अवच्छिन्न चैतन्य ही हिरण्यगर्भ है। 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे' (ऋक्० १०।१२।२१), 'हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम्' (श्वेताश्व० ३।४) इत्यादि वेदमंत्र इसमें प्रमाण हैं।
प्राणः	६८	हिरण्यगर्भ का ही एक नाम 'प्राण' भी है। 'कतम एको देवः? प्राण इति' (बृ० ३।८।८), 'स ईक्षाञ्चक्रे- स प्राणमसृजत्' (प्रश्न० ६।३), 'तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते। अन्नात् प्राणः----' (मु० १।८।८) इत्यादि उपनिषच्छ्रुतियाँ इसमें प्रमाण हैं।
सूत्रात्मा	६८	समस्त व्यष्टि लिङ्गशरीरों में सूत्र के समान अनुस्यूत होने के कारण हिरण्यगर्भ को सूत्रात्मा भी कहा जाता है।
तैजसः	६९	व्यष्टि अर्थात् एक-एक सूक्ष्मशरीर से उपहित चैतन्य, उस शरीर में तेजोमय अन्तःकरण के वैशिष्टय के कारण, 'तैजस' कहलाता है।
स्थूलभूतानि/ महाभूतानि	७०	"स्थूलभूतानि तु पञ्चीकृतानि"।—वेदान्तसार, पृ० ७० अर्थात् पञ्चीकृतभूत 'स्थूलभूत'—महाभूत हो जाते हैं।
पञ्चीकरणम्	७१	"द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः। स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात् पञ्च पञ्च ते।।" —पञ्चदशी १।२७ पञ्चीकरण की प्रक्रिया से उत्पन्न महाभूत आकाश, वायु, तेजस्, जल और पृथिवी में प्रत्येक का भाग इस अनुपात में होगा—

शब्द	पृ०सं०	व्याख्या
		आकाश = १/२ आकाश + १/८ वायु + १/८ तेजस् + १/८ जल + १/८ पृथिवी। वायु = १/२ वायु + १/८ आकाश + १/८ तेजस् + १/८ जल + १/८ पृथिवी। तेजस् = १/२ तेजस् + १/८ आकाश + १/८ वायु + १/८ जल + १/८ पृथिवी। जल = १/२ जल + १/८ आकाश + १/८ वायु + १/८ तेजस् + १/८ पृथिवी। पृथिवी = १/२ पृथिवी + १/८ आकाश + १/८ वायु + १/८ तेजस् + १/८ जल।
त्रिवृत्करणम्	७२	छान्दोग्योपनिषद् के ६।३।२-३ सन्दर्भों में त्रिवृत्करण की चर्चा आई है, जो इस प्रकार है– "सेयं देवतैक्षत–हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" इति।।२।। तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणीति। सेयं देवता इमास्तिस्रो देवता अनेनैव जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत्।।३।।" इसका तात्पर्य इस प्रकार है–'सत्' नामक परमदेवता ने ईक्षण (सङ्कल्प, अभिध्यान) किया कि मैं जीवात्मा रूप से तीनों तेजस्, जल तथा अन्न अर्थात् पृथिवी नामक देवताओं में अनुप्रविष्ट होकर नाम और रूप की अभिव्यक्ति करूँ। उनमें से एक-एक देवता को त्रिवृत्-त्रिवृत् अर्थात् त्र्यात्मक करूँ। उस परम देवता ने इन तीनों देवताओं में जीव रूप से प्रवेश करके नाम और रूप की अभिव्यक्ति की'। इस त्रिवृत्करण-श्रुति से पञ्चीकरण लक्षित या ज्ञापित होता है।
वैश्वानरः/विराट्	७४	"एतत्समष्ट्युपहितं चैतन्य वैश्वानरो विराडित्युच्यते सर्वनराभिमानित्वाद् विविधं राजमानत्वाच्च"। –वेदान्तसार, पृ० ७४। अर्थात् स्थूल शरीरों की समष्टि से उपहित चैतन्य सभी नरों (प्राणियों) का अभिमानी होने से वैश्वानर, और विविध (देव, असुर, गन्धर्व, मनुष्य, पशु, कीट-पतङ्गादि तथा वन-नदी-समुद्र-पर्वतादि) रूपों में

शब्द	पृ०सं०	व्याख्या
		विराजमान होने से विराट् कहलाता है। स्थूल शरीरों की समष्टि इस वैश्वानर का शरीर है जो अन्न-विकार होने से, तथा उसका आच्छादक होने से 'अन्नमयकोश' कहा जाता है। स्थूल भोगों का आयतन होने से 'स्थूलशरीर' भी कहा जाता है। इन शब्दों की व्युत्पत्ति इस प्रकार है– (१) वैश्वानरः–विश्वे नरा इति विश्वानराः (ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च–अष्टा० ४।१।११४)। विश्वानर + अण् = वैश्वानरः। 'सर्वप्राणिनिकायेष्वहमित्यभिमानवत्त्वाद् वैश्वानरत्वम्'। (२) विराट्–वि + राज्धातु + कर्तरि क्विप्=विराज्+सु।
विश्वः	७५-७६	"एतद्व्यष्ट्युपहितं चैतन्यं विश्व इत्युच्यते।"–वेदान्तसार। इन स्थूल शरीरों की व्यष्टि अर्थात् एक-एक स्थूल शरीर में प्रविष्ट चैतन्य की 'विश्व' संज्ञा है।
अहङ्कार्यचैत्तान् (स्थूलविषयान्)	७७	अहङ्कार का कार्य किसी विषय या वस्तु का अभिमान करना, तथा चित्त का कार्य वस्तु या विषय का स्मरण या अनुसन्धान करना है। इस प्रकार इनके ये विषय क्रमशः 'अहङ्कार्य' और 'चैत्त' हुये। 'अहङ्कार्य' शब्द अहङ्कार से ण्यत् प्रत्यय, तथा 'चैत्त' शब्द चित्त से अण्प्रत्यय लगाने से बना है।
उपेन्द्रः	७७	भगवान् विष्णु वामन रूप से इन्द्र के छोटे भाई के रूप में माता अदिति और पिता प्रजापति कश्यप से उत्पन्न होने के कारण 'उपेन्द्र' नाम से विख्यात हुये। इसी कारण से 'इन्द्रावरज' नाम भी पड़ा।
चार्वाकः	८३	यह विशुद्ध भौतिकवादी विचारक है। यह केवल चार भूतों–पृथिवी, जल, तेजस् तथा वायु–की सत्ता मानता है क्योंकि ये ही चार प्रत्यक्ष हैं। प्रत्यक्ष के अतिरिक्त तो कोई प्रमाण चार्वाक मानता नहीं। फिर अनुमान के विषय 'आकाश' की उसके लिये कोई सत्ता नहीं है। आत्मा की सत्ता वह जरूर मानता है किन्तु उसका आत्मा दृश्यमान या प्रत्यक्ष स्थूल शरीर ही है, अन्य कुछ नहीं। शरीर में विद्यमान चेतना चारों भूतों का विकार या कार्य अतश्च अनित्य है। नित्य चेतना उसकी कल्पना से परे है। अतः

शब्द	पृ०सं०	व्याख्या
		चार्वाक अनित्यात्मवादी होने से परलोक में विश्वास न करने के कारण नास्तिक दार्शनिक है। आत्मा के अनित्य होने पर किसका परलोक-गमन होगा?
प्राभाकरः	८७	प्रभाकरानुयायी मीमांसक। प्राभाकरमीमांसा को 'गुरुमत' भी कहा जाता है।
तार्किकः	८७	तर्कशास्त्रानुयायी, नैयायिक।
भाट्टः	८७	कुमारिलभट्टानुयामी मीमांसक।
प्रत्यक्	९१	'आत्मा' शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि इत्यादि सभी की अपेक्षा आन्तरिक होने के कारण प्रत्यक्-सर्वान्तर—कहा जाता है। कठ० का "कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्व-मिच्छन्" (२।१।१) मंत्र इसमें प्रमाण है।
अपवादः	९६	सामान्य संस्कृत तथा लोकभाषा में 'अपवाद' का अर्थ अपयश, अपकीर्ति या निन्दा आदि होता है। व्याकरण इत्यादि शास्त्रों में व्यापक नियम 'उत्सर्ग' के विरुद्ध नियम-विशेष की 'अपवाद' संज्ञा है। किन्तु वेदान्त शास्त्र में अध्यारोप के निराकरण या निषेध को 'अपवाद' कहा जाता है—"अपवादो नाम रज्जुविवर्तस्य सर्पस्य रज्जुमात्रत्ववद् वस्तु-विवर्तस्यावस्तुनोऽज्ञानादेः प्रपञ्चस्य वस्तुमात्रत्वम्" (वेदान्तसार, पृ० ९६)।
विवर्तः	९६	'अतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विवर्त इत्युदाहृतः'। वितर्त, वस्तु का अतात्त्विक या अवास्तविक अन्यथा-प्रथन है। इसे ही वस्तु पर अवस्तु का 'अध्यारोप' भी कहते हैं। रज्जु की सर्पवत् अर्थात् सर्पाकार प्रतीति होने पर, प्रतीयमान सर्प अध्यारोप अर्थात् रज्जु का विवर्त है।
विकारः	९६	'सतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विकार इत्युदीरितः।' अर्थात् 'विकार' वस्तु का तात्त्विक (वास्तविक) अन्यथा-प्रथन या परिवर्तन है। जैसे दधि दुग्ध का विकार (परिणाम, परिवर्तन) है, विवर्त नहीं। क्योंकि दुग्ध का आकार, स्वाद, गुण—सभी कुछ वदल जाता है। स्वरूप का विना त्याग किये अन्यथा-प्रथन 'विवर्त' है, उसका त्याग करके अन्यथा-प्रथन 'विकार' है।
सतत्त्वतः	९६	उपर्युक्तस्थान में 'सतत्त्व' शब्द तत्त्व का ही वाचक है, अतः

शब्द	पृ०सं०	व्याख्या
		'सतत्त्वंत:' का अर्थ तत्त्वत:-वास्तविकरूप से—है। वस्तुत: 'स' ('सह' का समास-गत रूप) यहाँ निरर्थक है।
भोगायतनम्	९८	सुखदु:खादि का जिसमें भोग अर्थात् अनुभव होता है, उस शरीर को 'भोगायतन' कहते हैं। 'भोगायतन शरीरम्' यह लक्षण है शरीर का।
व्युत्क्रमेण	९८	'वैपरीत्येन, विपरीतक्रमेण'। 'उत्पत्तिव्युत्क्रमेण' अर्थात भूतों की उत्पत्ति के उल्टे क्रम से अपवाद की प्रक्रिया प्रवृत्त होती है।
महावाक्यानि	१०१	प्रधान महावाक्य वेदान्त में चार ही प्रसिद्ध हैं। कहीं-कही इनकी संख्या बारह बताई गई है। इन्हें महावाक्य इसलिये कहा जाता है, क्योंकि इनमें वेदान्त का सर्वोच्च ज्ञान निहित या कथित है। ऋग्वेदीय ऐतरेय आरण्यक का महावाक्य है—'प्रज्ञानं ब्रह्म' (५।३)। शुक्लयजुर्वेदीय बृहदारण्यकोपनिषद् का महावाक्य है—'अहं ब्रह्मास्मि' (१।४।१०)। सामवेदीय छान्दोग्योपनिषद् का महावाक्य है—'तत् त्वमसि' (६।८।७)। अथर्ववेदीय माण्डूक्योपनिषद् का महावाक्य है—'अयमात्मा ब्रह्म' (मन्त्र २)। इनमें भी 'तत् त्वमसि' तथा 'अहं ब्रह्मास्मि' विद्वानों को सर्वाधिक प्रिय हुये क्योंकि इनमें वेदान्त दर्शन के सर्वोच्च सत्य 'जीव-ब्रह्मैक्य' का साक्षात् कथन किया गया है। इनमें 'तत् त्वमसि' उपदेश-वाक्य है और 'अहं ब्रह्मास्मि' स्वानुभव-वाक्य।
अखण्डार्थः	१०१	वेदान्त का निष्कल-निरञ्जन-निर्गुण ब्रह्म स्वगत, स्वजातीय एवं विजातीय भेदों से रहित होने के कारण अखण्ड अर्थ कहा जाता है। प्रधानतया उक्त तीन ही भेद सम्भव हैं। शाखा, पत्र, मूल आदि होने से वृक्ष स्वगत भेद वाला है। फिर वृक्ष-जाति में ही आम, आमलक, जामुन आदि अनेक प्रकार के वृक्ष होने से, यह जातीय भेद वाला भी है। वृक्ष-जाति से भी भिन्न ढेर सारी मनुष्य, पशु, पक्षी इत्यादि जातियाँ भी हैं। अत: आम, आमलक या अन्य कोई भी वृक्ष विजातीय भेद वाला भी है। ब्रह्म स्वगत् भेद से रहित है, क्योंकि वह शुद्ध चैतन्य मात्र होने से माया एवं उसके कार्यों

शब्द	पृ०सं०	व्याख्या
		से असम्पृक्त है। उसके अतिरिक्त कोई और चेतन तत्त्व है ही नहीं जिससे उसका सजातीय भेद हो। चेतन जीव तो उससे अभिन्न है। उससे भिन्न कोई विजातीय तत्त्व भी नहीं है जिससे उसका भेद कहा जाय। तथा-कथित अचेतन (जड़) अज्ञान और उसका कार्य-भूत सारा प्रपञ्च ब्रह्म से अभिन्न-अपृथक् सिद्ध किया जा चुका है। इस प्रकार सभी प्रकार के भेदों से रहित होने के कारण ब्रह्म भेद-रहित, खण्ड-रहित अर्थात् अखण्ड अर्थ—तत्त्व—है।
सामानाधिकरण्यम्	१०३	समान विभक्ति वाले दो पदों का एक ही अर्थ के लिये प्रयुक्त होना, एक ही अर्थ से उनका तात्पर्य होना, 'सामानाधिकरण्य' है—'समानविभक्त्यन्तयोः पदयोरेकस्मिन्नर्थे तात्पर्यम्' (आपदेव), 'भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तयोः शब्दयोरेकस्मिन्नर्थे प्रवृत्तिः सामानाधिकरण्यम्' (नृसिंह सरस्वती)। जैसे—'रक्तो घटः' में 'रक्तः' शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त है 'रक्तत्व', और 'घटः' शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त है 'घटत्व'। इन दोनों ही शब्दों का 'घट' रूप एक ही अर्थ के लिये प्रयोग होने से, दोनों का सामानाधिकरण्य हुआ। एक ही अर्थ के लिये प्रयुक्त होने पर दोनों शब्दों में एक ही विभक्ति हुयी। एक ही विभक्ति—समान ही अधिकरण—में होना सामानाधिकरण्य (समानविभक्तिकता) है।
परोक्षत्वादिविशिष्ट-चैतन्यम्	१०३	वह चैतन्य जो प्रत्यक्ष न हो, परोक्ष-सर्वज्ञ-सर्वव्यापक एवं सर्वनियामक हो। ऐसा चैतन्य ईश्वर, परमात्मा आदि नामों से बोधित होता है।
अपरोक्षत्वादिवि-शिष्टचैतन्यम्	१०३	वह चैतन्य जो अपरोक्ष-नियम्य-अल्पज्ञ हो। ऐसा चैतन्य 'जीवात्मा' नाम से बोधित होता है। प्रत्येक जीव को 'स्व' का अनुभव स्वतः अर्थात् बिना किसी साधन के होता रहता है। इसलिये उसे 'अपरोक्ष' कहा जाता है। यों, जो परोक्ष न हो, वह प्रत्यक्ष ही हुआ। किन्तु 'प्रत्यक्ष' के स्थान में 'अपरोक्ष' कहे जाने का कारण यह है कि प्रत्यक्ष ज्ञान में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष अनिवार्य रूप से अपेक्षित होता है, जब कि जीव को 'स्व' का अनुभव स्वतः अर्थात् इन्द्रियों की

शब्द	पृ०सं०	व्याख्या
		सहायता के विना ही प्रतिक्षण होता रहता है। इस प्रकार इसे 'प्रत्यक्ष' नहीं कहा जा सकता, और अनुभव होते रहने से 'परोक्ष' तो कहा ही नहीं जा सकता है। इसी कारण से इसे 'अपरोक्ष' कहा गया। अपरोक्ष के अतिरिक्त जीव अल्पज्ञ है, नियम्य है, एवं सुख-दुःखादि का भोक्ता है।
भागलक्षणा	१०५	लक्षणा तीन प्रकार की मानी गई है—जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा एवं जहदजहल्लक्षणा। इसी तृतीय लक्षणा को 'भागलक्षणा' भी कहा जाता है। मुख्यार्थ या वाच्यार्थ का वाध होने पर उससे युक्त अर्थान्तर का ग्रहण जिस शक्ति से होता है, उसे शब्द की 'लक्षणा' शक्ति कहा जाता है। वाच्यार्थ का पूर्णरूप से परित्याग होने पर उससे सम्बद्ध दूसरे अर्थ का बोध कराने वाली शब्द-शक्ति या शब्द-व्यापार (शब्द-वृत्ति) को 'जहल्लक्षणा' कहा जाता है। 'जहती चासौ लक्षणाचेति जहल्लक्षणा' अर्थात् वाच्यार्थ का पूर्ण रूप से परित्याग करने वाली लक्षणा। इसका प्रसिद्ध उदाहरण 'गङ्गायां घोषः' है। इसमें 'गङ्गा' शब्द अपने 'प्रवाह' रूप मुख्यार्थ का बाध हो जाने पर उसका परित्याग करके, उससे सम्बद्ध 'गङ्गातट' रूप अर्थान्तर का बोध कराता है। गङ्गा की धारा या उसका प्रवाह घोष या बस्ती का आधार तो हो नहीं सकता, इसी से उसका बाध होने के कारण परित्याग हो जाता है। तदनन्तर गङ्गा से सम्बद्ध गङ्गातट रूप अर्थ लिया जाता है। जिससे घोष का आधार बनने में उत्पन्न असङ्गति दूर हो जाती है। अजहल्लक्षणा मे वाच्यार्थ का विना परित्याग किये, उससे सम्बद्ध अर्थ का बोध ग्रहण होता है। इसे उपादान लक्षणा भी कहा जाता है, क्योंकि वाच्यार्थ से अतिरिक्त अर्थ का उपादान अर्थात् ग्रहण इस लक्षणा द्वारा किया जाता है। इसके प्रसिद्ध उदाहरण 'कुन्ताः प्रविशन्ति', 'शोणो धावति' इत्यादि हैं। 'कुन्ताः' का अर्थ 'कुन्तधारिणः' इसलिये लेना पड़ता है क्योंकि कुन्त अर्थात् भालों का स्वतः प्रवेश तो असम्भव अतश्च असंगत है। इसी प्रकार 'शोणः' का अर्थ लाल घोड़ा इसलिये लेना पड़ता है क्योंकि 'लाल

शब्द	पृ०सं०	व्याख्या
		रंग' का 'दौड़ना' क्रिया से सम्वन्ध नहीं बनता। तीसरी लक्षणा 'जहदजहत्' या 'भागलक्षणा' इसलिये कही जाती है क्योंकि इसमें वाच्यार्थ का अंशत: ही त्याग होता है, पूर्णतया नहीं। 'भागलक्षणा' भागत्याग लक्षणा का संक्षिप्त नाम समझा जाना चाहिये क्योंकि इसमें एक भाग या अंश का ही त्याग किया जाता है। पूर्ण अर्थ के एक भाग का ग्रहण करने से भी इसका 'भागलक्षणा' नाम माना जा सकता है। तब इस नाम का विग्रह 'भागे लक्षणेति भागलक्षणा' करना होगा।
अथ	११६	'मङ्गलान्तरारम्भप्रश्नकात्स्न्र्येष्वथो अथ' (अमरकोश, तृतीय काण्ड) के अनुसार 'अथ' और 'अथो' अव्यय-शब्द मङ्गल, अनन्तर, प्रारम्भ, प्रश्न एवं कात्स्न्र्य अर्थात् पूर्णता—इन पाँच अर्थों में प्रयुक्त होते हैं। प्रस्तुत सन्दर्भ में 'अथ' शब्द 'अनन्तर' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।
शुद्ध (ब्रह्म)	११६	अविद्यादि दोषों से रहित ब्रह्म।
बुद्ध ,,	११६	प्रकाश-स्वरूप, जडत्वादि से रहित।
मुक्त ,,	११६	समस्तोपाधि-शून्य।
सत्य ,,	११६	अविनाशी।
परमानन्द (ब्रह्म)	११६	समस्त जागतिक या लौकिक आनन्दों से विलक्षण एवं निरतिशयानन्द-स्वरूप।
अनन्त ,,	११६	देश, काल तथा वस्तु की दृष्टि से अपरिच्छिन्न।
अद्वय ,,	११६	द्वित्व अर्थात् अनेकत्व से रहित अर्थात् एक।
अखण्डाकाराकारिता	११६	चित्त, अर्थात् अन्त:करण की 'मैं ब्रह्म हूँ' इस रूप में अखण्ड
चित्त-वृत्तिः	११६	ब्रह्म के आकार अर्थात् स्वरूप से आकारित (स्वरूप को धारण करने वाली) वृत्ति।
चित्प्रतिबिम्बसहिता	११६	चित्तवृत्ति में चिदात्मा का जो प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसे 'चिदाभास' कहा जाता है। चित्तवृत्ति में प्रतिफलित होने के कारण उसकी 'फल' संज्ञा भी है। चिदाभास या फल से युक्त होने के कारण ही चित्तवृत्ति वस्तु-विषयक अज्ञान का विनाश करके, उस वस्तु को प्रकाशित करने में समर्थ होती है, अन्यथा जड़ होने के कारण उससे वस्तु-प्रकाशन रूप कार्य कथमपि सम्भव न होता।

शव्द	पृ०सं०	व्याख्या
अज्ञातम् (ब्रह्म)	११६	प्रमेय, उपदेशवाक्यजनित चित्तवृत्ति का विषय। जो अज्ञात होता है, वही ज्ञान या प्रमा का विषय वनता है, एवं उस कारण से 'प्रमेय' या ज्ञेय कहा जाता है।
वृत्तिव्याप्यत्वम्	१२०	चित्त या अन्तःकरण की वृत्ति का विषय होना, उससे व्याप्त होना।
फलव्याप्यत्वम्	१२०	चित्त के वस्त्वाकार रूप से परिणत हो जाने पर, उसमें प्रतिविम्वित चैतन्य 'चिदाभास' है, उसमें प्रतिफलित होने से वह 'फल' भी है। इसी 'चिदाभास' या 'फल' के द्वारा वस्तु का प्रकाशित होना फलव्याप्यत्व है। यह लौकिक वस्तुओं के सम्वन्ध में ही सत्य है, व्रह्म के सम्वन्ध में नहीं। चिन्मात्र व्रह्म को प्रकाशित करने की सामर्थ्य 'चिदाभास' या 'फल' में कहाँ है? इसी से उसका वृत्तिव्याप्यत्व स्वीकार्य होने पर भी, उसका फलव्याप्यत्व शाङ्करवेदान्त में अस्वीकार्य या अमान्य है। इसके विपरीत लौकिक वस्तुओं में दोनों ही मान्य हैं—वृत्ति से वस्तु-विषयक अज्ञान का नाश, तथा तत्फलित 'फल' या चिदाभास से वस्तु का प्रकाशन।
श्रवणम्	१२४	सम्पूर्ण वेदान्त-वाक्यों का अद्वितीय व्रह्म के प्रतिपादन में तात्पर्य—तत्परत्व—है, इस तथ्य का षड्विध लिङ्गों से निश्चय करना 'श्रवण' है।
षड्विधलिङ्गानि	१२४	लीन अर्थात् अप्रकट अर्थ के गमक या अनुमापक को 'लिङ्ग' कहते हैं। श्रवण-विषयक छः लिङ्ग (१) उपक्रम और उपसंहार, (२) अभ्यास, (३) अपूर्वता, (४) फल, (५) अर्थवाद, तथा (६) उपपत्ति हैं।
उपक्रमोपसंहारौ	१२५	किसी प्रकरण के प्रतिपाद्य अर्थ का उसके आदि तथा अन्त में उपपादन।
अभ्यासः	१२५	प्रकरण-प्रतिपाद्य वस्तु का, उसके मध्य में पुनः-पुनः प्रतिपादन। 'तत्त्वमसि' का नौ वार प्रतिपादन छान्दोग्य के छठें अध्याय में किया गया है।
अपूर्वता	१२५	प्रकरण-प्रतिपाद्य वस्तु का श्रुत्यतिरिक्त किसी भी अन्य प्रमाण के द्वारा विषय न वनाया जाना, केवल श्रुति का विषय होना।
फलम्	१२५	प्रयोजन। प्रकरण-प्रतिपाद्य आत्मज्ञान अथवा आत्मज्ञान के

शब्द	पृ०सं०	व्याख्या
		लिये किये जाने वाले साधनानुष्ठान का प्रयोजन 'फल' है।
अर्थवाद:	१२५	प्रकरण के प्रतिपाद्य विषय की उसमें स्थान-स्थान पर प्रशंसा।
उपपत्तिः	१२५	प्रकरण के द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ की सिद्धि के लिये स्थान-स्थान पर दी गई युक्ति।
मननम्	१२८	"मननं तु श्रुतस्याद्वितीयवस्तुनो वेदान्तानुगुणयुक्तिभिरनवरतमनुचिन्तनम्" (वेदान्तसार)। अर्थात् जिसका श्रवण किया गया, उस अद्वितीय वस्तु 'ब्रह्म' का वेदान्त के अनुकूल तर्कों अथवा युक्तियों द्वारा निरन्तर चिन्तन करना ही 'मनन' है।
निदिध्यासनम्	१२८	'विजातीयदेहादिप्रत्ययरहिताद्वितीयवस्तुसजातीयप्रत्ययप्रवाहो निदिध्यासनम्"। (वेदान्तसार) अर्थात् विजातीय-देहादि-विषयक विचारों से रहित मन में अद्वितीय वस्तु 'ब्रह्म' के सजातीय विचारों को प्रवाहित करना 'निदिध्यासन' है।
समाधिः	१२८	ब्रह्म में चित्त के सम्यक् आधान अर्थात् अवस्थान को समाधि कहते हैं।
सविकल्पकसमाधिः	१२८	"सविकल्पको नाम ज्ञातृज्ञानादिविकल्पलयानपेक्षयाऽद्वितीयवस्तुनि तदाकाराकारितायाश्चित्तवृत्तेरवस्थानम्"। (वेदान्तसार) अर्थात् ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय विकल्पों के विलय (समाप्ति) की विना अपेक्षा किये, अद्वितीय वस्तु 'ब्रह्म' का आकार धारण करने वाली चित्त-वृत्ति का उसमें अवस्थान अर्थात् ठहराव या स्थिरता 'सविकल्पक समाधि' है। उस समय, ज्ञातृ-ज्ञेयादि द्वैत की प्रतीति होने पर भी उनमें वस्तुत: अद्वैत ब्रह्म की प्रतीति उसी प्रकार होती है, जिस प्रकार मिट्टी के बने हाथी इत्यादि (खिलौनों) में हाथी की प्रतीति होने पर भी, उनमें मिट्टी की ही प्रतीति इस रूप में होती रहती है कि ये हाथी इत्यादि तो वस्तुत: मिट्टी ही हैं।
दृशिस्वरूपम्	१२८	चैतन्यघन, चित्स्वरूप।
सकृद्विभातम्	१२८	सर्वदा एक रूप से भासमान, चन्द्रादि की तरह वृद्धि-क्षय स्वभाव वाला नहीं।

शब्द	पृ०सं०	व्याख्या
गमनोपमम्	१२८	'आकाशवत् सर्वगतश्च' इत्यादि श्रुति के अनुसार, गगनोपम अर्थात् सर्व-व्यापक। अथवा 'आकाशशरीरं ब्रह्म' (तैत्ति० १।६।२) श्रुतिवचनानुसार 'गगनोपमम्' का अर्थ है—आकाश के समान अमूर्त स्वरूप।
अलेपकम्	१२८	निर्लिप्त, असङ्ग, अविद्यादि दोषों से रहित।
सर्वगतम्	१२८	सर्व-व्यापक।
विमुक्तम्	१२८	कार्यकारणात्मक सभी उपाधियों से रहित।
निर्विकल्पक-समाधिः	१३२	"ज्ञातृज्ञानादिविकल्पलयापेक्षयाऽद्वितीयवस्तुनि तदाकाराकारितायाश्चित्तवृत्तेरतितरामेकीभावेनावस्थानम्"। (वेदान्तसार) अर्थात् ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय विकल्पों के विलीन हो जाने की अपेक्षा से अद्वितीय वस्तु (ब्रह्म) में, उसके आकार से आकारित चित्तवृत्ति का आत्यन्तिक एकीभाव रूप से स्थित हो जाना 'निर्विकल्पक समाधि' है। जैसे जल में घुल जाने पर उसके साथ सर्वथा एकरूप हो गये नमक का भान नहीं होता, वैसे ही ब्रह्म के आकार से आकारित अर्थात् उससे एकरूप हुई चित्तवृत्ति का भान नहीं होता, केवल ब्रह्म का भान होता है।
समाध्यङ्गानि	१३४	निर्विकल्पक समाधि के आठ अङ्ग—यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधि।
यमाः	१३४	यम् (उपरमे) धातु से 'यमः समुपनिविषु च' (अष्टा० ३।३।६३) सूत्र से अप्प्रत्यय लगने पर निष्पन्न हुआ है (भट्टोजि दीक्षित)। अच् प्रत्यय लगने से 'यम' शब्द निष्पन्न हुआ, ऐसा माधवाचार्य (माधवीयधातुवृत्तिकार) मानते हैं। यम पाँच हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय (अचौर्य), ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह (किसी भी वस्तु का सञ्चय न करना)। "अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः" (योग० २।२६)।
नियमाः	१३४	'शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः' (योग० २।३२)। 'यम' यावज्जीवन किया जाने वाला नित्य कर्म है, जबकि नियम नित्यानित्य है। द्विविध शौचों में से बाह्य शौच तो स्पष्ट ही हेतु-विशेष से कभी-कभी किया जाने वाला कादाचित्क या अनित्य कर्म है। इसी प्रकार कृच्छ, चान्द्रायण इत्यादि व्रत रूप तप भी हेतु-विशेष से ही समय-

शब्द	पृ०सं०	व्याख्या
		विशेष पर किये जाने वाले अनित्य कर्म हैं। शेष तीन–सन्तोष, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान, तथा आन्तरिक शौच अर्थात् चित्तमलों का आक्षालन तो नित्य ही करणीय होने से कादाचित्क नहीं कहे जा सकते।
आसनम्	१३४	'स्थिरसुखमासनम्'–ऐसा पतञ्जलि ने अपने योगसूत्र (२।४६) में कहा है। इसका अर्थ है–'स्थिरं च तत् सुखं चेति'। अर्थात् जो निश्चल-अविचल होने के साथ ही सुखकर भी हो।
प्राणायामः	१३४	पतञ्जलि ने योगसूत्र २।४९ में इसका लक्षण इस प्रकार दिया है–"तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।" अर्थात् आसन के सिद्ध हो जाने पर, बाहर से भीतर खींची जाने वाली श्वास-वायु, एवं अन्दर से बाहर निकाली जाने वाली प्रश्वास वायु की स्वाभाविक गति का विच्छेद–नियमन–प्राणायाम है।
प्रत्याहारः	१३४	इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों से हटकर चित्त के स्वरूप का सा हो जाना प्रत्याहार है, जैसा कि पतञ्जलि ने योग-सूत्र "स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः" (२।५४) में कहा है।
धारणा	१३४	"देशबन्धश्चित्तस्य धारणा" (३।१), इस योगसूत्र, एवं इसके भाष्य के अनुसार नाभिचक्र, हृत्पुण्डरीक, शीर्षज्योति, नासिकाग्र इत्यादि आन्तरिक (देहान्तर्गत), अथवा देवमूर्ति इत्यादि बाह्य देश (स्थान) में चित्त को सात्त्विक वृत्ति द्वारा बाँधना 'धारणा' है। शङ्कराचार्य के अनुसार "यत्र यत्र मनो याति ब्रह्मणस्तत्र दर्शनात्। मनसो धारणं चैव धारणा सा परा मता।" (अपरोक्षानुभूति, श्लो० १२३) अर्थात् मन का सर्वत्र ब्रह्म को ही देखना, एवं उसी में स्थिर हो जाना सर्वोत्तम धारणा है। इसी के अनुरूप सदानन्द का "अद्वितीये वस्तुन्यन्तरिन्द्रियधारणं धारणा" लक्षण भी है।
ध्यानम्	१३४	योगदर्शन में, चित्तवृत्ति का अद्वितीय ब्रह्म में तैलधारावत् प्रवाहित होना 'ध्यान' है–"तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्" (योग० ३।२)। वेदान्तसार में इससे थोड़ा भिन्न लक्षण किया गया है–"अद्वितीयवस्तुनि विच्छिद्य विच्छिद्यान्तरिन्द्रियवृत्तिप्रवाहो ध्यानम्" (वेदान्तसार)।

शब्द	पृ०सं०	व्याख्या
		अर्थात् चित्तवृत्ति का रुक-रुक कर प्रवाहित होना 'ध्यान' है। योगसूत्रोक्त 'ध्यान' सविकल्पक समाधि के अनुरूप प्रतीत होता है।
समाधिः	१३४	योग रूप निर्विकल्पक समाधि के आठ अङ्गों में से अन्तिम आठवाँ अङ्ग—सविकल्पक-समाधि—ही इस 'समाधि' शब्द से गृहीत है। इसकी व्याख्या इसके पूर्व की जा चुकी है।
निर्विकल्पकविघ्नाः	१४३	निर्विकल्पक समाधि के अभ्यास-काल में उत्पन्न होने वाले आन्तरिक विघ्न। ये चार हैं—लय, विक्षेप, रसास्वादन एवं कषाय।
लयः	१४३	अखण्ड वस्तु का अवलम्बन न करने से चित्तवृत्ति का सो जाना 'लय' है।
विक्षेपः	१४३	वस्तु का अवलम्बन न करने के कारण, चित्तवृत्ति का अन्य वस्तुओं का अवलम्बन करना 'विक्षेप' है।
कषायः	१४३	लय तथा विक्षेप न होने पर भी रागादि वासनाओं के कारण चित्तवृत्ति के स्तब्ध हो जाने से, उसका अखण्ड वस्तु का अवलम्बन न करना 'कषाय' है।
रसास्वादनम्	१४३	अखण्ड ब्रह्म के अवलम्बन के अभाव में, चित्तवृत्ति का सविकल्पक समाधि में ही रस लेने लगना, उसके आनन्द का आस्वादन करने लगना 'रसास्वादन' है। चारों विघ्नों के अभाव में योगी का अखण्ड चैतन्य रूप से अवस्थित चित्त निवातस्थ दीप की निष्कम्प-निश्चल ज्योति (लौ) की भाँति जाज्वल्यमान प्रकाश रूप से स्थित रहता है।
जीवन्मुक्तः	१४८	'जीवन्मुक्त' उस ब्रह्मनिष्ठ योगी को कहते हैं जो अपने स्वरूपभूत अखण्ड ब्रह्म के साक्षात्कारात्मक ज्ञान से अज्ञान एवं उसके समस्त कार्यों—सञ्चित कर्म, संशय, विपर्यय आदि—के बाधित हो जाने पर सम्पूर्ण बन्धनों से रहित हो गया है। "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥" श्रुति-वचन में जीवन्मुक्त का ही वर्णन है।
सञ्चितकर्म	१४८	ज्ञानोत्पत्ति से पूर्व अज्ञानावस्था में किये गये अभुक्त (अर्थात् न भोगे गये) कर्मों का नाम 'सञ्चितकर्म' है।
संशयः	१४८	देहादि से भिन्न शुद्ध चैतन्य रूप आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में विचिकित्सा या संदेह होना, अथवा ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञान से

शब्द	पृ०सं०	व्याख्या
		मोक्ष होता है या नहीं—ऐसी विकल्प-बुद्धि का होना 'संशय' है।
विपर्यय:	१४८	आत्मभिन्न देहेन्द्रियादि में आत्मबुद्धि का होना 'विपर्यय' अर्थात् विपरीत ज्ञान या भ्रम है।
क्रियमाणकर्म	१५१	क्रियमाण कर्म वे हैं जिन्हें व्यक्ति पूर्व वासनाओं से प्रेरित होकर इस जन्म में करता है, या कर रहा है। जीवन्मुक्त के सञ्चित कर्मों के बाध की जो बात ग्रन्थ में कही गई है, उनमें क्रियमाण कर्मों का भी अन्तर्भाव समझना चाहिये, क्योंकि ज्ञानोदय के पूर्व किये गये सारे क्रियमाण कर्म सद्य: फल न देने के कारण 'सञ्चित' की कोटि में आ जाते हैं। ज्ञानोत्तरकाल में होने वाले कर्म तो कर्तव्य-बुद्धि के न होने से स्वत: बाधित हो जाते हैं, 'क्रियमाण' बनते ही नहीं।
प्रारब्ध-कर्म	१५१	'प्रारब्ध' कर्म वे हैं जिनके फलस्वरूप वर्तमान शरीर तथा उसमें होने वाले भोग प्राप्त हैं। ज्ञान से प्रारब्ध का नाश नहीं होता, उसे भोगना ही पड़ता है। भोग के अतिरिक्त कोई साधन नहीं है जिससे उसकी समाप्ति, उसका क्षय हो सके।
व्युत्थान-समये	१५१	समाधि से उठने के अनन्तर, समाधि टूटने पर।
अशनाया	१५१	बुभुक्षा, भूख।
पिपासा	१५१	प्यास।
अद्वैतसतत्त्वम्	१५४	अद्वितीय आत्मा का तत्त्व या स्वरूप।
अशुचिभक्षणे	१५४	अपवित्र-अभक्ष्य पदार्थ के भक्षण में।
ब्रह्मवित्त्वम्	१५४	ब्रह्मज्ञता, ब्रह्मज्ञ या ब्रह्मवेत्ता होने का भाव।
आरब्धफलानि	१५७	'प्रारब्ध' (कर्म) के सुखदु:खादि फलों को।
परमकैवल्यम्	१५७	विदेहमुक्ति, जो देह-बन्धन के क्षय के कारण जीवन्मुक्ति से भी परम या उत्कृष्ट है।
आनन्दैकरसम्	१५७	विशुद्ध—अमिश्रित—आनन्द ही एकमात्र रस है जिसमें, वह परमकैवल्य अर्थात् विदेहमुक्ति।
विमुक्तश्च विमुच्यते	१५७	अविद्या एवं तत्कृत कामकर्मादि बन्धनों से विमुक्त हो चुका अर्थात् जीवन्मुक्त योगी (ब्रह्मनिष्ठ) देह-बन्धन से भी मुक्त हो जाता है, विदेहमुक्ति प्राप्त कर लेता है।

●●●